अमिट कालरेखा

आचार्य शङ्कर की प्रव्रज्या के पच्चीस सौ वर्ष

(वितण्डावादी मत खण्डन)

परमेश्वरनाथ मिश्र

अमिट कालरेखा

आचार्य शङ्कर
की प्रव्रज्या के पच्चीस सौ वर्ष

(वितण्डावादी मत खण्डन)

अरुण कुमार उपाध्याय
पुरी 27.6.13

लेखक

श्री परमेश्वर नाथ मिश्र 'अधिवक्ता'
उच्चन्यायालय, कलकत्ता
एवम्
उच्चतम न्यायालय, भारत
26456669
9830035065

प्रकाशक
शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद्

प्रकाशकीय

उपनिषद् युग में याज्ञवल्क्य, जनक जैसे महान् दार्शनिकों ने सनातनधर्म के जिस परम्परागत ज्ञान वैभव का उपयोग कर जीवन के सत्य का अन्वेषण किया था वही ज्ञान वैभव कालान्तर में वेदान्त दर्शन का मूलमन्त्र बना जिसके ओजस्वी व्याख्याकार और प्रचारक के रूप में आचार्य शङ्कर आज भी सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हैं ।

आचार्य शङ्कर के द्वारा रचित प्रस्थानत्रयी भाष्य, अनेक प्रकरणग्रन्थ, विविध स्तोत्र, साहित्य आदि का परिशीलन करने से पता चलता है कि उनकी देदीप्यमान न्यायतर्कयुक्त सहज स्पष्ट और सशक्त व्याख्या शैली ने मानवमात्र की विचारधारा को नवजीवन प्रदान किया है । ऐसे महामानव के व्यक्तित्व, कृतित्व और स्थितिकाल को न जानना सम्भवतः स्वयं से स्वयं का अपरिचय होगा ।

आश्चर्यमिश्रित दुःख तो इस बात का है कि असंदिग्ध कार्यशैली वाले इस महापुरुष के जीवनकाल के बारे में आज भी संदेह उत्पन्न करने की कोशिशें की जा रही हैं । सम्भवतः यह उसी कुटिल चिन्तनधारा की देन है जिसमें हमारे गौरवबिन्दुओं के बारे में संदेह उत्पन्न कर हमारे आत्मबल को नुकसान पहुँचाने की रणनीति रहती है । हमारा दुःख तब और बढ़ जाता है जब इस कुटिल रणनीति में हमारे दिग्गज धर्मरक्षक फँस जाते हैं और वही राग अलापने लगते हैं ।

आज से लगभग 1 वर्ष पूर्व जब श्रीशङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति संरक्षक परिषद् के अध्यक्ष श्री परमेश्वरनाथ मिश्र ने उन भ्रमित विद्वानों के भ्रमापनोदन समर्थ एक लेख "अमिट कालरेखा-आचार्य शङ्कर की प्रव्रज्या के पच्चीस सौ वर्ष (अर्वाचीन मत खण्डन)" लिखा तो पूरे देश के विद्वानों ने उसका स्वागत किया लेकिन स्वामी काशिकानन्द गिरि जो कुटिल रणनीति के शिकारों के मुखिया हैं, को अपना अस्तित्व बचाने की चिन्ता हुई । उन्होंने 89 पृष्ठ का एक लेख "भाष्यकार आचार्य शंकरभगवत्पाद का आविर्भाव समय" नाम से लिखा भी, लेकिन उनका यह प्रयास उनके अस्तित्व को बचाने के बजाय उनके जीवन की बनी बनाई विद्वत्ता की छवि को ध्वस्त करने वाला साबित हुआ । उसी लेख की हवा निकालता यह सूचीमुख कुशाग्र लेख प्रस्तुत है ।

भवदीय

सचिव

शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद्

लेखक का संक्षिप्त परिचय

धर्मसंघ प्रकाशन मेरठ द्वारा प्रकाशित
'आद्यश्रीशङ्कराचार्य - कालनिर्णय' पुस्तक से

धर्मसंघ प्रकाशन ने विचार किया कि भगवान् शङ्कराचार्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में भी आधुनिक विचारकों ने महती त्रुटियाँ की हैं जिससे सब कुछ ईसाई धर्म के आगे पीछे लगाने की प्रवृत्ति बन गयी है । इधर कुछ मनीषीगण अध्येता-विचारक लोगों के अन्तःकरण को भगवत्पाद ने आन्दोलित किया तब इस क्षेत्र में भी कुछ सरसराहट की सी अनुभूति हुयी । कलकत्ता निवासी श्री परमेश्वरनाथ मिश्र जी जैसे विद्वान् इस ओर प्रयासरत हैं । सभी महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं एवं अन्य काल सम्बन्धी प्रमाणों का गहन गम्भीर अध्ययन करने वाले श्री पं. परमेश्वरनाथ मिश्र जी से '**श्री शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति संरक्षक परिषद्**' ने साग्रह एतद् विषयक एक ग्रन्थ लिखने का निवेदन किया जो उन्होंने कठिन परिश्रम एवं विभिन्न ग्रन्थानुसन्धानोपरान्त पूर्ण कर लिया है परन्तु वह शोधपूर्ण ग्रन्थ अभी प्रकाश्य है । उसी प्रकाश्य बृहद् ग्रन्थ से कतिपय महत्वपूर्ण बिन्दुओं का संकलन कर आपने उक्त परिषद् को सौंपकर बड़ा उपकार किया है । '**शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद्**' द्वारा पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों का सार-संक्षेप देकर तुलनात्मक सामग्री 'अमिटकाल रेखा-अर्वाचीन मत खण्डन' नामक एक पुस्तक में प्रकाशित की गई है । इसमें 21 बिन्दुओं पर विचार किया गया है साथ ही - काल निर्णय, राजासुधन्वा की राजवंशावली तथा उनकी ताम्रपत्र-विज्ञप्ति, श्रीशारदापीठ-द्वारका की आचार्यावली, श्रीगोवर्धनपीठ-पुरी की आचार्यावली, श्रीज्योतिष्पीठ-बदरिकाश्रम की आचार्यावली और श्रीशृङ्गेरीपीठ से सम्बन्धित तीनों परम्पराओं की आचार्यावलियाँ परिशिष्ट के रूप में दी गई हैं ।

श्री मिश्र जी ने मार्गशीर्ष शुक्ल 6 विक्रम संवत् 2016 में तत्कालीन वाराणसी जनपद के गोपीगंज थानान्तर्गत वराहीपुर ग्राम में शाण्डिल्य गोत्रीय मिश्रवंश में श्री पं. विश्वनाथ मिश्र एवं श्रीमती शारदादेवी मिश्र के गृह में जन्म लिया । प्रयाग विश्वविद्यालय तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से श्री मिश्रजी ने उच्च शिक्षा प्राप्त की । श्री मिश्र जी सम्प्रति कलकत्ता उच्चन्यायालय एवं उच्चतम न्यायालय भारत में अधिवक्ता के रूप में विधि व्यवसाय में निरत हैं । धर्म, दर्शन, इतिहास का आपने गहन गम्भीर

अध्ययन किया है; विधि सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त राजनीति, इतिहास, दर्शन एवम् धर्म से सम्बन्धित पुस्तकों का विशाल ग्रन्थागार श्री मिश्रजी के पास है जिसमें सहस्त्रों पुस्तकें सुरक्षित हैं । अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियों से युक्त मिश्रजी का यह ग्रन्थागार ही उनके गहन, व्यापक, शोधपूर्ण अध्ययन का द्योतक है ।

सुबुद्ध निष्पक्ष विचारक उक्त पुस्तक का स्वयं अवलोकन कर सत्य का निर्धारण करें और श्रीयुत मिश्रजी द्वारा आद्य श्री शङ्कराचार्य जी के आविर्भावकाल सम्बन्धी लिखित बृहद् ग्रन्थ की प्रतीक्षा कर धैर्य रखें । हम आशा करते हैं कि यथाशीघ्र उपर्युक्त शोधग्रन्थ अध्येताओं के हाथों में होगा ।

श्रीश्यामसुन्दर वाजपेयी
अध्यक्ष धर्मसंघ प्रकाशन, मेरठ

श्री मुरारीलाल शर्मा
अध्यक्ष धर्मसंघ, मेरठ

श्री कृष्ण प्रसाद शर्मा

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं उस अद्वितीय अदृश्य सत्ता के प्रति अति विनम्रभाव से अपनी कृतज्ञता का प्रकाश करता हूँ जिसने मुझे शिवावतार भगवत्पाद भाष्यकार श्रीमदादि शङ्कराचार्य के 'आविर्भाव काल' के निर्धारण हेतु न केवल प्रेरित किया वरन् पग-पग पर मुझे शक्ति, धैर्य एवम् ज्ञान प्रदान कर उसे सम्पन्न करने का श्रेय भी प्रदान किया ।

इस पुस्तक हेतु कुछ जानकारियाँ मुझे अनन्तश्रीविभूषित जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती शारदापीठ-द्वारका एवम् ज्योतिष्पीठ-बदरिकाश्रम द्वयपीठाधीश्वर तथा अनन्तश्रीविभूषित जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती गोवर्द्धन मठ-पुरी पीठाधीश्वर से इस पुस्तक के लेखनकाल में उनके द्वारा मुझे दिये गये साक्षात्कार से प्राप्त हुई । जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य श्री शारदापीठ-द्वारका एवम् ज्योतिष्पीठ-बदरिकाश्रम महाराज का साक्षात्कार उनके निजी सचिव परमादरणीय ब्रह्मचारी सुबुद्धानन्द जी और महाराजश्री के एक शिष्य श्री चन्द्रधर उपाध्याय जी के सहयोग एवं प्रयास तथा जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य श्री गोवर्द्धनपीठ-पुरी पीठाधीश्वर का साक्षात्कार उनके निजी सचिव श्रद्धेय श्री राजीव मिश्र जी के माध्यम से सुलभ हुआ । इन सभी महापुरुषों/महानुभावों के प्रति इस हेतु मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ ।

इस पुस्तक के पूर्व में लिखित पुस्तक 'अमिटकाल रेखा- अर्वाचीन मत खण्डन' पर कुछ विद्वानों की प्रतिक्रियायें आङ्‌ल भाषा में प्राप्त हुई थीं जिसका हिन्दी भाषान्तर मेरे अग्रज श्री राजेश्वरनाथ मिश्र, एम.ए. (आङ्‌ल), बी.एड., एलएल.बी. ने किया । मेरी ज्येष्ठ पुत्री सुश्री प्रियंवदा मिश्रा, पुत्र प्रतीक मिश्र तथा भ्रात्रेयों श्री भुवन भास्कर मिश्र, बी.काम. (आनर्स) एवम् श्री राजीव रंजन मिश्र ने इस पुस्तक की प्रेस कापी बनाने में तथा इससे सम्बन्धित अन्य आनुषंगिक कार्यों को दक्षतापूर्वक सम्पादित किया जिसके लिये मैं इन सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ ।

मेरी पत्नी श्रीमती रेखा मिश्रा ने पूर्व पुस्तक की भांति इस पुस्तक के रचनाकाल में भी अपनी सुख सुविधाओं की अनदेखी करते हुए इसके सृजन में कोई बाधा न आये इस हेतु निःस्वार्थ भाव से बिना किसी आकांक्षा के जिस प्रकार से मुझे सहयोग प्रदान

किया उससे यही प्रतीत होता है कि वर्तमानकाल में भी 'भामती' की परम्परा जीवित है।

मेरी पुत्री प्रज्ञा मिश्रा ने कुरान-शरीफ, श्रीरामचरितमानस, गुरुवंश काव्यम् तथा वृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक से मेरे द्वारा बताये गये उद्धरणों के निश्चित स्रोतों का अन्वेषण कर मेरा कार्य बहुत आसान किया । इन दोनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु मेरे पास शब्द नहीं हैं।

श्रीमती किरण साह ने गुजराती पुस्तकों से सुसंगत अंशों का हिन्दी अनुवाद कर अतिरिक्त सामग्री इस पुस्तक हेतु उपलब्ध करवाया । श्री सुरेश उपाध्याय, श्रीमती विजया तिवारी तथा सुश्री नन्दिनी ने अक्षर संयोजन का कार्य बड़ी लगन व निष्ठा के साथ सम्पन्न किया । श्री ब्रजभूषण ओझा प्रुफ पढ़ने के कार्य में सहायक हुए । इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों की पूर्व पुस्तक पर प्राप्त प्रतिक्रियायों को इस पुस्तक में प्रकाशित किया गया है तथा जिनकी तदनुकूल प्रतिक्रियायों की पुनरावृत्ति से बचने हेतु नहीं प्रकाशित किया गया है, और जिन विद्वानों एवम् प्रकाशकों की पुस्तकों से मैंने अपनी इस पुस्तक में उद्धरण प्रस्तुत किया है उन सभी के प्रति मैं अपनी सविनय कृतज्ञता निवेदित करता हूँ ।

धर्मसंघ प्रकाशन मेरठ के श्री कृष्ण प्रसाद शर्मा, श्री मुरारीलाल शर्मा तथा श्री श्यामसुन्दर वाजपेयी ने मेरी पूर्वपुस्तक के सारसंक्षेप को कुछ अन्य तथ्यों के साथ एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर जिस प्रकार से मेरे विचारों का प्रचार-प्रसार किया वह अकल्पनीय है । आज तक इन महानुभावों के साथ मेरा कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं है और न ही इनका मेरे साथ कहीं साक्षात्कार ही हुआ है । श्री डॉ. एम.टी. बुच ने मेरी पूर्व पुस्तक 'अमिटकाल रेखा- अर्वाचीन मत खण्डन' की उपादेयता को ध्यान में रखकर उसे शुद्ध मानद आधार पर गुजराती भाषा में रूपान्तरित करने का प्रस्ताव भेजकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया उनके साथ भी आज दिन तक मेरा कोई साक्षात्कार नहीं हो पाया है, आशा करता हूँ कि वे अपने प्रस्ताव के अनुकूल मेरी पूर्वपुस्तक तथा इस पुस्तक दोनों का ही गुजराती भाषान्तर अल्पसमय में भारतवासियों को सुलभ करा देंगे । इन सभी महानुभावों के कार्यों एवं प्रस्तावों से कृतकृत्य इनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

प्रो. कामेश्वर नाथ मिश्र, संस्कृत विभाग, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ-वाराणसी, प्रो. वायुनन्दन पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय-वाराणसी एवम् मानद प्रो. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (अवकाश प्राप्त) तथा परमादरणीय श्री मणि द्राविड़ प्रभृति महानुभावों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी न किसी रूप में मेरा उत्साहवर्द्धन किया जिसके लिये उनके प्रति भी मैं अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ ।साथ ही हापुड़ शहर के पण्डित श्री अखिलेशकुमार शर्मा 'शास्त्री' जी ने प्रकाशन हेतु धन उपलब्ध कराया, जबकि उनसे आज तक मेरा कोई साक्षात् परिचय नहीं है । इस हेतु उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

पूरे भारत से मुझे मिल रही यह प्रतिक्रिया और सहयोग मेरे लिए अकल्प्य है । संभवतः यह श्रीमदादि शंकराचार्य के प्रति लोगों की अदम्य श्रद्धा का सुपरिणाम हो ।

अन्त में मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे भारतीय संस्कृति की सेवा हेतु इन सबकी उर्जा, क्षमता तथा उत्साह को भविष्य में भी बनाये रखें ।

प्रतीक मिश्र जयन्ती
3, जून 2001 खिष्टाब्द
वृन्दावन काम्पलेक्स
फ्लैट सं0 204 अरुणा एपार्टमेण्ट
4, स्टेशन रोड लिलुआ
हावड़ा - 711204

परमेश्वरनाथ मिश्र 'अधिवक्ता'
उच्चन्यायालय कलकत्ता एवं
उच्चतम न्यायालय, भारत
तथा
अध्यक्ष
शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति
रक्षक परिषद्

अमिट कालरेखा के रचयिता
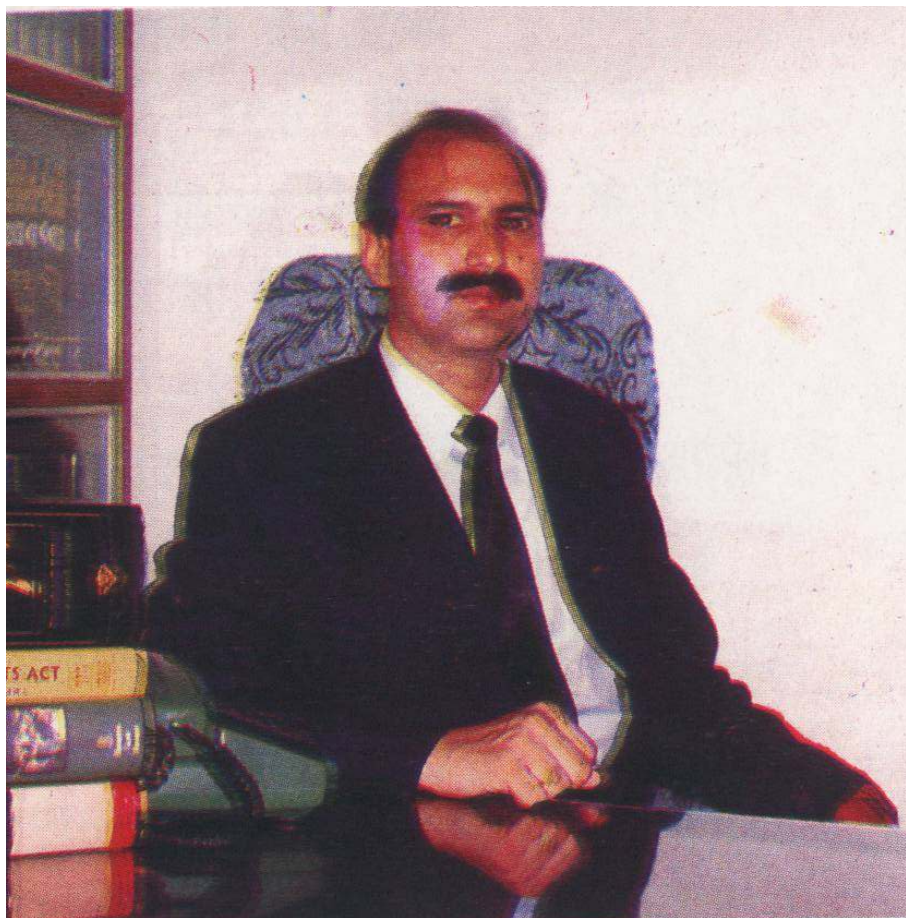
कुलभूषण पं. परमेश्वरनाथ मिश्र

अधिवक्ता

उच्चन्यायालय कलकत्ता एवं उच्चतम न्यायालय, भारत

समर्पण-पत्र

मैं, शाण्डिल्य गोत्रोत्पन्न परमेश्वरनाथ मिश्र

पुत्र श्री विश्वनाथ मिश्र व

श्रीमती शारदा देवी मिश्रा

आज 3 जून, 2001 ख्रिष्टाब्द

तुल्य ज्येष्ठ शुक्ल 12 विक्रम संवत् 2058 के दिन

अपने पुत्र श्री प्रतीक मिश्र

के जन्म की दशवीं वर्षगाठ पर

शिवावतार श्रीमद्भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित

चारों पीठों के आचार्यों के स्वरूपत्रय

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज

श्री शारदापीठ-द्वारका एवम् श्रीज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रम-द्वयपीठाधीश्वर

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज

श्रीगोवर्द्धनपीठ-पुरी पीठाधीश्वर

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य

स्वामी भारती तीर्थ जी महाराज

श्रीशारदापीठ-शृङ्गगिरि पीठाधीश्वर

के पादपद्मों में

अमिटकाल रेखा (वितण्डावादी मत खण्डन)

सादर समर्पित करता हूँ

अनुक्रम

सम्बन्धोक्ति

1887 ई0 सन् में इण्डियन एण्टीक्वेरी में प्रकाशित अपने एक लेख में डब्ल्यू0 लोगन नामक एक विद्वान् ने लिखा कि - [1]"आदि शङ्कराचार्य का जन्म चेरामन पेरुमाल के शासनकाल में 'सफल' वर्ष में हुआ था जिसने इस्लाम धर्म अपना लिया था जिसकी पुष्टि केरलोत्पत्ति से होती है । उन्होंने यह भी लिखा कि ईसवी सन् की 16वीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित अरबी पुस्तक 'तहफात-उल-मुजाहिदीन' में लिखा है कि जफर में एक राजा दफनाया गया था । जफर के निवासियों के अनुसार मालावार (=मलाबार) का एक नरेश अब्दुल रहीम समीरी जफर में दफनाया गया था । कब्र के शिलाभिलेख से ज्ञात होता है कि वह 212 हिजरी सन् तुल्य ईसवी सन् 827-28 में जफर पहुँचा, जहाँ पर 216 हिजरी सन् तुल्य ईसवी सन् 831-32 में उसकी मृत्यु हुई । मलयाली परम्परा का कोल्लम संवत् 25 अगस्त 825 ई0 सन् से इसी राजा के सिंहासन त्याग की तिथि से प्रचलित हुआ।' लोगन महोदय ने 'कुरान शरीफ' के अनुसार समीरी अथवा समारियाई का अर्थ 'बछड़े का पूजक' करते हुए जफर स्थित कब्र को चेरामन पेरुमाल की कब्र बताते हुए इस राजा के समकालीन शङ्कराचार्य का काल 788 ई0 से 820 ई. को प्रामाणिक बताया ।

डॉ. दामोदर प्रसाद सिंहल, पी-एच.डी. (लंदन), डी.लिट्. (क्वीन्सलैण्ड), प्रोफेसर इतिहास विभाग क्वीन्सलैण्ड युनिवर्सिटी ने 1980 ई. में अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और विश्व-सम्पर्क' के दूसरे खण्ड में लिखा - [2]"इस्लाम एकमात्र अल्लाह की एकता पर जोर देते हुए उसको सृष्टिकर्ता मानता है, परन्तु शङ्कर का वेदान्त दर्शन सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों पर बल देता है - उनका कहना है कि जगत 'माया' है, भ्रम है; सत्, चित् और आनन्दमय ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है । ब्रह्म और आत्मा एक हैं । शङ्कर अद्वैत वेदान्त के अद्वितीय व्याख्याता थे । उनकी स्पष्टता, विवेक और आध्यात्मिकता पर वेदान्त का गहरा प्रभाव है जो प्रारम्भिक भारतीय दर्शन ही नहीं, वरन विदेशों में भी लोकप्रिय था । अस्तु, इस ऐतिहासिक सम्भावना को तुरन्त अमान्य

नहीं किया जा सकता कि शङ्कर ने इस्लामी विचारधारा के कारण उपनिषदों के सिद्धान्त पुनः स्थापित किये, क्योंकि उनका जन्म मालावार के एक ग्राम में 686 ई. के लगभग हुआ था, जहाँ अरब के सौदागर इस्लामी विचारों को लेकर आये थे ।" [3]"डॉ० सिंहल ने इस्लाम धर्म की स्थापना की तिथि 8 जून 632 ई० बताया है । [4]वस्तुतः 8 जून 632 ई० के दिन हजरत मुहम्मद की मृत्यु हुई थी। हिजरा का आरम्भ 622ई० में हजरत मुहम्मद के मक्का से मदीना चले जाने के दिन से हुआ था ।

डब्ल्यू लोगन तथा डॉ0 सिंहल की उपर्युक्त मान्यताओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि आदि शङ्कराचार्य ने हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी विचारधारा की नकल करते हुए उपनिषदों के सिद्धान्तों का पुनर्स्थापन किया तथा उनकी शिक्षाओं का तत्कालीन भारतवर्षीय नरेशों पर कोई प्रभाव न पड़ा । जिसका जीवंत उदाहरण है स्वयं उनकी जन्मभूमि के उनके समकालीन नरेश का इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेना ।

इस बात पर रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि ई० सन् की अष्टम सदी तक भारतवर्ष में विशेषकर केरल तथा सिन्ध में इस्लाम धर्म के अनुयायी पर्याप्त संख्या में मौजूद थे तथा सिन्ध में उन्होंने अपना राज्य भी स्थापित कर लिया था । [5]भारत के गजेटियर में लिखा है - " इस्लाम का पौधा भारत में सबसे पहले अरब व्यापारियों ने रोपा, धीरे-धीरे दक्षिण भारत के पश्चिमी और पूर्वी तटों पर उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा लीं । उन्होंने अपने धर्म का पालन करने की अनुमति प्राप्त कर ली । आठवीं सदी के आरम्भ में अरबों ने सिन्ध पर विजय प्राप्त की ।"

मेवाड़ के इतिहासकार श्यामलदास ने भी लिखा है कि - [6]" हिन्दुस्तान पर पहली चढ़ाई खलीफा उमर ने की परन्तु उसको विजय न मिली वरन् उसका सेनापति मारा गया। उसके बाद खलीफा अली ने फौज भेजकर सिन्ध के सीमान्त पर कब्जा किया परन्तु उसकी मृत्यु होते ही मुसलमान वापस लौट गये । फिर खलीफा वलीद ने 705 ई० में कासिम के बेटे महमूद को भेजा । सिन्ध जीतकर वह चित्तौड़ की तरफ आगे बढ़ा लेकिन बापा रावल से शिकस्त खाकर उसे भागना पड़ा ।"

डॉ0 दशरथ शर्मा लिखते हैं - [7]"खलीफा हिशाम (724 ई0 से 743ई0) के अधीन सिन्ध के प्रशासक जुनैद की सेनाओं द्वारा भड़ौच पर आक्रमण किया गया यहाँ तक कि उसकी सेनायें आगे दक्षिण की ओर नवसारी तक पहुँच गयीं जहाँ पर एक शक्तिशाली सेना का नेतृत्व करते हुए लाट के शासक पुलकेशिन अवनी जनाश्रय के द्वारा

गया)
उनका आगे बढ़ना रोक दिया।'' आगे वे लिखते हैं - [8]''धौलपुर के चौहान शासक चण्डमहासेन के शिलाभिलेख से ज्ञात होता है कि वह विक्रम सम्वत् 898 तुल्य ई0 सन् 842 में धवल पुरी पर राज्य करता था तथा चम्बल नदी के दोनों किनारों पर बसे म्लेच्छों ने उसे कर दिया था । .... डॉ0 एच. सी. राय उन म्लेच्छों की पहचान अरबों (=मुसलमानों) से करते हैं ।''

[9]'दिसम्बर 1800 ई0 में मलाबार के मुसलमानों के धार्मिक नेता ने डॉ0 बुचानन से यह दावा किया था कि उनका वंश पैगम्बर मुहम्मद साहब की सुपुत्री फातिमा से सम्बन्धित है।' सम्भवतः हसन-हुसैन (पैगम्बर साहब के नवासों) का कोई अपत्य उनकी हत्या कर दिये जाने के पश्चात् आकर भारत बस गया था । इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि हजरत मुहम्मद के नवासों के एक घोड़े की नाल काशी में गिरी थी । वह नाल एक ब्राह्मण परिवार के पास सुरक्षित है और प्रतिवर्ष मुहर्रम से सम्बन्धित समारोह में प्रशासनिक अधिकारियों की उपस्थिति में शामिल करने हेतु मुसलमानों को कुछ समय के लिये दी जाती है ।

[10]यही नहीं 18वीं सदी के कोच्चीन राज्य स्थित कोकाडू नामक पहाड़ी क्षेत्र के निकटस्थ ग्राम के ईसाई पादरी ने डॉ0 बुचानन को बताया था कि वहाँ पर ईसाई धर्म का प्रवेश सेंट टामस द्वारा किया गया था जो कि इसवी सन् 60 में भारत आये थे ।

भारत के गजेटियर में लिखा है कि - [11]'' ईसामसीह के पट्टशिष्यों में से एक थे सेंट टामस । दक्षिण भारत में इनके प्रचार और शहादत के बारे में आज भी मतभेद विद्यमान है किन्तु अधिकाधिक झुकाव लोकश्रुति की ओर होता जा रहा है । ...... आरंभिक सीरियाई पादरियों ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया है कि सेंट टामस भारत में शहीद हुए । फिर यह भी साबित हो चुका है कि ईसवी सन् के आरम्भ से भी पहले दक्षिण भारत तथा रोमी साम्राज्य के बन्दरगाहों में प्रायः व्यापारिक संपर्क रहता था । अतः सेंट टामस का मलाबार के किसी बन्दरगाह पर आ उतरना कोई अनहोनी बात नहीं । अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस अनुश्रुति में बहुत बड़ी सम्भाव्यता है कि सेंट टामस ने दक्षिण भारत में सर्वप्रथम मसीही समुदाय की संस्थापना की और मद्रास के निकट कहीं उनका निधन हुआ । मलाबार के मसीही इस बात को बार-बार कहते हैं । बाद की एक अनुश्रुति यह है कि एडेसा के एक और पादरी टामस मसीहियों के एक दल के साथ 345 ई0 में ईरान से आकर मलाबार में उतरे थे । **भारत में**

मसीहियों के आने का पहला अकाट्य प्रमाण कॉस्मस इंडिकोप्लूस्तेस का है जो 535 ई0 में भारत आये थे और जिन्होंने अपना यात्रावृत्त लिखा है। उन्होंने मलाबार में , तथा बंबई (सम्प्रति मुम्बई) के निकट कल्याण में मसीही समुदायों की संस्थापना की । मलाबार और मायलापुर दोनों में एक खास तरह का क्रॉस (सलीब) पाया गया है जिसे 'टॉमस क्रॉस' कहते हैं और उस पर फारसी में जो खुदाई है उससे पता चलता है कि यह और पुराना नहीं तो कम से कम 7वीं सदी का तो है ही । आठवीं सदी में बादशाह अलफ्रेड ने सेंट टॉमस के सम्मान में भारत के मसीहियों के लिए उपहार देकर दो पादरियों को भेजा था।

कुछ पाश्चात्य तथा पाश्चात्यमतावलम्बी विद्वानों का यह भी मानना है कि आचार्य शङ्कर पर मसीही विचारधारा का प्रभाव है । परन्तु बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि आचार्य शङ्कर ने ईसाई एवम् इस्लामी मतों का अपने किसी भी ग्रन्थ में कहीं उल्लेख नहीं किया है । इन मतों का अपने ग्रन्थों में कहीं भी उन्होंने न खण्डन किया है न मण्डन, जबकि कहा जाता है कि आचार्य शङ्कर ने अपने ग्रन्थों में तत्कालीन भारतवर्ष में प्रचलित कम से कम 72 मतों का खण्डन-मण्डन किया है । जबकि उपर्युक्त प्रमाणों से इन दो मतावलम्बियों के अस्तित्व की आचार्य शङ्कर के तथाकथित आविर्भाव काल 788 ई0 से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व से आचार्य शङ्कर की जन्मभूमि मलाबार (केरल) में पुष्टि होती है । उनके इस आविर्भावकाल के लगभग 200वर्ष पूर्व से ही मुसलमानों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया था परन्तु मठाम्नाय-महानुशासनम् में आचार्य शङ्कर का सिन्धु को शारदामठ-द्वारका के अन्तर्गत रखना इस तथाकथित आविर्भाव काल पर प्रश्न चिह्न लगा देता है ।

आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित आम्नाय मठों की प्राचीन परम्परा के अनुसार आदिशङ्कराचार्य का आविर्भाव युधिष्ठिर शक संवत् 2631, वैशाख शुक्ल पञ्चमी तथा कैलाशगमनकाल युधिष्ठिर शक संवत् 2663, कार्त्तिक शुक्ल 15 अर्थात् ई0 सन् पूर्व 507-475 ई0पू0 में हुआ था । इस काल को मानने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि ईसा मसीह तथा हजरत मुहम्मद ने आचार्य शङ्कर की विचारधारा के कारण अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना इस रूप में की परन्तु यदि हम पाश्चात्य एवं पाश्चात्यमतावलम्बी विद्वानों की मान्यता, जो कि लगभग 125 वर्ष से प्राचीन नहीं है को

मानते है तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि आचार्य शङ्कर ने ईसामसीह तथा हजरत मुहम्मद की विचारधारा के कारण उपनिषदों के सिद्धान्तों को पुनः स्थापित किया।

अर्वाचीन मान्यता के पोषक विद्वानों की संख्या प्राचीनमान्यता के पोषकों की तुलना में नगण्य थी । परन्तु प्राचीनमान्यता के पोषकों की मान्यता को उस समय एक गहरा आघात पहुँचा जब शाङ्कर सम्प्रदाय के कुछ महामण्डलेश्वरों के साथ एक आम्नायमठ शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य ने अर्वाचीन मत को मान्यता प्रदान करते हुए 1988 ई0 सन् में आचार्य शङ्कर के आविर्भावकाल का द्वादशशतवर्ष समारोह मनाया । उक्त समारोह मनाने का मुख्य आधार था अनन्त श्री महामण्डलेश्वर काशिकानन्द गिरि महोदय का 14 पृष्ठीय एक लेख जो कि द्वादशशताब्दी समारोह के अवसर पर प्रकाशित ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया था ।

इन सभी तथ्यों की ओर 'शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद्' का ध्यान ई0 सन् 1998 में अनेक सुधीजनों द्वारा आकृष्ट किया गया । परिषद् ने सत्यानुसंधान हेतु अनेकों विद्वानों से इस विषय पर एक शोध ग्रन्थ एक वर्ष की समय सीमा के अन्दर शुद्ध मानद आधार पर लिखने का आग्रह किया परन्तु परिषद् को इस कार्य में सफलता न मिली । अन्त में परिषद् के सदस्यों ने मेरे ऊपर ही यह भार डाला । अपने इस कर्तव्य के निर्वहन में व्यापक अनुसंधान के परिणामस्वरूप मुझे स्पष्ट हो गया कि आचार्य के तथाकथित आविर्भावकाल 788 ई0 से 820 ई0 से सम्बन्धित अर्वाचीनमत दोषपूर्ण मान्यताओं पर आधारित तथा मात्र एक पूर्वाग्रहग्रस्त परिकल्पना का प्रतिफल है । चूँकि इस अर्वाचीनमत के समर्थन में एक शाङ्कर सम्प्रदायी महामण्डलेश्वर ने भी एक लेख लिख डाला जिसमें इस मत के पोषकों के सभी प्रमाण सन्निहित थे अतएव उन्हीं के मत का खण्डन करना मैंने श्रेयस्कर समझा । अपने इसी निर्णय के अनुपालन में मैंने 'अमिटकाल रेखा (अर्वाचीन मत खण्डन) ' नामक एक पुस्तक लिखकर परिषद् को ई0 सन् 2000 में दिया जिसको प्रकाशित कर उसका विमोचन 27 अप्रैल 2000 को किया गया ।

अमिटकालरेखा (अर्वाचीन मत खण्डन) की लगभग 700 प्रतियाँ शङ्कराचार्यों सहित भारतवर्ष के सभी विश्वविद्यालयों के संस्कृत, इतिहास एवं दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्षों, भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मन्त्रालय तथा अन्य अनेक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों, महामण्डलेश्वरों, अखाड़ों के महन्तों आदि को भेजी गई । जिन

पर अनेक विद्वानों की लिखित प्रतिक्रियायें प्राप्त हुई । उन प्रतिक्रियायों में मात्र दो प्रतिकूल थी उनमें से भी पं0 चन्द्रकान्त शास्त्री, वाली महोदय ने मेरे वैदुष्य एवम् श्रम को मान्यता प्रदान करते हुए स्वलिखित पुस्तक के अनुसार - उनके अभिमत में आचार्य शङ्कर का काल ई0 पू0 44 से ई0पू0 13 है, पर जोर दिया । परन्तु वे इस विषय को शास्त्रार्थ का रूप न देकर मुझसे मिलकर परस्पर विचार विनिमय करना चाहते थे । उनके उक्त पत्र का मैंने समादर पूर्वक उनकी शङ्काओं का निराकरण करते हुए उत्तर दिया जिसके बाद उनकी कोई प्रतिक्रिया न प्राप्त हुई जिससे स्पष्ट होता है कि वे मेरे पत्र से पूर्ण संतुष्ट हो गये । यह है विद्वानों की विशाल हृदयता का एक उदाहरण । अन्य सभी विद्वानों ने मेरी उक्त पुस्तक तथा मेरे श्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

इसी बीच 31 जुलाई ई0 सन् 2000 का अनन्तश्री महामण्डलेश्वर काशिकानन्द गिरि महाशय की ओर से उनकी शिष्या सुश्री चारुलता का लिखा हुआ एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ । यह पत्र बहुत ही अशिष्ट भाषा में अपशब्दों से युक्त अभद्रतापूर्वक लिखा गया था । इसमें मेरे ऊपर, मेरे अधिवक्ता-व्यवसाय पर तथा शङ्कराचार्यों के ऊपर अश्लील आक्षेप करते हुये मुझे 15 दिन के अन्दर अपने लिखे हुए को वापस लेने को कहते हुए यह धमकी दी गई थी कि अन्यथा जो भी आक्षेप-प्रत्याक्षेप होगा उसके लिये हम लोग ही जिम्मेदार होंगे । उनके इस अपशिष्ट पत्र का उत्तर मेरी ओर से 1 अक्टूबर 2000 ई0 सन् के दिन लिखित पत्र के द्वारा अतिशिष्ट एवम् विनम्र भाषा में दिया गया, जिसमें महामण्डलेश्वर जी को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम निवेदित करते हुये पुस्तक की स्वस्थ समीक्षा करने की प्रार्थना की गई थी तथा व्यक्तिगत आक्षेप-प्रत्याक्षेप से दूर रहने का अनुरोध किया गया था । उपर्युक्त दोनों पत्रों को इस पुस्तक में क्रमशः परिशिष्ट 1(क) और 1(ख) के रूप में प्रकाशित किया गया है ।

तत्पश्चात् 6 मार्च 2001 ईसवी सन् को मुझे 'कोरियर सेवा' द्वारा स्वामी श्री काशिकानन्द गिरि महामण्डलेश्वर रचित 'भाष्यकार आचार्य शङ्कर भगवत्पाद का आविर्भाव समय-द्वितीय सोपान' नामक पुस्तक प्राप्त हुई । यह पुस्तक अशिष्ट, अभद्र, अश्लील, अपशिष्ट शब्दों के माध्यम से मेरे तथा सभी अधिवक्ताओं एवम् शङ्कराचार्यों के ऊपर किये गये व्यक्तिगत आक्षेपों की पराकाष्ठा का अद्वितीय उदाहरण है । सम्पूर्ण पुस्तक वितण्डावाद का एक निकृष्ट नमूना है । श्री महामण्डलेश्वर जी की उक्त पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् मुझे यह सोचकर बड़ी ग्लानि हुई कि सनातनधर्म, विशेषकर उस

शाङ्कर सम्प्रदाय की क्या गति होने वाली है जिसमें अनन्त श्री महामण्डलेश्वर काशिकानन्द गिरि जैसे महानुभाव महामण्डलेश्वर जैसे पद को सुशोभित कर रहे हैं जो कि अपनी पुस्तक में पाण्डववंशियों की परवर्ती राजधानी कौशाम्बी को पटना में बताते हैं जबकि यह उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद जनपद में है । पाकिस्तान स्थित अटक को वे भारत में समझते हैं। 788-820 ई० के काल में कोई जैन-बौद्ध मतावलम्बी राजा भारत में नहीं था यह उनका मानना है जबकि उक्त अवधि में उत्तर भारत में पाल राजा बौद्ध तथा दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट राजा जैन थे, वे यह भी कहते हैं कि बौद्ध धर्म बुद्ध के बाद ही पनपा जबकि विष्णुपुराण में कहा गया है कि पराशर के बहुत काल पूर्व बौद्ध मत का प्रादुर्भाव मायामोह नामक व्यक्ति के द्वारा किया गया था, आचार्य शङ्कर के मरण के लिये वे उत्तरायण मोक्ष हेतु आवश्यक बताते हैं जबकि ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शङ्कर ने जीवन्मुक्त संन्यासी = ज्ञानी के लिये उत्तरायण-दक्षिणायन मरण के सिद्धान्त को अप्रयोज्य बताया है, वे वादी का अर्थ प्रतिपक्षी तथा प्रणाडी का अर्थ परम्परा को आधुनिक काल में हिन्दी भाषा में प्रयुक्त होने वाला कहकर अमरकोश के प्रमाण से प्रणाडी का अर्थ पनाली बताते हैं जबकि स्वयं आदिशङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में वादी का अर्थ प्रतिपक्षी बताया है तथा प्रणाडी को परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त किया है, चौसठ कलाओं के अन्दर महामण्डलेश्वर जी नीवीस्त्रंसन, गुह्यस्पर्शादि परिगणित करते हैं जबकि ये दो कलायें किसी भी प्रामाणिक सनातनधर्म के धर्मग्रन्थों अथवा उनपर प्रामाणिक विद्वानों द्वारा की गई टीकाओं में नहीं प्राप्त होती । यही नहीं वे सम्पूर्ण विश्व के अभिलेख वाचकों को मिथ्याभिलेखवाचक कहकर रूपया ठगने वाला बताते हैं तथा सभी अभिलेखों को निरर्थक बकवास करार देते हैं; स्वयं को सर्वज्ञ शङ्कराचार्य स्थानापत्र बताते हुये वर्तमान् शङ्कराचार्यों को अज्ञानी तथा कीड़ों-मकोड़ों व चूहों के तुल्य बताते हुए सोने-चाँदी के सिंहासन को दिखा कर जनता को ठगने वाला कहते हैं; नागा संन्यासियों को महामण्डलेश्वरों का निर्माता स्वीकार करते हुए भी वे उन्हें अनपढ़ गुरु-चेला वाले झाड़ूआनन्द कच्चरानन्द संज्ञक बताते हैं; सम्पूर्ण भारत में सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं ही नहीं, यह उनका कहना है; टीपू सुल्तान को 1791 ई० में मराठों ने पराजित किया था तथा मराठों का राज्य कभी तुङ्गभद्रा के तट तक फैला था इस ऐतिहासिक तथ्य को वे नहीं मानते; उनका यह भी कहना है कि 1988 ई० के पहले बहुबुद्धों से सम्बन्धित कोई प्रमाण नहीं थे और उनको प्रमाणित करने वाले सभी स्मारक शङ्कराचार्य को प्राचीन सिद्ध करने

हेतु ई0 सन् 1988 के बाद बनाये गये जब कि ई0पू0 के ग्रन्थ ललितविस्तरम् व बुद्धचरित तथा ई0 सन् की चौथी सदी के ग्रन्थ दीपवंश महावंश एवम् ईसवी की 5वीं सदी के अजन्ता (भारत) व यनकांग (चीन) की गुफाओं में बहुबुद्धों की मूर्तियाँ तथा भितिचित्र वर्तमान् हैं । यही नहीं सम्राट् अशोक के निगलिहवाँ स्तम्भाभिलेख, हरिस्वामिनी के 450-51 ई0 के साँची प्रस्तर अभिलेख तथा ई0 सन् की 5वीं सदी के फाहियान के यात्रावृत्तान्त से भी बहुबुद्धों का अस्तित्व सिद्ध होता है । उनकी इस अल्पज्ञता का परिदर्शन विज्ञजन इस पुस्तक के पूर्वपक्ष में स्वयं करें मैं यहाँ पर कितना परिगणित करूँ? उन्होंने अपनी सम्पूर्ण 89 पृष्ठीय इस पुस्तक के अधिकांश पृष्ठों को अपने वितण्डावादी कुतर्कों तथा अल्पज्ञता व तद्विषयक ज्ञानशून्यता को प्रदर्शित करने वाले वाक्यों से काले करते चले गये हैं जो कि उनकी कीर्ति पर युग-युगान्तर तक कालिख पोतते वर्तमान रहेंगे । ऐसा इतिहास भूगोल ज्ञानानभिज्ञ, विष्णुपुराणादि तथा शाङ्करभाष्यों के सम्यक् तात्पर्यबोध से रहित व्यक्ति शाङ्कर सम्प्रदाय का महामण्डलेश्वर? महान् आश्चर्य! उनकी सम्पूर्ण पुस्तक का निष्कर्ष यही है कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'।

एक सज्जन ने महामण्डलेश्वर जी की आलोच्य पुस्तक की अनेक कमियों को प्रदर्शित करते हुये मुझे उनके साथ खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया से विमुख हो जाने की सलाह भेजी परन्तु उसके पूर्व तक मैं इस पुस्तक को लिख चुका था । उन सज्जन के पत्र को परिशिष्ट 4 के रूप में इस पुस्तक में प्रकाशित किया गया है । अनन्तश्री महामण्डलेश्वर जी की आलोच्य पुस्तक 6 मार्च 2001 को मुझे मिली थी । 18 मार्च 2001 को मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ कर 26 अप्रैल 2001 ई0 को पूर्ण पुस्तक को प्रकाशन हेतु वाराणसी भेज दिया था । मुझे 'परिषद्' के सदस्यों द्वारा सूचित किया गया है कि इस पुस्तक का विमोचन 5 जुलाई सन् 2001 को किया जायेगा तथा मेरे द्वारा भेजी गयी पुस्तक का प्रूफ तैयार हो चुका है । इस तथ्य को ध्यान में रखकर आज 3 जून 2001 ई0 के दिन इस सम्बन्धोक्ति को मैं शाण्डिल्यगोत्रोत्पन्न परमेश्वरनाथ मिश्र लिख रहा हूँ।

यद्यपि प्रस्तुत पुस्तक में श्री महामण्डलेश्वर जी के वितण्डावादी मत का खण्डन ही मुख्य लक्ष्य रहा है परन्तु इस क्रम में इस पुस्तक में चौहानों का आदिकाल से लेकर पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) तक का तथा ई0पू0 6वीं सदी से ई0 सन् की 10 वीं सदी तक का सम्पूर्ण भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास, ई0 पू0 1000 से ई0 सन् की 5वीं सदी तक भारत में प्रचलित मुद्राओं का इतिहास, पाटलिपुत्र का इसकी स्थापना की तिथि

से 10 वीं सदी तक का पुरातात्विक इतिहास, ई0 सन् पूर्व 521 में प्रवर्तित एक संवत् से संबन्धित अभिलेखों का प्रमाण, उत्तरायण-दक्षिणायन मरण से संबन्धित आचार्य शङ्कर के प्रामाणिक विचार, चौसठ कलाओं के चार समूह, सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशियों के अस्तित्व से सम्बन्धित प्रमाण, गौड़पाद के ग्रन्थों की प्राचीनता से सम्बन्धित प्रमाण, प्राचीनकाल में अङ्गिरापुत्र सुधन्वा तथा ऋषि लिखित के सम्बन्ध में दिये गये राजाओं द्वारा निर्णय, कोङ्ग देश का प्राचीन प्रामाणिक इतिहास, नेपाल व कश्मीर का संक्षिप्त इतिवृत्त, विभिन्न अखाड़ों की स्थापना तिथियाँ, चार आम्नाय मठों, आदिशङ्कराचार्य तथा परवर्ती शङ्कराचार्यों से सम्बन्धित जानकारियाँ आदि अनेकों विद्वत्जनोपयोगी सामग्रियाँ भी आ गई हैं। कार्तिक शुक्ल 11 युधिष्ठिर शक संवत् 5139 तुल्य विक्रम संवत 2058, गत कलिसंवत् 5102, चालू कलिसंवत् 5103, शालिवाहन शक संवत् 1923 तदनुसार 26 नवम्बर 200[illegible] ई0 सन् दिन सोमवार को आदिशङ्कराचार्य के संन्यासग्रहण की 2500वीं वर्षगाँठ पड़ेगी । आशा करता हूँ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के सनातनधर्मावलम्बी उस दिन अपने-अपने स्तर से इस महान विभूति के संन्यास ग्रहण की 2500 वीं वर्षगाँठ मनाकर इनके द्वारा सनातनधर्म की रक्षा हेतु किये गये कार्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करेंगे साथ ही चाहमान वंशी उस महान् सम्राट् सुधन्वा को भी याद करेंगे जिनके राज्याश्रय ने आचार्य श्री के कार्य को आसान कर दिया ।
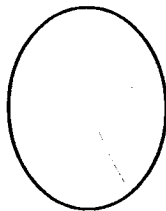
- एक देश का व्यापारी

पुस्तक में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो मेरे अपने नहीं हैं। जिस प्रकार से वाणिज्य विनिमय में दूसरे देश के व्यापारी को उसी के देश में प्रचलित मुद्रा में भुगतान करता है तभी उसे स्वीकार्य होती है उसी प्रकार से इस शब्दव्यापार विनिमय में मैंने यत्र तत्र अनन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर काशिकानन्द गिरि के शब्दों में ही उनको भुगतान किया है जिसके लिये स्वयं महामण्डलेश्वर जी ही जिम्मेदार हैं यह विद्वानों के प्रति मेरा विनम्र अभिकथन है। इस पुस्तक में पूर्वपक्ष के रूप में श्री महामण्डलेश्वर जी की पूर्वकथित पुस्तक की पंक्तियों को यथावत रख कर स्वमत को उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनके वितण्डावादी मत का खण्डन किया गया है।

-परमेश्वरनाथ मिश्र

पूर्वपक्ष-१

पश्चिमाम्नाय वालों के पास आचार्य को ढाई हजार वर्ष पूर्व सिद्ध करने का प्रमाण आचार्य के समकालीन भक्त राजा सुधन्वा का आचार्य को दी हुई पूर्व दर्शित ताम्रपात्र विज्ञप्ति है यह पूर्व बताया। राजा सुधन्वा ने यु. सं. २६६३ आश्विन पूर्णिमा को वह दी है। विज्ञप्ति का अर्थ है दृढनिश्चयानुकूलसनम्रशब्दव्यापार। शंकरदिग्विजय के अनुसार आचार्य का वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी व्यास जी के साथ व्याख्यात्मक शास्त्रार्थ चला था। अन्ततः श्री पद्मपादाचार्य की -

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे संवृत्ते किंकरः किंकरिष्यति ।।

इस उक्ति से प्रसन्न भगवान् वेदव्यास जी स्वरूप दर्शन देकर जाने लगे तो आचार्य ने कुछ क्षण ठहरने की प्रार्थना की और कहा मेरी आयु १६ वर्ष पूरी हो चुकी है, आप के सामने शरीर त्याग की मेरी इच्छा है। व्यास जी ने कहा- ओ हो ! अब आप का ज्ञान और धर्म का प्रचार करने का कार्य बाकी है। अतः मैं आप को सोलह वर्ष आयु अधिक देता हूँ। इस प्रकरण से मालूम पड़ता है कि शास्त्रार्थ में पाँच दस दिन अधिक निकल गये हों सर्वथापि ३२ वर्ष ऊमर में वैशाख पूर्णिमा को ही आचार्य ने शरीर त्याग किया। तो उसके बाद पाँच महीने के बाद आश्विन शुक्लपक्ष पूर्णिमा को विज्ञप्ति पत्र देने में राजा सुधन्वा सप्तलोकोर्ध्व कैलास गये थे क्या ? इस पर लीपापोती करने के लिए किसी ने कार्त्तिक में शरीर त्याग करने की बात रखकर जो चालाकी की वह सकलसंप्रदाय विरुद्ध है। फिर दक्षिणायन में आचार्य ने शरीरत्याग किया यह व्यासाशीर्वचन से विरुद्ध है और शिष्टाचरण विरुद्ध भी है। भीष्मपितामह ज्ञानी होने पर भी उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हैं **"भीष्मस्या प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं"** ऐसा भाष्य है। शिष्टाग्रणी भाष्यकार भी व्यासाशिष का उल्लंघन कर सुधन्वा की विज्ञप्ति की प्रतीक्षाअर्थ पाँच महीने तक जीवन बलात् बाँध रखा। इस प्रकार मृत्युशक्ति को वे रोक सकते थे तो व्यासाशीर्वाद की भी क्या जरूरत थी। अतः कार्त्तिक पूर्णिमा को आचार्य का शरीर त्याग सकल प्रमाण विरुद्ध है, असांप्रदायिक अप्रामाणिक होने से अग्राह्य है।

उत्तरपक्ष-१

मुझको संस्कृत ग्रन्थों एवम् वेदान्त-दर्शन पढ़ने की सलाह देने वाले अनन्तानन्तश्री विभूषित महामण्डलेश्वर जी ! आपकी उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर सामान्य मेधा के व्यक्ति को भी यह स्पष्ट हो जाता है कि आपकी ग्रन्थार्थ धारण शक्ति या तो शिथिल पड़ चुकी अथवा आप ने सम्यक् प्रकारेण आचार्य शङ्कर कृत भाष्य-ग्रन्थों का परिशीलन नहीं किया है ।

ईशावास्योपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर लिखते हैं, "[12]जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं - एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्ममार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावना किया हुआ निवृत्ति मार्ग ।" [13]अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु यानी 'मृत्यु' शब्द वाच्य स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान इन दोनों को पार कर विद्या अर्थात् देवता ज्ञान से अमृत यानी देवात्मभाव को प्राप्त हो जाता है । [14]यहाँ जो कहा गया है कि अमृत को प्राप्त होता है सो आपेक्षिक अमृत समझना चाहिए । यदि 'विद्या' शब्द से परमात्मविद्या ली जाय तो 'हिरण्मयेन' इत्यादि मंत्रों से मार्गादि की याचना नहीं बन सकती । इसलिये यहाँ उपासना के साथ ही (कर्म का) समुच्चय किया गया है, परमात्मज्ञान के साथ नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य कहते हैं - [15]'जिस काल में मरे हुए योगी लोग पुनर्जन्म को नहीं पाते' यहाँ पर 'योगिनः' इस पद से कर्मी लोग भी योगी कहे गये हैं; क्योंकि 'कर्मयोगेन योगिनाम्' इस विशेषण से कर्मी भी किसी गुण विशेष से योगी हैं। [16] जिस वन में आम के पेड़ अधिक होते हैं उसको जैसे आम का वन कहते हैं, उसी प्रकार यहाँ कालाभिमानी देवताओं का वर्णन अधिक होने से 'यत्र काले' 'तं कालम्' ? इत्यादि कालवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है । (अभिप्राय यह कि जिस मार्ग में अग्नि देवता, ज्योति देवता) दिन का देवता, शुक्ल-पक्ष का देवता और उत्तरायण के छः महीनों का देवता है उस मार्ग में अर्थात् उपर्युक्त देवताओं के अधिकार में मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता यानी ब्रह्म की उपासना में तत्पर हुए पुरुष क्रम से (कार्य) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं । यहाँ उत्तरायण मार्ग देवता का ही वाचक है, क्योंकि अन्यत्र (ब्रह्मसूत्र में) भी यही न्याय माना गया है । [17]जिस मार्ग में धूम और रात्रि हैं अर्थात् धूमाभिमानी और रात्रि

अभिमानी देवता हैं तथा कृष्ण पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष का देवता है एवं दक्षिणायन के छः महीने हैं अर्थात् पूर्ववत् दक्षिणायन मार्गाभिमानी देवता है, उस मार्ग में (अर्थात् उपर्युक्त देवताओं के अधिकार में मरकर) गया हुआ योगी अर्थात् इष्टपूर्त आदि करने वाला कर्मी, चन्द्रमा की ज्योति को अर्थात् कर्मफल को प्राप्त होकर भोग कर उस कर्मफल का क्षय होने पर लौट आता है । [18] शुक्ल और कृष्ण ये दो मार्ग, अर्थात् जिसमें ज्ञान का प्रकाश है वह शुक्ल और जिसमें अभाव है वह कृष्ण-ऐसे दो मार्ग जगत् के लिए सदा से माने गये हैं क्योंकि जगत् नित्य है । यहाँ जगत् शब्द से जो ज्ञानी और कर्मी उपर्युक्त गति के अधिकारी हैं उन्हीं को समझना चाहिए क्योंकि सारे संसार के लिए यह गति सम्भव नहीं है । उन दोनों मार्गों में से एक - शुक्ल मार्ग से गया हुआ तो फिर लौटता नहीं है और दूसरे मार्ग से गया हुआ लौट आता है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में आचार्य शङ्कर का अभिकथन है - [19]अग्निहोत्रादि रूप केवल कर्म से पितृलोक जीतने योग्य है तथा विद्या से देवलोक प्राप्त होने योग्य है।

छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं - [20]अब उपर्युक्त उपासक ब्रह्मवेत्ता की गति बतायी जाती है - वह अर्चिरभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को, दिवसाभिमानी देवता से शुक्ल पक्ष देवता को, शुक्ल पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर दिशा में चलता है उन महीनों अर्थात् उत्तरायण देवता को, उन उत्तरायण के छः महीनों से संवत्सराभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं । फिर संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होते हैं । वहाँ स्थित हुए उन उपासकों को कोई अमानव पुरुष ब्रह्मलोक से आकर सत्यलोक में स्थित ब्रह्म के पास पहुँचा देता है । गमन करने वाले, गन्तव्य स्थान और गमन कराने वाले का उल्लेख होने के कारण (यहाँ कार्यब्रह्म ही अभिप्रेत है) क्योंकि सत्तामात्र ब्रह्म की प्राप्ति में यह कुछ नहीं कहा जा सकता । वहाँ तो यही कहना न्याय है कि 'वह ब्रह्मरूप हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त होता है ।'

श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य शंकर का अभिमत है - [21]जो पूर्णज्ञाननिष्ठ सद्योमुक्ति के पात्र होते हैं उनका आना जाना कहीं नहीं होता । श्रुति भी कहती है, 'उसके प्राण निकलकर कहीं नहीं जाते ।' वे तो 'ब्रह्मसंलीनप्राण' अर्थात् ब्रह्ममय-ब्रह्मरूप ही हैं ।

ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शंकर बतलाते हैं - [22]पूर्व के जन्मों में संचित और इस जन्म में भी ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम संचित पूर्वकाल के अप्रवृत्त फल वाले ही पुण्य और

पाप ज्ञान की प्राप्ति से क्षीण होते हैं और प्रारब्ध फल वाले जिनसे यह ब्रह्मज्ञान का आश्रय जन्म निर्मित हुआ है, वे पुण्य-पाप निवृत्त नहीं होते हैं । श्रुति कहती है 'इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही (सत्) को जानता है, उसके लिये (मोक्ष होने में) उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह (देह बन्धन से) मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्म को) प्राप्त हो जाता है ।' (छा. उ. 6।14।2) यदि ऐसा न हो, और ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाय, तो क्षेम (मोक्ष) प्राप्ति ज्ञान पाने के अनन्तर ही हो जाय और देहपात की प्रतीक्षा न हो, क्योंकि तब इस जीवन के बने रहने का कोई और कारण न होगा। जैसे निर्मित हो रहा घट अपने आश्रय के लिए कुम्हार के चाक की अपेक्षा करता है, वैसे मोक्ष अपने आश्रय के लिए शरीर की अपेक्षा करता है और जैसे घट निर्मित हो जाने पर भीं कुछ समय तक कुम्हार का चाक घूमता रहता है वैसे मोक्ष होने पर भी शरीर रहता है, क्योंकि प्रवृत्त वेग को रोकने का कोई हेतु उसमें नहीं है ।[23]अनारब्ध कार्य वाले पुण्य और पाप का विद्या के सामर्थ्य से नाश कहा जा चुका है, उससे इतर आरब्ध कार्य वाले पुण्य और पाप दोनों का उपभोग से क्षय करके ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होता है । 'उस ज्ञानी को उतने ही समय तक सत् सम्पत्ति में देर है कि जब तक देहपात नहीं हुआ है, देहपात होते ही वह सत् सम्पन्न होता है । जीवित दशा में ही ब्रह्म होता हुआ ज्ञानी शरीरपात होने पर ब्रह्म में लीन होता है' (छा.उ.6।14।2) । प्रारब्ध कर्म के उपभोग से क्षय होने पर विद्वान् का कैवल्य (निर्वाण-विदेहमोक्ष) अवश्य होता है ।

आचार्य शङ्कर के उपर्युक्त भाष्यों से स्वतः स्पष्ट है कि एक ज्ञानी संन्यासी ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर जीवन्मुक्त दशा में ब्रह्मस्वरूप रहता है और देहपात के साथ ही वह सर्वव्यापी ब्रह्म में लीन हो जाता है उसे विद्या (दैवत ज्ञान) के उपासक की तरह उत्क्रमण हेतु किसी मार्ग की अपेक्षा नहीं रहती । ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर के मोक्ष के लिये उत्तरायण मार्ग की अपेक्षा करने वाला व्यक्ति कोई शाङ्करभाष्यानभिज्ञ ही हो सकता है । विद्या (दैवत-ज्ञान) एवं कर्म (अग्निहोत्रादि) के उपासक भीष्म की मृत्यु के साथ आचार्य शङ्कर, जो कि परमार्थ ज्ञानी एवं शिवावतार थे की मृत्यु की तुलना करना मात्र अज्ञता का परिचायक है । अनन्तानन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी ने ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य की एक पंक्ति उद्धृत की है जो कि भीष्म के द्वारा उत्तरायण की प्रतीक्षा से सम्बन्धित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्या (दैवत-ज्ञान) अथवा अपर ब्रह्म यानी सगुण ब्रह्मोपासक भीष्म के लिये उत्क्रमण की अपेक्षा थी क्योंकि वे आचार्य शङ्कर की भाषा में परमार्थ ज्ञानी नहीं

थे । फिर भी उक्त स्थान पर भी आचार्य ने कहा है कि - [24]विद्या के अपाक्षिक (नित्य) से फलवत्व से और मृत्यु के अनियत काल होने से दक्षिणायन में भी मरने वाला विद्वान् विद्या के फल को प्राप्त करता ही है । उत्तरायण में मरण के प्राशस्त्य (श्रेष्ठता) की प्रसिद्धि से और भीष्म जी के उत्तरायण की प्रतीक्षा के दर्शन से और 'शुक्ल पक्ष से जिन छह मासों में सूर्य उत्तर गमन करते हैं, उन मासों में उपासक प्राप्त होता है (छा. उ. 4।15।5)' इस श्रुति से उत्तरायण ब्रह्मलोक की प्राप्ति में अपेक्षितव्य (कारण-मार्ग) है, इस आशंका का इस सूत्र से अपनोदन (निवारण) करते हैं कि प्रशस्ताप्रसिद्धि अविद्वान् विषयक है, कि दैवयोग से उत्तरायण में अज्ञ का मरण प्रशस्त है । भीष्म के उत्तरायण की प्रतीक्षा पिता की प्रसन्नता से प्राप्त स्वतन्त्रमृत्युता को समझाने के लिये है एवं (पितुवचन मानने के) आचार का पालन करवाने के लिए है। [25]देवयान अर्थात् उत्तरायण मार्ग से जाने वालों को अन्त में अमानव पुरुष कार्य ब्रह्म को प्राप्त करवाता है न कि परब्रह्म को। कार्य ब्रह्म (अपर ब्रह्म वा हिरण्यगर्भादि) को भी अन्य पदार्थों की अपेक्षा समीपता से आकाश के समान परब्रह्म की सदृशता असङ्गता आदि से ब्रह्म शब्द से उसका कथन होता है, और उसकी प्राप्ति से ज्ञान क्रम से अमृतत्व होगा ।

श्रीमद्भगवद्गीता (8/23से26), छान्दोग्योपनिषद् (4।15।5), ब्रह्मसूत्र (4।2।20,21) के शाङ्करभाष्य से स्पष्ट है कि उत्तरायण आदि शब्दों से कालादि नहीं कहे गये हैं किन्तु उन शब्दों से आतिवाहिक (ब्रह्मलोक को प्राप्त कराने वाले) देव विशेष कहे गये हैं ।

महोदय ! आयु सामान्य लोक व्यवहार में सर्वदा पूर्णवर्ष संख्या में ही व्यक्त की जाती है । आपका कथन है कि व्यास जी ने जिस दिन सोलह वर्ष की अतिरिक्त आयु प्रदान किया उस दिन तक शास्त्रार्थ में पाँच दस दिन अधिक निकल गये थे जिसके कारण वैशाख शुक्ल पञ्चमी के स्थान पर वैशाख पूर्णिमा अर्थात् 32 वर्ष 10 दिन की आयु में आचार्य शङ्कर ने शरीरत्याग किया, परन्तु आपकी इस थोथी दलील को ध्वस्त कर देता है शङ्कर-दिग्विजय का यह श्लोक, यथा -

[26]अष्टौ वयांसि विधिना तव वत्स दत्ता -
न्यन्यानि चाष्ट भवता सुधियाऽर्जितानि ।
भूयोऽपि षोडश भवन्तु भवाज्ञया ते
भूयाच्च भाष्यमिदमारविचन्द्रतारम् ।।

अर्थात् -

हे वत्स ! ब्रह्मा ने तुम्हें आठ वर्ष की आयु दी थी, अन्य आठ वर्षों को तुमने ऋषियों की सेवा करने से प्राप्त किया । शिव की आज्ञा से तुम्हें सोलह वर्ष की आयु और प्राप्त हो और यह तुम्हारा भाष्य तब तक भूतल पर टिके जब तक सूर्य, चन्द्रमा और तारे प्रकाशित होते रहें ।

अब बताइये महामण्डलेश्वर जी ! जब उस दिन तक कुल 16 वर्ष 10 दिन हो चुके थें तब व्यास जी ने आचार्य की उम्र 16 वर्ष ही क्यों क़हा ?

आपका कहना है कि आचार्य शङ्कर ने कहा 'मेरी आयु 16 वर्ष पूरी हो चुकी है', यह भी मिथ्या है । महामण्डलेश्वर जी ! स्वयं द्वारा मान्य श्रीशङ्कर-दिग्विजय की इन पंक्तियों को पढ़िये -

[27]मुहूर्तमात्रं मणिकर्णिकायां विधेहि सद्वत्सलसन्निधानम् ।
चिराद् यतेऽहं परमायुषोऽन्ते त्यजामि यावद् वपुरद्य हेयम् ॥

अर्थात् -

हे सज्जनों के प्रेमी व्यास जी ! इस मर्णिकर्णिकाघाट के पास एक मुहूर्त आप खड़े रहिए जब तक कि मैं अपनी परमायु की समाप्ति पर इस हेय शरीर को आज ही न त्याग दूँ। अब बताइये, आचार्य शङ्कर ने कहाँ अपनी आयु सोलह वर्ष बताया है ?

यदि व्यास का वचन 32 वर्ष 10 दिन जीवित रहने पर असत्य नहीं होता तो 32 वर्ष 5 माह जीवित रहने पर कैसे असत्य हो जायेगा ? व्यास जी ने 16 वर्ष 10 दिन को यदि 16 वर्ष कहा तो 16 वर्ष 5 माह को वें 16 वर्ष क्यों न कहते ?

आचार्य शङ्कर मृत्यु शक्ति रोक सकते थे यह तो स्वयं व्यास जी के ऊपर उद्धृत वचनों से स्पष्ट है जहाँ उन्होंने कहा है कि भगवान् शङ्कर की आज्ञा से आप 16 वर्ष और शरीर धारण करें अर्थात् स्वयं अपनी इच्छा से क्योंकि आचार्य स्वयं शिवावतार थे । राजा अमरुक के शरीर में परकाया प्रवेश करने वाले आचार्य के लिये क्या असम्भव था? यदि हम श्रीशङ्कर दिग्विजय में वर्णित तथ्य को सत्य मानें तब तो हमें यही कहना पड़ेगा कि आचार्य शङ्कर की मृत्यु ही नहीं हुई, वे देवताओं की प्रार्थना पर अवतार के हेतु के समाप्त हो जाने के उपरान्त अपने नन्दी पर सवार होकर सशरीर निज धाम चले गये । सम्बन्धित श्लोकों का भाव निम्न है -

[28](देवताओं ने कहना शुरू किया) आप इस जगत् के कारण हैं, विश्व की उत्पत्ति

और लय के हेतु हैं । आपने संसार के कल्याण के लिये विष का पान किया है, काम का दहन किया है और त्रिपुर राक्षस को मार डाला है । जिस कार्य के लिये आपने इस पृथ्वीतल पर अवतार ग्रहण किया था वह कार्य समाप्त को गया । इसलिये हे गिरीश ! हम लोगों के कल्याण के लिये आप स्वर्ग में शीघ्र आइये । विनय पूर्वक देवताओं ने जब यह प्रार्थना समाप्त की तब महादेव ने स्वर्ग में जाने की इच्छा की । उसी समय प्रमथगणों के द्वारा सुसज्जित किया गया नन्दी भगवान् के सामने आकर खड़ा हो गया। उसका शरीर इतना श्वेत था कि उसके सामने शरत्कालीन जल का, दूध का और हंसी का अहंकार क्षण भर में दूर हो जाता था । अपने नन्दी पर सवार हो, ब्रह्मा के कंधे का सहारा लेकर, भगवान् शङ्कर अपने धाम को चले गये । उनके माथे पर चन्द्रमा चमक रहा था और चारों ओर जटा-जूट फैला हुआ था । इन्द्र, विष्णु आदि प्रधान देवतागण उनकी स्तुति कर रहे थे । कल्पवृक्ष के फूलों को उन पर बरसा रहे थे और ऋषि लोग चारों ओर से जय हो, जय हो की ध्वनि कर रहे थे ।'

अनन्तानन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी का यह कहना कि कार्तिक पूर्णिमा को आचार्य का शरीरत्याग सकलप्रमाणविरुद्ध है, असांप्रदायिक-अप्रामाणिक होने से अग्राह्य है, स्वयं उनकी अल्पज्ञता को प्रतिभासित करता है । अपने मत के पक्ष में महामण्डलेश्वर जी ने बिना कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये ही ताम्रपत्र की तिथि को सकलप्रमाणविरुद्ध कह दिया । अब शेष रही सांप्रदायिक मान्यता जिस पर कुछ विचार करना अपेक्षित है। द्वारका में उपलब्ध ~~युधिष्ठिर शक संवत् 2631 के सम्राट् सुधन्वा के ताम्रपत्र एवम्~~ विक्रम संवत् 941 के सम्राट् सर्वजित् वर्मा अपरनाम अमोघवर्ष के ताम्रपत्र तथा उनके काल की एक पुस्तिका एवम् द्वारका के 73वें शङ्कराचार्य द्वारा 1896 -97 ईसवी सन् में रचित पुस्तक 'विमर्शः' में आचार्य शङ्कर की कैलाश गमन तिथि युधिष्ठिर शक संवत् 2663 कार्तिक शुक्ल 15 उल्लिखित है । यही तिथि श्रीगोवर्द्धन मठ पुरी एवम् ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रम की परम्परा में भी मान्य है । शृङ्गेरीपीठ 1914 ई. में मैसूर राज्य के अन्तर्गत था । मैसूर राज्य के तत्कालीन पंडित धर्माधिकारी श्री वेङ्कट सुब्रह्मण्यशास्त्री के पुत्र महाविद्वद्वेङ्कटाचलशर्मा विरचित 'श्रीमच्छङ्कराचार्य चरित्रम् ' है जिसे ईसवी सन् 1914 में पूर्ण किया गया । [29]उक्त पुस्तक में एक प्राचीन पुस्तक से शङ्कराचार्य के जीवनकाल का तिथिक्रम उद्धृत किया गया है जिसमें आचार्य का कैलाश गमन युधिष्ठिर शक संवत् 2663 कार्तिक शुक्ल 15 दिया गया है । यह तो सर्वविदित है कि आचार्य

शङ्कर ने द्वारका, पुरी, बदरिकाश्रम एवम् शृंगेरी स्थित अपने चार आम्नाय मठों में क्रमशः कीटवार, भोगवार, आनन्दवार एवम् भूरिवार नामक चार सम्प्रदायों की स्थापना की थी। ऐसी स्थिति में जब कि चारों सम्प्रदायों की प्राचीन मान्यता के अनुसार आचार्य का कैलाश गमन कार्तिक शुक्ल 15 की तिथि को ही मान्य है तब यह असांप्रदायिक और अप्रामाणिक कैसे हो गया महामण्डलेश्वर महाभाग ?

हाँ, शिष्टाचरण के सम्बन्ध में आपको एक महत्वपूर्ण जानकारी दे देता हूँ। शृंगेरी मठ जिसे आप सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, वहाँ के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले आचार्य श्री विद्याशङ्कर का, जिनके नाम की मुद्रा अब तक शृंगेरी मठ की ओर से लगाई जाती है,[30]ब्रह्मलीनत्व काल शालिवाहन शक संवत् 1255 कार्तिक शुक्ल 7, श्रीमुख संवत्सर शृंगेरी मठ की सूची में भी दिया गया है। अब क्या आप दक्षिणायन में ब्रह्मलीन होने के कारण उन्हें अशिष्ट कहने की धृष्टता करेंगे ?

महामण्डलेश्वर जी का व्यासाशीर्वाद आदि से सम्बन्धित प्रश्न पूर्णतः अनैतिहासिक है एवम् इतिहासविदों की दृष्टि में निरर्थक ही नहीं अपितु व्यर्थ की बकवास है, फिर भी उनकी जिज्ञासा के शमन हेतु मैंने शास्त्रीय धरातल पर भी उसका निवारण कर दिया है आचार्य शङ्कर के काल निर्धारण में इसका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है, यह विज्ञ सुधी विद्वत्गण समझ ही गये होंगे।

पूर्वपक्ष-२

इस विज्ञप्ति का विज्ञपयिता अपना नाम (हस्ताक्षर) रूप से लिखता है - "सुधन्वा सार्वभौमः"। इस पर विचार करने से पूर्व इन भाष्यपंक्तियों को प्रथम देखें -

"इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः, क्षत्रियोऽस्तीति
ब्रूयात् ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्"

इस का अर्थ है कि कोई बोले कि आजकल कोई सार्वभौम क्षत्रिय जैसे नहीं हैं वैसे अन्य समय में भी नहीं रहा और न आगे रहेगा, तो राजसूयादि वैदिक कर्मविधि अप्रामाणिक होगी अर्थात् वह वेदाऽप्रामाण्यवादी होगा। यहाँ पर इदानीमिव च यह दृष्टान्त है।

"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः"

ऐसा न्यायसूत्र है। जिस अर्थ में लौकिकों में और परीक्षकों में ऐक मत्य है वह दृष्टान्त है यह सूत्रार्थ है। प्रकृत में अर्थ यह है कि भाष्यकार के समय में कोई सार्वभौम क्षत्रिय नहीं था यह सर्वमतसिद्ध है। परन्तु सार्वभौम सुधन्वा ही बैठा था। अतः इदानीमिव च यह दृष्टान्त असंगत होगा। अपने को सार्वभौम लिखनेवाले सुधन्वा का यह प्रत्यनुमान उपस्थित होगा।

"भाष्यं प्रमत्तवचनं प्रत्यक्षविरुद्धार्थत्वात् विटवचनवत्"

अथवा - **सुधन्वा धूर्तः, भाष्यकारभक्तरूपेण भाष्यविरुद्धार्थवक्तृत्वात् सुधन्वा न भाष्यकारानुगामी भाष्यविरुद्धमतत्वात्।**

ध्यान रहे, मैं न भाष्यकार पर कोई आरोप लगा रहा हूँ और न सुधन्वा पर ही। मैं उक्त ताम्रपत्र पर टिप्पणी कर रहा हूँ कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाजी के शब्दों में कहना हो तो यह ताम्रपत्र एक पोपलीला मात्र है। झूठा ताम्रपत्र तैयार किया गया है। बाद में पीठासीन या तद्नुयायी किसी धूर्त की करतूत मात्र है।

प्रथम भाग में हमने लिखा है कि शृङ्गेरी के उत्कर्षाऽसहिष्णु पीठासीनों की यह कूट प्रवृत्ति मात्र है यह बात शृंगेरी के लोग ही कहते हैं। वह इतने में ही सिद्ध होती है।

उत्तरपक्ष-२

[31]वामन शिवराम आप्टे के कोश में 'सार्वभौमः' का अर्थ सम्राट्, चक्रवर्ती राजा दिया गया है। [32]गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत के हिन्दी अनुवादक पंडित रामनारायण दत्त शास्त्री राम ने 'सार्वभौमः' का अर्थ 'समस्त भूमण्डल में विख्यात' किया है। [33]यही अर्थ परमहंस जगदीश्वरानन्द सरस्वती को भी मान्य है। [34]मोनियर विलियम्स के संस्कृत-आङ्लकोश में उपर्युक्त दोनों ही अर्थों के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ 'सम्प्रभुता सम्पन्न शासक' भी दिया गया है। [35]मोतीलाल बनारसी दास द्वारा प्रकाशित उत्तर रामचरितम् के हिन्दी अनुवाद में आनन्दस्वरूप ने 'साम्राज्यसंसिनः' का अनुवाद 'सार्वभौमत्व का सूचक' किया है। [36]चौखम्भा विद्याभवन द्वारा प्रकाशित मुद्राराक्षस के अनुवाद में आचार्य जगदीश्वर मिश्र ने 'सार्वभौमाः' का अर्थ सर्वभूमेरीश्वराः अथवा सर्वभूमौ विदिताः इति सार्वभौमाः। (इस विग्रह में सर्वभूमि से अण् प्रत्यय -

‘ अनुशतिकादीनाञ्च’ से उभय पद की वृद्धि विभक्ति कार्य) किया है । वहाँ पर यह शब्द चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये प्रयुक्त है ।

आचार्य शङ्कर ने अपने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में याज्ञवल्क्य जी द्वारा विदेह जनक के लिये प्रयुक्त ‘सम्राट्’ शब्द का अर्थ निम्न प्रकारेण किया है -

[37] **सम्राट् सम्राडिति वाजपेययाजिनो लिङ्गम्; यश्च आज्ञया राज्यं प्रशास्ति, स सम्राट् ; तस्यामन्त्रणं हे सम्राडिति; समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा ।**

अर्थात् -

‘सम्राट्’ यह पद वाजपेय यज्ञ करने वालों का सूचक है; जो भी अपनी आज्ञा से राज्य पर शासन करता है, वह ‘सम्राट्’ होता है; ‘हे सम्राट् ’ यह उसी का सम्बोधन है; अथवा समस्त भारत वर्ष का राजा (सम्राट् कहा गया है) ।

अतएव आचार्य शङ्कर के अनुसार ‘सार्वभौमः’ अथवा ‘सम्राट्’ का तीन अर्थ निश्चित होता है -

1. वाजपेय यज्ञ करने वाला नरेश ।

2. अपनी आज्ञा से अपने राज्य पर शासन करने वाला नरेश अर्थात् वह राजा जो किसी का करद् अथवा अधीनस्थ न हो बल्कि सर्वसम्प्रभुता सम्पन्न राजाधिराज हो।

3. सम्पूर्ण भारत वर्ष का नरेश ।

राजा सुधन्वा के समय उनके अतिरिक्त मगध में अजातशत्रु, कोशल में प्रसेनजित्, कौशाम्बी में उदयन आदि अपनी आज्ञा से अपने राज्य पर शासन करने वाले नरेश थे जो किसी के करद् न होकर सर्वसम्प्रभुतासम्पन्न राजाधिराज थे । इनमें परस्पर एक दूसरे की सम्प्रभुता का अपहरण करने हेतु बहुधा संघर्ष चलता रहता था । ये सभी समकालीन सार्वभौम नरेश थे । अतः सुधन्वा द्वारा प्रयुक्त ‘सार्वभौमः’ का अर्थ आचार्य द्वारा निश्चित किया गया दूसरे क्रम पर आने वाला अर्थ समीचीन एवम् मान्य है ।

ब्रह्मसूत्र भाष्य की पंक्ति - [38]‘इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात् । ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात् ।’ अर्थात् इस समय के समान अन्यकाल में भी सार्वभौम क्षत्रिय नहीं थे ऐसा भी वह कहेगा । तब तो राजसूयादि विधियाँ निराकृत (बाधित) हो जायेंगी । - से स्वतः स्पष्ट है कि वहाँ पर आचार्य शङ्कर का सार्वभौम नरेश से अभिप्राय वाजपेय यज्ञ करने वाला नरेश था क्योंकि उक्त पंक्ति में ‘राजसूय आदि’ यज्ञों का तात्पर्य राजसूय व वाजपेय यज्ञ से है । राजसूय यज्ञ के बाद राजा वाजपेय यज्ञ करके

ही सम्राट् बनता था जिसका प्रमाण है शतपथ ब्राह्मण -

[39]**राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति । सम्राड्वाजपेयेनवार हि राज्यं पर साम्राज्यं कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुमवर हि राज्यं पर सम्राज्यं न सम्राट्कामयेत राजा भवितुमवर हि राज्यं पर साम्राज्य ।**

अर्थात् -

'क्योंकि राजसूय करके राजा बनता है और वाजपेय करके सम्राट्, अतः राजा का पद नीचा है और सम्राट् का ऊँचा । राजा को सम्राट् होने की कामना हो सकती है क्योंकि राजा का पद नीचा है और सम्राट् का पद ऊँचा । परन्तु सम्राट् राजा नहीं बनना चाहता, क्योंकि सम्राट् का पद ऊँचा है और राजा का नीचा । '

[40]**'राजसूयं परं वाजपेय'**

अर्थात् -

'राजसूय नीचा है और वाजपेय ऊँचा है ।'

राजसूय यज्ञ में अभिषेक के समय भी राजा के अधिराज होने की कामना की जाती है । यथा -

[41]**'क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधीति राज्ञामधिराज एधीत्येवैतदाहाति'**

अर्थात् -

'तू क्षत्रों का क्षत्रपति हो' यानी राजाओं का अधिराज' सम्राट्। आचार्य शङ्कर के समकालीन लगभग सभी नरेश या तो अपने प्रारम्भिक राजत्वकाल में जैन या बौद्ध सम्प्रदाय के पक्षपाती थे अथवा उनमें से किसी एक के मतावलम्बी थे अतएव निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भाष्य लेखन काल में कोई भी नरेश वाजपेय आदि यज्ञ करने वाला न था जिससे कि आचार्य द्वारा बताए गये प्रथम क्रम पर आने वाले अर्थ के सन्दर्भ में उसे सार्वभौम अथवा सम्राट् कहा जा सके । यह भी सत्य है कि उस समय कोई भी राजा सम्पूर्ण भारत वर्ष का नरेश भी नहीं था । सम्राट् सुधन्वा निश्चित रूप से राजाधिराज सर्वसम्प्रभुता सम्पन्न शासक थे क्योंकि मठाम्नाय महानुशासनम् में आचार्य शङ्कर ने स्वयं उन्हें महाराज पद से अलंकृत किया है । यथा -

[42]**सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वराः ॥**
धर्म्मं पारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम् ।

अर्थात् -

महाराज सुधन्वा तथा अन्य नरेश इस धर्म परम्परा का निरंतर पालन करें ।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है -

[43] **इन्द्रो वाऽएष पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्र हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति ।'**

अर्थात् -

'वृत्र के वध से पहले वह केवल इन्द्र था । वृत्र के वध के अनन्तर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पीछे महाराजा इसलिये महेन्द्र के लिए चरु हुआ ।' [44]प्रसिद्ध मराठी इतिहासकार श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े लिखते हैं - उस युग में सार्वभौम सत्ता को 'महाराज्य' कहा जाता था । ऐतरेय ब्राह्मण के अध्याय क्र. 38/39 में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य, अतिष्ठ्य तथा एकराज आदि ग्यारह प्रकार के नृपति बतलाये गये हैं । मगध के नृपति एकच्छत्रीय या 'एकराट्' थे अर्थात् राज्य, साम्राज्य, महाराज्य आदि दस प्रकार के सत्ताधिकारियों में श्रेष्ठ थे, अतः स्पष्ट है कि वे "महाराज" थे ।

इससे सिद्ध होता है कि अपने प्रबल शत्रुओं को परास्त कर सुधन्वा सर्वसम्प्रभुता सम्पन्न महाराजा हो चुके थे जो कि आचार्य शङ्कर द्वारा अपने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में दिये गये दूसरे क्रम पर आने वाले अर्थ के परिप्रेक्ष्य में निश्चित रूपेण 'सार्वभौमः' अर्थात् सर्वसम्प्रभुता सम्पन्न स्वतंत्र नरेश थे ।

इसकी पुष्टि मेवाड़ के महाराणा कुम्भकरण अपर नाम कुम्भा के शासनकाल के विक्रम संवत् 1496 तुल्य ईसवी सन् 1439 की तिथि में अंकित गोढ़वाड़ इलाके में राणपुर जैन मन्दिर की प्रशस्ति की पंक्तियों से होती है जिनमें उन महाराणा को 'सार्वभौमः' कहा गया है । यथा -

[45]**'कुलकाननपंचाननस्य विषमतमाभंसारंगपुरनागपुरगागरणनराणका-जयमेरुमंडोरमंडलकरबून्दीखाटूचाटसूजानादिनानानाममहादुर्गलीलामात्रग्रहणप्रमाणि-तजितकाशित्वाभिमानस्य निजभुजोर्ज्जितसमुपार्जितानेकभद्रगजेन्द्रस्य म्लेच्छ-महीपालव्यालचक्रवालविदलनविहंगमेन्द्रस्य प्रचंडदोर्दण्डखंडिताभि-निवेशनानादेशनरेशभालमालालालितपादारविंदस्यअस्खलितललितलक्ष्मी-विलासगोविंदस्यकुनयगहनदहनदवानलायमानप्रतापतापपलायमानसकलबलूल प्रतिकूलक्ष्मापश्वापदवृंदस्य प्रबलपराक्रमाक्रांतढिल्लीमंडलगुर्जरत्रासुरत्राण-**

दत्तातपत्रप्रथितहिंदुसुरत्राणविरुदस्य सुवर्णसत्रागारस्य षड्दर्शनधर्माधारस्य-चतुरंगवाहिनीवाहिनीपारावारस्य कीर्तिधर्मप्रजापालनसत्यादिगुणक्रियमाण-श्रीरामयुधिष्ठिरादिनरेश्वरानुकारस्य राणाश्रीकुम्भकर्णसर्वोर्वीपतिसार्वभौमस्य .... विजयमान राज्ये'

महाराणा कुम्भा 1433 ईसवी सन् से 1468 ईसवी सन् तक मेवाड़ के शासक थे । 1439 ईसवी में मालवा के शासक महमूद खिलजी को इन्होंने परास्त कर कीर्ति अर्जित की । इसी विजय के स्मारक के रूप में चित्तौड़गढ़ का कीर्ति स्तम्भ आज भी मौजूद है, जो 1448 ई0 में बनाया गया था ।

महामण्डलेश्वर जी ! महाराणा कुम्भा के लिये प्रयुक्त अनेक विशेषणों का शब्दार्थ करके एवं उनकी उपाधि 'सर्वोर्वीपति सार्वभौमः' अर्थात् 'सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी सम्राट्' को देखकर कहीं उनको भी धूर्त कहने की धृष्टता न कर बैठना अन्यथा उनके वंशज मेवाड़ के महाराणा आपकी क्या दुर्गति करेंगे यह आप ही समझियेगा ।

अनन्तानन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी ! अज्ञानतावश आप सम्राट् सुधन्वा को धूर्त लिख बैठे हैं उसका तत्काल प्रत्याहार करिये । आपको सम्भवतः यह नहीं ज्ञात है कि [46]बूँदी राजवंश जो कि आज भी अस्तित्व में है, की आधिकारिक वंशावली में सम्राट् सुधन्वा का नाम उनके पूर्वज के रूप में अंकित है, वे चाहमान वंश के संस्थापक चाहमान से गणना करने पर उनकी छठवीं पीढ़ी में आते हैं । इन्हीं सम्राट् सुधन्वा की 57वीं पीढ़ी में अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान थे जिनके वंशज वर्तमान बूँदी राज परिवार के लोग हैं । अब आप स्वयं सोच लें अपने पूर्वज का अपमान करने वाले व उन्हें धूर्त कहने वाले की, चौहान वंशी बूँदी का राजपरिवार किस प्रकार से सेवा करेगा ? अभी भी अवसर हैं उनसे क्षमा याचना कर लीजिए अन्यथा आपकी इतिहासज्ञानानभिज्ञता आपका सिर फोड़वा कर ही दम लेगी ऐसा प्रतीत होता है ।

महामहिममण्डित महामण्डलेश्वर जी ! हिन्दू हृदयहार, गो ब्राह्मण-हिन्दू रक्षक शिवा जी महाराज भी छत्रपति की उपाधि धारण करते थे जो 'सार्वभौम' उपाधि का वाचक है । यह तो निश्चित है कि शिवाजी महाराज सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा नहीं थे और न ही स्वतंत्र राजाधिराज के रूप में उन्हें तत्कालीन भारत के सम्राट् औरंगजेब ने मान्यता ही दी थी । ऐसी स्थिति में क्षत्रपति = सार्वभौम राजाधिराज की पदवी ग्रहण करने वाले शिवाजी महाराज के लिये भी ऐसे दुःशब्द का प्रयोग मत कर दीजिएगा अन्यथा भारत

के गौरव मराठे आपकी क्या गति कर देंगे यह आप भलीभाँति समझ सकते हैं ।

महोदय ! एक ओर तो आप शृङ्गेरीमठाभिमानी होने का दिखावा करते हैं वहीं दूसरी ओर जाने या अनजाने में 'सुधन्वा' के अस्तित्त्व से इनकार कर क्या आप शृङ्गेरी मठ की प्राचीन परम्परा को भी झुठला नहीं रहें हैं ? शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य के पद को विभूषित करने वाले महाज्ञानी विद्यारण्यमुनि (पूर्वाश्रम में माधवाचार्य) द्वारा विरचित श्री शङ्कर दिग्विजय की इन पंक्तियों पर दृष्टिपात करिये -

[47]**राज्ञः सुधन्वनः प्राप नगरीं स जयन्दिशः ।**
प्रत्युद्गम्य क्षितीन्द्रोऽपि विधिवत्तमपूजयत् ॥

अर्थात् - (कुमारिल भट्ट) समस्त दिशाओं को जीतते हुए राजा सुधन्वा की नगरी में आये ।

[48]**अथ शिष्यवरैर्युतः सहस्रैरनुयातः स सुधन्वना च राज्ञा ।**
ककुभो विजिगीषुरेषु सर्वाः प्रथमं सेतुमुदारधीः प्रतस्थे ॥

अर्थात् - इसके अनन्तर उदारबुद्धि शङ्कर, राजा सुधन्वा और अपने हजारों अनुयायियों सहित दिशाओं को जीतने की इच्छा से सेतुबन्ध की ओर चले ।

[49]**इतिवादिनि भूमिपे सुधन्वा यतिराजं निजगावधिज्यधन्वा ।**
मयि तिष्ठति किं भयं परेभ्यस्तव भक्ते यतिनाथ पामरेभ्यः ॥

अर्थात् - (विदर्भराज के) वचन सुनकर धनुष-बाण चढ़ाकर राजा सुधन्वा ने यतिराज (शङ्कर) से कहा - हे यतिनाथ ! जब तक मैं आपका भक्त हूँ तब तक इन पामरों से डरने की क्या आवश्यकता है ?

[50]**इति जल्पति भैरवागमानां हृदयं कापुरुषेति तं विनिन्द्य ।**
निरवासयदात्मवित् समाजात् पुरुषैः स्वैरधिकारिभिः सुधन्वा ॥

अर्थात् - इस प्रकार जब (क्रकच) भैरव आगम के रहस्य को समझा रहा था तब राजा सुधन्वा ने कापुरुष कहकर उसकी निन्दा की और अपने अधिकारी पुरुषों के हाथ उसे वहाँ से निकाल बाहर किया ।

[51]**अथ विप्रकुलं भयाकुलं तद् द्रुतमालोक्य महारथः सुधन्वा ।**
कुपितः कवची रथी निषङ्गी धनुरादाय ययौ शरान् विमुञ्चन् ॥

अर्थात् - इन्हें (कापालिकों को) देखकर ब्राह्मण लोग डर गये । तब महारथी सुधन्वा कवच धारण कर, रथ पर चढ़, धनुष-बाण लेकर लड़ने के लिये आगे आये ।'

उक्त ग्रन्थ के 15वें सर्ग से ज्ञात होता है कि माहिष्मती से आचार्य सेतुबन्ध गये। सेतुबन्ध से पाण्ड्य, चोल, द्रविड़, काञ्ची, विदर्भ, कर्णाटक, पश्चिम समुद्रतट तथा द्वारका होते हुए पुनः उज्जयिनी नगरी में वापस लौटे और उनकी इस सम्पूर्ण यात्रा में महारथी राजा सुधन्वा उनको संरक्षण देने के लिये साथ-साथ चल रहे थे । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् सुधन्वा का इन सभी भूक्षेत्रों पर वर्चस्व था और वे वहाँ के राजाधिराज थे जिनके अधीनस्थ उन क्षेत्रों के राजागण थे । महोदय ! आज भी एक सार्वभौम देश में दूसरा सार्वभौम देश किसी को सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता । क्या अमरीका के राष्ट्रपति रोमन पोप को सुरक्षा प्रदान करते हुए सम्पूर्ण भारत वर्ष में भ्रमण करा सकते हैं ? क्या इस क्रम में वे भारतवर्ष में किसी का वध कर सकते हैं ?

अपने छान्दोग्य उपनिषद् (8/1/6) भाष्य में आचार्य शङ्कर ने सार्वभौम का अर्थ 'यथेच्छ गति' वाला किया है जो सुधन्वा पर पूरी तरह सत्य है ।

शृङ्गेरी मठ के एक अन्य आधिकारिक ग्रन्थ - 'गुरुवंश काव्यम्' जो कि लगभग 1735 ई. सन् में वहाँ के शङ्कराचार्य श्री सच्चिदानन्द भारती (1706 से 1741 ई.) के काल में मठ के 'आस्थान विद्वान्' काशी लक्ष्मण शास्त्री द्वारा विरचित है - से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में आचार्य शङ्कर के समय श्रीनगर (वर्तमान में उत्तरांचल राज्य में बद्रीनाथ के मार्ग में अलकनंदा के तट पर स्थित है यह इसी नाम के कश्मीर के नगर से भिन्न नगर हैं) में भी एक सार्वभौम राजा था । यथा -

[52]तुष्टस्तया देशिकसार्वभौमः श्रीचक्ररीत्या विततं कृतेऽस्य ।
निर्माण्य च श्रीनगरं महात्मा पट्टाभिषेकं विततान तस्मिन् ॥

आप्टे के कोश के अनुसार देशिक का अर्थ है स्थानीय अतएव 'देशिक सार्वभौमः' का अर्थ हुआ 'स्थानीय सार्वभौम अथवा सम्राट्' ।

अब बोलिये महामण्डलेश्वर जी ! जब भाष्यकार के समय में कोई सार्वभौम था ही नहीं और सुधन्वा को मात्र 'सार्वभौमः' उपाधि के कारण आपने कह डाला कि 'यह ताम्रपत्र बाद में पीठासीन या तदनुयायी किसी धूर्त की करतूत मात्र है', तो क्या आचार्य के काल में एक अन्य 'स्थानीय सार्वभौम नरेश' का उल्लेख करने वाले ग्रन्थ 'गुरुवंश काव्यम्' के रचयिता और तत्कालीन शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य को भी भाष्यकार के भक्त के रूप में भाष्य विरुद्ध वक्तृत्व वाले भाष्यकार का अननुगामी धूर्त आप नहीं सिद्ध कर रहे हैं ?

अतएव चारों पीठों के द्वारा मान्य सम्राट् सुधन्वा को धूर्त, भाष्यकार के भक्त के रूप में भाष्यकार के विरुद्ध वक्तृत्व वाला, भाष्यकार का प्रतिगामी कहने वाला, शङ्कराचार्यों के मध्य फूट डालने का कुत्सित प्रयास करने वाला ही स्वामी दयानन्द की पारिभाषिक शब्दावली का पोप हो सकता है । हम सनातन धर्मावलम्बियों की दृष्टि में ऐसा धृष्ट व्यक्ति कालनेमि ही कहा जा सकता है ।

यह कहना कि 'शृङ्गेरी के उत्कर्षाऽसहिष्णु पीठासीनों की यह कूट प्रवृत्ति मात्र है, यह बात शृङ्गेरी के लोग कहते हैं' मात्र एक पोपलीला है । भला शृङ्गेरी के उत्कर्ष से अन्य तीन आम्नाय मठों गोवर्द्धनमठ-पुरी, शारदामठ-द्वारका तथा ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम का अपकर्ष कैसे होगा? चारों आम्नाय मठों के शङ्कराचार्यों के बीच परस्पर प्रेम एवं सौहार्द ही परिलक्षित होता है, वे परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए देखे जाते हैं। इन चारों आम्नाय पीठों के आचार्य हमारी सनातन संस्कृति के स्तंभ हैं । ऐसे में यदि कोई उस परम्परा का अनुयायी इन आचार्यों को धूर्त, आलसराज आदि प्रदर्शित करने का दुःसाहस करता है तो उसकी इस लीला को कालनेमि लीला ही कहा जायेगा । इस पर मुझे तुलसी दास जी की एक पंक्ति का स्मरण हो उठता है -

[53]**'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा । मानहु सत्य बचन कपि मोरा'**

पूर्वपक्ष-३

अब तथाकथित सुधन्वा की भाषा की ओर भी थोड़ा ध्यान दिया जाये । प्रथम लिखा है - श्रीमत्सदाशिवापरावतारमूर्त्ति । सदाशिवावतारमूर्त्ति से ही जब प्रसिद्ध है तो यह अपर विशेषण क्यों दिया है ? "पराःचापराःच" "अपरेयमित" इत्यादि में अपर का अश्रेष्ठ अर्थ होता है तो बताइये परावतार कौन है ? क्यों उसका परोक्षोल्लेख करना? इस अपर शब्द से "अनुप्रासानुरोधेन भूपः कूपे निपातितः" वाली बात ही चरितार्थ होती है । फिर लिखा है - चतुःषष्टिकलाविलासविहारमूर्ति (आचार्य है)

चौसठ कलाओं का वर्णन दो-तीन जगह थोड़-थोड़े फरक से किया है । गीत नृत्य-नाट्यादि सर्वत्र पठित है, जो संन्यासियों के लिये निषिद्ध है । नीवीस्त्रंसन गुह्यस्पर्शादि भी पठित है । इन सब के विलास में विहार आचार्य करते रहे ऐसा कहते

समय तुम्हारी जिह्वा फटी नहीं ? कलम थरथरायी नहीं? विलास का हाव-भावादि अर्थ है ।

स्त्रीणां विलासविव्वोकविभ्रमा ललितं तथा (अमर)

विलासो हावभेदे स्याल्लीलायामपि पुंस्ययम् (मेदिनी)

विहारस्तु जिनालये लीलायां भ्रमणे (हेमचन्द्र)

अमरटीका में भानुजी दीक्षित ने "क्रीडार्थसंचरणस्य" ऐसा अर्थ किया है । विलासपदसाहचर्यात् भानुदीक्षितोक्त अर्थ यहाँ घटित होता है । भाषा में भी यह बड़ा विलासी हो गया कहने पर वही अर्थ इंगित होता है ।

मूर्तिशब्द का भी तन्मयता व्यङ्ग्यार्थ है । जैसे कारुण्यमूर्ति, क्रोधमूर्त्ति आदि में नित्यकारुण्यरूप-दयामय और क्रोधमय-क्रोधस्वभावादि अर्थ है । वैसे विलासविहारमूर्ति में भी विलास-विहार में तन्मय - नित्य लगे रहने वाला अर्थ होगा । क्या आचार्य के लिये ऐसा विशेषण उचित है ?

उत्तरपक्ष-३

यहाँ पर प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि अनन्तानन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर अब वितण्डावाद पर उतर आये हैं जो कि उनकी पराजय का द्योतक है। विश्वविख्यात दार्शनिक डा. एस. राधाकृष्णान् कहते हैं - [54]न्यायशास्त्र का उद्देश्य वितण्डावादियों की कला अर्थात् वाक्छल से हमारी रक्षा करना है । शाब्दिक छल के तीन प्रकार बतलाये गये है : (1) वाक्छल-एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है जो सन्दिग्धार्थ है और श्रोता उसका वक्ता के आशय से भिन्न अर्थ लगाता है। जब कोई यह कहता है कि "अमुक लड़का के पास नव कम्बल है" अर्थात् जिसके पास नया कंबल है (अथवा नौ कंबल हैं), तो वाक्छली उत्तर देता है कि "नहीं, इसके पास नौ नहीं अपितु एक ही कम्बल है ।" (2) सामान्य छल - एक व्यक्ति विशेष के विषय में किये गये कथन को जब सारी जाति पर लागू कर दिया जाय, जैसे किसी के यह कहने पर कि "यह ब्राह्मण विद्वान् और आचारवान् है", वक्रोक्ति-पटु पुरुष आक्षेप करे कि नहीं सभी ब्राह्मण विद्वान और आचारवान् नहीं होते । (3) अपचार छल-अर्थात् जहाँ आलंकारिक भाषा में किये गये कथन को शाब्दिक अर्थ में लिया जाता है । जैसे कि "फाँसी के तख्ते चिल्ला उठते हैं", तो उस पर वक्रोक्ति-पटु पुरुष प्रतिवाद करे कि फाँसी के तख्ते जैसे निर्जीव पदार्थ से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह चिल्ला सके ।'

महोदय ! अवतार हमेशा अपर ब्रह्म का ही होता है पर का नहीं, आप क्यों अपचार छल का अवलम्बन ले रहे हैं । नास्ति परः यस्मात् स अपरः अर्थात् जिससे पर कोई नहीं है वह अपर है । सदाशिवस्य अपरः = न विद्यते परः श्रेष्ठो यस्मात् सः, निरतिशय श्रेष्ठः इत्यर्थः, तादृशः अवतारः, तादृशी मूर्तिः । इस प्रकार अपर का अर्थ श्रेष्ठतम है। अवतार कई प्रकार के होते हैं यथा - दिव्य अवतार व दिव्यादिव्य अवतार । आत्मवीरेश्वर जैसे अवतार, जहाँ साक्षात् प्राकट्य होता है दिव्य अवतार कहलाते हैं । (द्रष्टव्य स्कंदपुराण। काशी खण्ड), इसी प्रकार से भगवान् शिव का इन्द्रावतार (द्रष्टव्य शिवपुराण व महाभारत) दिव्य अवतार था । परन्तु वे अवतार जो मानव के रूप में होते हैं वे दिव्यादिव्य अवतार कहलाते हैं यथा श्रीरामचन्द्र जी एवं श्रीकृष्ण ।

'विलास विहार' उपभोगार्थक नहीं है । विश्वनाथ महापात्र ने साहित्य दर्पण में स्वयं के लिये 'चतुर्दशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' का प्रयोग किया है । इसका तात्पर्य है कि - चौदह भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार था । सदाशिव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती के एक श्लोकात्मक ग्रन्थ का नाम है 'आत्मविद्याविलासः' । काञ्चीकामकोटि पीठ के 25वें आचार्य (कलि सं० 3627 से 3664) का नाम श्रीचिद्विलासेन्द्र तथा 37वें आचार्य (कलि सं० 3940 से 3973) का नाम श्री सच्चिद्विलास था । विद्वानों के लिये विद्यावधूविशेषक व 'विद्यावधूलालाटिक' का प्रयोग भी देखा जाता है । श्रीरामचरित मानस में तुलसीदास जी ने लिखा है - [55]'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई'। अतएव सम्बन्धित विशेषण में 'विलास' का निकृष्ट अर्थ ग्रहण करना अल्पज्ञता और निकृष्टता का परिचायक है ।

जहाँ तक 64 कलाओं का प्रश्न है वहाँ पर यही कहा जा सकता है कि यहाँ पर उनके अन्तर्गत नीवीस्रंसन, गुह्यस्पर्शादि पठित नहीं है । श्रीमद्भागवत महापुराण में लिखा गया है कि सन्दीपनि जी के आश्रम में श्री कृष्ण और बलराम ने अपने विद्यार्थी जीवन काल में 64 दिनों में 64 कलायें सीख लीं । तो महामण्डलेश्वर जी ! क्या ब्रह्मचारी बालकों को सन्दीपनि जी के आश्रम में नीवीस्रंसन, गुह्यस्पर्शादि सिखाया जाता था ?

श्रीमद्भागवत् का उक्त श्लोक निम्नाङ्कित है -

[56]**अहो रात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः ।**

गुरुदक्षिणायाऽऽचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥

इसकी टीका में श्रीधर स्वामी ने लिखा है - कं सुखं लान्ति स्वविदामिति कला इति। अर्थात्- आत्मज्ञानियों को जिससे सुख की प्राप्ति होती है वह कला है । तत्पश्चात् श्रीधरस्वामी जी ने 64 कलाओं की सूची निम्न प्रकारेण प्रस्तुत किया है-

1. गीतम् 2. वाद्यम् 3. नृत्यम् 4. नाट्यम् 5. आलेख्यम् 6. विशेषकच्छेद्यम् 7.तण्डुलकुसुमबलिविकाराः 8. पुष्पास्तरणम् 9. दशनवसनांगरागाः 10. मणिभूमिकाकर्म 11. शयनरचनम् 12. उदकवाद्यमुदकघातः (उदकयानम्) 13. चित्रयोगाः 14. माल्यग्रथनविकल्पाः 15. शेखरापीडयोजनम् 16. नेपथ्ययोगाः 17. कर्णपत्रभंगाः 18.सुगन्धयुक्तिः 19. भूषणभोजनम् 20. ऐन्द्रजालम् 21. कौचुमारयोगाः 22. हस्तलाघवम् 23. चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः 24. पानकरसरागासवयोजनम् 25. सूचीवायकर्म 26. सूत्रकीडा 27. वीणाडमरुकवाद्यानि 28. प्रहेलिका 29. प्रतिमाला 30. दुर्वचकयोगाः 31. पुस्तक वाचनम् 32. नाटकाख्यायिकादर्शनम् 33. काव्यसमस्यापूरणम् 34. पट्टिकावेत्रबाण (न) विकल्पाः 35. तर्ककर्माणि 36. तक्षणम् 37. वास्तुविद्या 38.(सुवर्ण)रूप्यरत्नपरीक्षा 39. धातुवाद 40. मणिराजज्ञानम् 41. आकरज्ञानम् 42.वृक्षायुर्वेदयोगाः 43. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः 44. शुकसारिकाप्रलापनम् 45.उत्सादनम् 46. केशमार्जन कौशलम् 47. अक्षरमुष्टिका कथनम् 48. म्लेच्छितकुतर्कविकल्पाः 49. देशभाषाज्ञानम् 50. पुष्पशकटिकानिमित्त (र्मिति) ज्ञानम् 51. यन्त्रमातृकाधारणम् 52. मातृका संवाच्यम् 53. मानसी काव्यक्रिया 54. अभिधानकोशः 55. छन्दोज्ञानम् 56. क्रियाविकल्पाः 57. छलितकयोगाः 58. वस्त्रगोपनानि 59. द्यूतविशेषः 60. आकर्षक्रीडा 61. बालक्रीडनकानि 62. वैनायिकीनाम् 63. वैजयिकीनाम् 64. वैतालिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् । इति चतुःषष्टिकलाः ।

इन्हीं चौसठ कलाओं को श्री ब्रह्मावधूत श्री सुखानन्द के 1864 ई. सन् में प्रकाशित ग्रन्थ [57]'शब्दार्थ चिन्तामणि', डॉ. राजबली पाण्डेय के [58]'हिन्दूधर्मकोश' तथा गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित [59]'श्रीमद्भागवतमहापुराण' के हिन्दी अनुवाद में भी सूचीबद्ध किया गया है ।

[60]आचार्य बलदेव उपाध्याय ने शारदा तिलक तथा प्रपञ्चसार के अनुसार 38 कलाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है -

1. अमृता 2. मानदा 3. पूषा 4. तुष्टि 5. पुष्टि 6. रति 7. धृति 8. शशिनि

9. चन्द्रिका 10. कान्ति 11. ज्योत्सना 12. श्री 13. प्रीति 14. अंगदा 15. पूर्णा 16. पूर्णामृता 17. तपिनी 18. तापिनी 19. धूम्रा 20. मरीची 21. ज्वालिनी 22. रुचि 23. सुषुम्ना 24. भोगदा 25. विश्वा 26. बोधिनि 27. धारिणी 28. क्षमा 29. धूम्रार्चि 30. उष्मा 31. ज्वलिनी 32. ज्वालिनी 33. विस्फुलिङ्गिनी 34. सुश्री 35. सुरूपा 36. कपिला 37. हव्यहा 38. कव्यहा ।

उपर्युक्त 38 कलाओं में 1 से 16 क्रमांक की कलायें चन्द्रमा की सोलह कलाएं, 17 से 28 क्रमांक की कलाएँ सूर्य की बारह कलाएँ तथा 29 से 38 क्रमांक की कलाएँ अग्नि की 10 कलाएँ हैं ।

[61]प्रश्नोपनिषद् में पुरुष की 16 कलाएँ वर्णित हैं जिनमें एक प्राण भी है। [62]बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि 10 प्राण और आत्मा ये ग्यारह रुद्र हैं । इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् की 16 कलाओं में प्राण की अन्य 9 कलाओं तथा आत्मा का योग करने पर कुल 26 कलाएँ प्राप्त होती हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं ।

39. प्राण 40. अपान 41. व्यान 42. उदान 43. समान 44. कूर्म 45. कृकल 46. देवदत्त 47. धनञ्जय 48. नाग 49. आत्मा 50. श्रद्धा 51. पृथ्वी 52. अप 53. तेज 54. वायु 55. आकाश 56. इन्द्रियाँ 57. मन 58. अन्न 59. वीर्य 60. तप 61. मन्त्र 62. कर्म 63. लोक और 64. नाम ।

इस प्रकार चौसठ कलाओं का यह दूसरा समूह हुआ । महाभारत में 30 कलाओं का नामोल्लेख किया गया है, यथा -

1. बुद्धि 2. सत्त्व 3. अहंकार 4. प्रकृति (माया) 5. व्यक्ति (प्रकाश) 6. द्वन्द्वयोग 7. काल 8. सद्भावयोग 9. असद्भावयोग 10. पृथक् पृथक् कलाओं के समूह की समग्रता, संघात 11. पृथ्वी 12. अप 13. तेज 14. वायु 15. आकाश 16. रूप 17. रस 18. गन्ध 19. शब्द 20. स्पर्श 21. नेत्र 22. श्रोत्र 23. घ्राण 24. त्वचा 25. स्वादेन्द्रिय (जिह्वा) 26. मन 27. वासना 28. विधि 29. शुक्र 30. बल ।

गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित महाभारत के उक्त श्लोकों की पादटिप्पणी में अनुवादक ने लिखा है कि - 'विधि' शब्द से वासना के बीजभूत धर्म और अधर्म समझने चाहिए । वासना का उद्बोधक संस्कार ही 'शुक्र' है । वासना के अनुसार विषय की प्राप्ति के अनुकूल जो यत्न है वही 'बल' है ।

अतः वासना, विधि, शुक्र और बल इन चार कलाओं में संन्यासी का परीक्षण

करना असंगत प्रतीत होता है । इनमें से संन्यासियों के लिये 26 कलाओं का ज्ञान वांछनीय हो सकता है । अतएव चन्द्रमा की सोलह कलाएँ, सूर्य की 12 कलाएँ, अग्नि की 10 कलाएँ तथा महाभारत में वर्णित 30 कलाओं में से चार को छोड़कर 26 कलाओं के ग्रहण से 64 कलाओं का यह तीसरा समूह बनता है ।

[64]हिन्दूधर्मकोष के अनुसार कला का अर्थ है शिव की शक्ति का एक रूप । शिव द्वारा विश्व की क्रमिक सृष्टि अथवा विकास की प्रक्रिया का ही नाम कला है । आकार या शक्ति की माप को ही कला कहा जाता है यथा चन्द्रमा की पन्द्रहवीं कला, 16 कला का अवतार आदि । [65क]निरुक्त में कला का अर्थ 'सोम का विशेष माप' दिया गया है। [65ख]शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है पशुओं में सोलह कलाएँ होती हैं । इन विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कलाओं की पहचान प्रसङ्गानुकूल व्यक्ति सापेक्ष करनी चाहिए।

चतुःषष्टिकलानांविलासविहारः = लीलाविहारः यस्यां मूर्तौ तादृशः । (ज्ञान मूर्ति) कलाकर्तृकः अन्यविलासविहारः, न तु भगवत्पादकर्तृकः । सर्वज्ञत्वात् तादृशविशेषणं युज्यते । यथा - आत्मविद्याविलासः, वाणीविलासः, चिद्विलासः ।

गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्कर भाष्य के अनुवादक ने कला का अर्थ निम्न प्रकारेण किया है - [65ग]'कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया सा कला। अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन (ढका हुआ) है उसे कला कहते हैं। इन्होंने ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप को ढक रखा है, इसलिये ये कलायें हैं ।' उसी उपनिषद् के शाङ्कर भाष्य में दिया गया है । [66]छः अष्टक; [67]विराट् , सूत्र (हिरण्यगर्भ) और चौदह भुवन ब्रह्म की कलायें हैं ।

[68]चौदह भुवनों के नाम हैं -

1. सत्य 2. तप 3. जन 4. मह 5. स्व 6. भुव 7. भू 8. अतल 9. वितल 10. सुतल 11. तलातल 12. महातल 13. रसातल 14. पाताल । आठ अष्टकों का विवरण अधोलिखित है -

[69]1. पृथ्वी 2. जल 3. अग्नि 4. वायु 5. आकाश 6. मन 7. बुद्धि 8. अहंकार- यह प्रकृत्यष्टक है ।

1. त्वचा 2. चर्म 3. मांस 4. रुधिर 5. मेद 6. अस्थि 7. मज्जा 8. शुक्र - यह धात्वष्टक है ।

1. अणिमा 2. महिमा 3. गरिमा 4. लघिमा 5. प्राप्ति 6. प्राकाम्य 7. ईशित्व

8. वशित्व - यह ऐश्वर्याष्टक है ।

1. धर्म 2. ज्ञान 3. वैराग्य 4. ऐश्वर्य 5. अधर्म 6. अज्ञान 7. अवैराग्य 8. अनैश्वर्य - यह भावाष्टक है ।

1. ब्रह्मा 2. प्रजापति 3. देव 4. गन्धर्व 5. यक्ष 6. राक्षस 7. पितृगण 8. पिशाच - यह देवाष्टक है ।

1. दया 2. क्षमा 3. अनसूया 4. शौच 5. अनायास 6. मङ्गल 7. अकृपणता 8. अस्पृहा - यह गुणाष्टक है । यह चौसठ कलाओं का चौथा समूह हुआ ।

भगवान् आदि शंकराचार्य ने स्वरचित सौन्दर्यलहरी नामक ग्रन्थ में 360 कलाओं का वर्णन किया है जिसमें मन की 64 कलाएँ कही हैं । सौन्दर्यलहरी के 14वें श्लोक-

क्षितौ षट्पंचाशत् द्विसमधिक-पंचाशदुदके ।
हुताशे द्वा-षष्टिश्चतुरधिक पंचाशदनिले ॥
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये ।
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम् ॥

गुप्तावतार बाबाश्री द्वारा विरचित सार्थसौन्दर्यलहरी नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या निम्न है-

हे माँ, हे सर्व-सिद्धि-मयि ! आप श्री के चरण कमल पञ्च-तत्त्वात्मक केन्द्र-बिन्दु-महाकाश से परम-पर हैं । केन्द्र-बिन्दु 360 कला का होता है । उसमें की 56 भवात्मक मयूखायें पृथ्वी की, 52 जलात्मक उदधि की, 62 अग्न्यात्मक वह्नि की, 54 अनिलात्मक वायु की, 72 आकाशात्मक शून्य (व्योम) की और 64 मयूखायें मन की हैं । पञ्च-तत्त्वात्मक इस देह की सब मिला कर 296 कलायें हैं और मन की 64 । इस प्रकार कुल 360 कलायें (मयूखायें) हुईं । इनमें मन की 64 कलायें निम्न हैं । ....64 कलात्मक मन अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः, अः, अं, औं, ओं, ऐं, एं, ऊं, उं, ईं, इं, आं, अं, श्रीं, ऐं, अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः,अः, अं, औं, ओं, ऐं, एं, ऊं, उं, ईं, इं, आं, अं, ह्रीं, क्लीं, अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः = 64 । यह चौंसठ कलाओं का पाँचवाँ समूह हुआ ।

शृङ्गेरी वालों के अनुसार - व्यास जी ने आचार्य शङ्कर की स्तुति करते हुए कहा, 'तुममें रोष लेशमात्र भी नहीं है । तुम अपने मन में समस्त कलाओं को धारण करते

हो । समग्रभाव से वेदान्त (उपनिषदों) में उत्पन्न ब्रह्म विद्यारूपी पार्वती के द्वारा तुम सदा आलिङ्गित हो । अतः तुम अद्भुत शङ्कर हो । तुम्हारा वर्णन नहीं किया जा सकता । यथा-

[70]रोषानुषङ्ग कलायाऽपि सुदूर मुक्तो
धत्सेऽधिमानसमहो सकलाः कलाश्च ।
सर्वात्मना गिरिजयोपहितस्वरूपः
शक्यो न वर्णयितुमद्भुतशङ्करस्त्वम् ॥

ऊपर कथित 'समस्त कलाओं' का तात्पर्य पूर्वोल्लिखित ब्रह्म की 64 कलाओं से है । काम कलायें इतर है यह भी शृङ्गेरी वालों का मानना है । वे कहते हैं कि सभी कलाओं में आचार्य की परीक्षा लेने के पश्चात् देवी ने वात्सायन शास्त्र (काम कलाओं से सम्बन्धित शास्त्र) से प्रश्न पूछा जिसका समाधान आचार्य ने राजा अमरुक के शरीर में परकाया प्रवेश का आश्रय लेकर किया । यथा -

[71]दित्सामवेत्यास्य यतीशवाण्योः मध्ये बबन्धुः प्रति सीरिकां ज्ञाः ।
कलासु सर्वासु परीक्ष्य देवी पप्रच्छ वात्सायन शास्त्र एतम् ॥
दिनानि कान्यप्यवधिं तदुक्त्यै याचन्प्रमीतामरुकेन्द्र कायम् ।
प्रविश्य योगाद्बुभुजे स भोगांश्चक्रे कृतिं चामरुकं तदर्हम् ॥
शङ्कां प्रविज्ञाय तदा महिष्यास्तद्देहमुत्सृज्य निजं प्रविश्य ।
स्तुत्वा नृसिंहं पुनरेत्य देवीं पृष्टस्तया काम कलामवोचत् ॥

ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर के लिये प्रयुक्त 'चतुष्षष्टिकलाविलासविहारमूर्ति' में गीत, नृत्य-नाट्यादि, नीवी संस्रन, गुह्यस्पर्शादि की कल्पना कोई करे तो आपके शब्दों में [72क]'यह सब दार्शनिक ग्रन्थानध्ययन निबन्धन मौढ्यातिरिक्त कुछ नहीं है' और [72ख]पारम्पर्यानभिज्ञ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के मन की दुर्दशा अवर्णनीय होती है' [73]'एक झूठ को सच साबित करने के लिये हजार झूठ बोलना पड़ता है यह उक्ति इसी पूर्वपक्षी पर चरितार्थ होती है'- क्या यह नहीं कहा जा सकता है? [74]आपके अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि यह सब अनभिज्ञ एवं धूर्तत्वेन प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध जनित संस्कार का परिणाम है । अपने-अपने चश्मे से ही तो देखेंगे ।

मूर्ति शब्द का भी उत्कृष्ट अर्थ आपको श्री विष्णुसहस्रनाम के शाङ्कर भाष्य में मिल जायेगा । वहाँ पर एक श्लोक है -

[75]**विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।**
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिश्शताननः ॥

इसके शाङ्करभाष्य का भाषान्तर है - सर्वात्मक होने के कारण विश्व भगवान् की मूर्ति है इसीलिये वे विश्वमूर्ति हैं,.... अवतारों में अपनी इच्छा से लोकों का उपकार करने वाली अनेकों मूर्तियाँ धारण करते हैं इसलिये अनेक मूर्ति हैं, ... ज्ञानस्वरूप भगवान् की विकल्पजन्य अनेक मूर्तियाँ है। इसलिये वे शतमूर्ति हैं । क्योंकि वे विश्व आदि मूर्तियों वाले हैं इसलिये शतानन हैं । शाङ्करभाष्य को पढ़ने के पश्चात् कोई दुराग्रही अल्पमति ही मूर्ति का निकृष्ट अर्थ है, यह कह सकता है ?

ऐसे व्यक्ति पर महाभारत में व्यास जी द्वारा श्लोकबद्ध वशिष्ठ जी का यह अभिकथन कि - [76]जो वेद और शास्त्र के ग्रन्थों को तो याद रखने में तत्पर है, किन्तु उनके यथार्थ तत्त्व को नहीं समझता उसका वह याद रखना व्यर्थ है । जो ग्रन्थ के अर्थ को नहीं समझता, वह केवल रटकर मानों उन ग्रन्थों के बोझ को ढोता है,.... जिसका चित्त शास्त्र अर्थज्ञान से शून्य है, वह ग्रन्थ के तात्पर्य का ठीक-ठीक निर्णय कर ही नहीं सकता । यदि वह कुछ कहता है तो मनस्वी होने पर भी उपहास का पात्र बनता है ।' - क्या नहीं लागू होता ? सुधी विद्वत्जन ही इसका निर्णय करें ।

महामण्डलेश्वर जी ! जिस निकृष्ट अर्थ की आपने परिकल्पना की है, एक योगी पुरुष के लिये तो ऐसी कल्पना किसी विधर्मी विद्वान् तक ने नहीं की है । यहां पर 64 कला से सम्बन्धित डॉ. अकीफ मानाफ जे. की पुस्तक 'कम्परेटिव कास्मोलॉजी' के एक अंश को प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा - यथा -

[77]According to vedic physics, space inside our universe is multidimensional. There are 64 main dimensions and each dimension is further devided into many sub-dimension. Since the inhabitants of earth can only perceive three dimensions, their senses have no access to many other realms of universal reality. Therfore, We are unable to perceive many other planets and there inhabitants. Further more, there are other palnets which we can perceive but at the same time we can not see their inhabitants. Actually, through the ancient process of Yoga one can obtain access to many other demensions. When a Yogi obtains access to other dimensions, he

can perform unusual activities. For instance, a Yogi can walk through a wall, see and reach objects from a far distance, become very heavy or very light, and so on. It is possible only because the Yogi has obtained access to multydimensional space. It is explained that a Yogi can achive eight mystical perfections. Each perfection gives him access to eight additional dimensions. Thus by acheiving all eight perfections a Yogi obtains access to all 64 (8 multiply 8) dimensions. This actually corresponds with the latest scientific suggestions that space is multi dimensional.

अर्थात् - "वैदिक भौतिकी के अनुसार हमारे ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश बहुकलात्मक है । 64 मुख्य कलाएँ है जो कि अनेक उपकलाओं में विभाजित हैं । पृथ्वीवासियों को केवल तीन कलाओं की (इन्द्रियों से) प्रतीति हो सकती है इसलिए उनकी ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच सार्वलौकिक सत्ता के बहुत से क्षेत्रों तक नहीं होती । इसलिए हम अन्य अनेक ग्रहों एवं उनके निवासियों की प्रतीति करने में असमर्थ हैं । इसके अतिरिक्त अन्य ग्रह भी हैं जिनकी प्रतीति तो हम कर सकते हैं किन्तु उसी समय वहाँ के निवासियों को नहीं देख सकते । वस्तुतः योग की प्राचीन पद्धति से कोई अन्य अनेक कलाओं तक पहुँच उपलब्ध कर सकता है । जब योगी अन्य कलाओं तक की पहुँच प्राप्त कर लेता है तब वह असाधारण गतिविधियों को सम्पादित कर सकता है । उदाहरण के लिये, एक योगी दीवार से होकर जा सकता है, अत्यधिक दूर स्थित वस्तुओं को देख सकता है और उन तक पहुँच सकता है, बहुत भारी अथवा हल्का हो सकता है इत्यादि । यह मात्र इसलिए सम्भव है क्योंकि योगी अपनी पहुँच बहुकलात्मक रहस्यात्मक सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है । प्रत्येक सिद्धि आठ अतिरिक्त कलाओं तक की पहुँच उसे प्रदान करती है । इस प्रकार सभी आठ सिद्धियों की प्राप्ति के द्वारा एक योगी (8×8=) 64 कलाओं तक पहुँच प्राप्त कर लेता है । यह वास्तव में नवीनतम वैज्ञानिक सुझावों कि आकाश बहुकलात्मक है, के अनुरूप है ।"

अन्त में महामण्डलेश्वर जी के शब्दों में - गीत, नृत्य-नाट्यादि, नीवी स्रंसन, गुह्यस्पर्शादि सन्यासियों के लिये निषिद्ध तथाकथित चौंसठ कलाओं के विलास में विहार आचार्य करते रहे ऐसा कहते समय तुम्हारी जिह्वा फटी नहीं ? कलम थरथरायी नहीं ? क्या आचार्य के लिये प्रयुक्त विशेषण का ऐसा अनर्थ करना उचित है ? - कहकर उत्तर

आकाश तक प्राप्त कर चुका होता है । यह व्याख्यायित किया जाता है कि एक योगी 8

पूर्वपक्ष-४

"सर्ववादि दानव नृसिंह मूर्त्ति विशेषण भी सम्यक् नहीं है । सर्ववादी में अद्वैतवादी भी आ जायेगा । तार्किकरक्षादि में **वीतरागकथा वादस्तत्फलं तत्त्वनिर्णयः** लिखा है । तर्कभाषा में **"तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः"** ऐसा लक्षण किया है । **"वादः प्रवदतामहं"** ऐसे गीता में वादजल्पवितण्डाओं में वाद को स्व स्वरूप भगवान ने कहा। वाद का झगड़ा अर्थ आधुनिक है । प्रतिवादी बोलते तो कुछ ठीक भी होता। दानव नृसिंह बोलने पर हिरण्यकाशिपु का पेट फाड़कर अन्त्रमाला को गले में डालने वाला ऐसा बीभत्स रस और रौद्र रस उपस्थित होते हैं जो – **"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" "शान्ता महान्तो निवसन्ति धन्याः"** इत्यादि में सूचित संन्यासियों के लिये स्वीकृत शान्तरस से कारण विरुद्ध होने के कारण विरुद्ध रस समावेशदोष ग्रस्त भी है । आचार्य के शास्त्रार्थ में मुखम्लानि क्रोधादि कुछ भी नहीं होता था यह शङ्करदिग्विजयादि में स्पष्ट है ।

उत्तरपक्ष-४

यहाँ पर भी अनन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी ने वितण्डावाद का अवलम्बन लिया है । सम्बन्धित पंक्ति इस प्रकार है -

'बौद्धादिसर्ववादिदानवनृसिंहमूर्ति' अर्थात् बौद्ध आदि समस्त वादिरूप दानवों के लिये नृसिंहमूर्ति । यहाँ पर 'सर्व' का संकोच 'बौद्धादि' के प्रयोग द्वारा किया गया है । यथा 'निमन्त्रिताः सर्वे ब्राह्मणाः भोजनीयाः' में सर्वे का संकोच 'निमन्त्रिताः' के द्वारा किया गया है । अतः बौद्धादि विशेषण के लगा देने से यहाँ कोई दोष नहीं है ।

'सर्ववादिदानवनृसिंहमूर्ति' एक आलंकारिक वर्णन है जिसका शब्दार्थ कर आप अर्थ का अनर्थ करने पर तुले हैं। यहाँ सर्ववादि दानव से सभी प्रतिपक्षी वादी आशयित हैं न कि अद्वैतवादी । रामचरित मानस की एक पंक्ति है -

[78]**निसिचर हीन करऊँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।**

जिसका अर्थ है - '(श्री रामजी ने) भुजा उठाकर प्रण किया कि मैं पृथ्वी को राक्षसों से रहित कर दूँगा' । परन्तु भगवान् श्रीराम ने विभीषण का वध न करके उन्हें अवशिष्ट राक्षसों का राजा बना दिया । इस पर कोई वितण्डावादी कह सकता है कि 'निसिचर विहीन मही' से तात्पर्य धरती को राक्षसों से हीन करना था ऐसी स्थिति में श्रीराम ने विभीषण एवम् शेष राक्षसों का वध न कर अपनी प्रतिज्ञा भंग की । दूसरा वितण्डावादी यह कहकर कि, राम जो कि यह कहते थे -

[79]**'कोसलेश दशरथ के जाये । हम पितु बचन मानि वन आये ॥'**

और उनके पिता का कहना था -

[80]**'रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहिँ बरु बचन न जाई ॥'**

- कैसे अपनी प्रतिज्ञा भंग कर सकते हैं इसलिये यह कहना कि विभीषण और कुछ राक्षस बचे रहे उनके अवतारत्व के प्रयोजन को निष्फल सिद्ध करना होगा । इसलिए निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रीराम ने विभीषण आदि राक्षसों का वध किया। तीसरा वितण्डावादी यह भी कह सकता है कि ऐसे परस्पर विरोधी बचनों से युक्त श्री रामचरित मानस का संस्करण किसी धूर्त अथवा तदनुयायी की कूट प्रवृत्ति का प्रतिफल मात्र है, तुलसीदास जैसे सन्त और विद्वान् ऐसा नहीं लिख सकते थे ।

तथाकथित शृङ्गेरीमठाभिमानी महामण्डलेश्वर जी शृङ्गेरी मठ के आधिकारिक ग्रन्थ 'गुरुवंश काव्यम्' की निम्न पंक्तियों को पढ़िये -

[81]**'जित्वा सर्वान्वादिलोकान्मतं स्वं**
प्रोद्धास्योर्व्यां सोऽनुजग्राह शिष्यम् ।
श्रीमान्विद्यातीर्थ संज्ञं यतीन्द्रं
छात्रस्तोमैः सेवितं कीर्तिसान्द्रम् ॥

यहाँ पर भी तो शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य श्रीविद्या (शङ्कर) तीर्थ को 'सभीवादियों' को जीतने वाला कहा गया है, तो क्या यह ग्रन्थ भी कूट ग्रन्थ है? अथवा अब आप यहाँ यही मान लेंगे कि 'सर्ववादियों' के अन्तर्गत सभी प्रतिपक्षी वादी ही आते हैं । अद्वैतवादी नहीं ।

आपने कहा कि 'वाद को गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वस्वरूप कहा है । वाद का झगड़ा अर्थ आधुनिक है प्रतिवादी बोलते तो कुछ ठीक होता।' सम्भवतः महामण्डलेश्वर जी जैसा तात्पर्यबोध सम्पन्न व्यक्ति शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य (1381 ई. से 1385 ई. तक)

श्री विद्यारण्य मुनि को ज्ञान देने हेतु उस काल में अप्राप्य था अन्यथा वे क्यों ऐसा लिखते -

[82]उच्चण्डे पणबन्ध बन्धुरतरे वाचंयमक्ष्मापतेः,
पूर्वमण्डनखण्डने समुदभूद्यो डिण्डिमाडम्बरः ।
जाताः शब्दपरम्परास्तत इमाः पाखण्डदुर्वादिना-
मद्य श्रोत्रतटाद् दधते दावानल ज्वालताम् ॥'
[83]'पाखण्डासुर खण्डनैकरसिके बाधा बुधानां' ।
[84]'को वा वादिभटः पटुर्मिव भवेद्वस्तुं पुरस्तान्मुनेः'।
[85]'वाद प्रादुर्विनोदप्रतिकथन सुधीवाद दुर्वारितर्के'।

आपका यह कहना कि - "वाद" का 'कलह' (झगड़ा) अर्थ आधुनिक है और प्रतिपक्षी के लिये वादि का प्रयोग अनुचित है, प्रमाण विरुद्ध है स्वयं शङ्कराचार्य जी ने [86]माण्डूक्योपनिषद् गौड़पादीयकारिका के भाष्य में 'वादी' का अर्थ प्रतिपक्षी किया है । यथा -

'परिदीपिता प्रकाशितानियोन्यपक्षदोषं बुद्धिवादिभिर्बुद्धैपण्डितैरित्यर्थः।'

अर्थात् 'एक दूसरे का दोष बताने वाले प्रतिपक्षी पण्डितों' विद्यारण्य मुनि ने 'वाद' और 'कलह' को समानार्थी तथा प्रतिवादी (प्रतिपक्षी) के लिये 'वादि' का प्रयोग किया है । यथा-

[87]यद वादि वाद कलहोत्सुकयां प्रतिपद्यते हृदयमित्यबले ।
तदसांप्रतं न हि महायशसो महिला जनेन कथयन्ति कथाम् ॥
अतएव गार्ग्यभिधया कलहं सह याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत् ।
जनकस्तथा सुलभाऽबलया किममी भवन्ति न यशोनिधयः ॥

आपने लिखा है नृसिंह बोलने पर बीभत्स और रौद्र रस उपस्थित होते हैं, यह आपके वेदान्तग्रन्थानध्ययन को द्योतित करता है । श्रीचित्सुखमुनि ने अपने ग्रन्थ तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) में लिखा है - 'जिसने खम्भे के मध्य निवास कर अपनी व्यापकता, नरसिंह- शरीर - धारण कर अपनी विश्वरूपता सुव्यक्त कर दी, वह प्रह्लाद-वचन की सार्थकता में प्रत्यक्ष प्रमाणभूत, शारद चन्द्र जैसे निर्मल कलेवर वाला, सिंहगिरिभूषण भगवान् हरि आप सबकी रक्षा करें । जो ज्योति दक्षिणामूर्ति व्यास, शङ्कर तथा ज्ञानोत्तमाचार्य - इन नामों से प्रख्यात हुई, उस सत्य, आनन्द-पदास्पद ज्योति की

में वन्दना करता हूँ । .... प्रमाण (तत्त्वमसि आदि महावाक्य जनित जीव-ब्रह्म ऐक्य) रूपी नखों से महामोहरूपी (जैनबौद्धमतादिरूपी) असुर का संहार करने वाले, स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप भगवान् नृसिंह को नमस्कार करता हूँ ।' यथा -

[88]**स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,**
यः पाञ्चानन पाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मनः ।
प्रह्लादाभिहितार्थ तत्क्षण मिलद्दृष्ट प्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः ॥
ज्योतिर्मद्दक्षिणामूर्ति व्यास शङ्कर शाब्दितम् ।
ज्ञानोत्तमाख्यं तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥
प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥

श्रीमत् प्रत्यक्स्वरूप भगवत् प्रणीत नमन प्रसादिनी टीका में लिखा है - 'प्रमाणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिता जीवब्रह्मैक्याकारा चित्प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिवृत्तिस्तत्प्रतिबिम्बितं वा चैतन्यम् । वाक्यापेक्षया च बहुत्वम् ।

प्रमाणमयैर्नखैर्निर्भिन्नो महामोहाह्वयोऽमरारिरसुरो येन तस्मै । .... स्वप्रकाशा चित्सैवात्मा यस्य । अथवा स्वप्रकाशश्चिद्रूपश्चासावात्मा चेति विग्रहः । एतेन स्वप्रकाशरूपेऽतिशयानाधायकत्वेऽपि मोहनिवृत्तिलक्षणातिशयाधायकतया वेदान्तानां स्वप्रकाशे ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रमाणकृत्यं चोपपादितं भवति तदनेन संविदात्मनोः स्वप्रकाशत्वं प्रतिज्ञातं तदेतद् द्वयमुत्तरत्र यथाक्रमं समर्थमिष्यते ।'

अतः 'बौद्धादिसर्ववादिदानवनृसिंहमूर्ति' का तात्पर्य है - बौद्ध आदि सभी प्रतिवादियों के महामोहरूपी असुर अर्थात् मतों का तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के प्रमाण रूपी नख से जीव-ब्रह्म ऐक्य सिद्धि के द्वारा छिन्न-भिन्न करने वाले आचार्य शङ्कर ।

विद्यारण्य मुनि ने भी लिखा है - आचार्य शङ्कर ने तथागत ... आदि प्रतिपक्षियों के विरोधी मतों को निर्दयता से छिन्न-भिन्न कर दिया । यथा -

[89]**तथागत कथा गता तदनुयायि नैयायिकं,**
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौतातितः ।
विदग्धतिनदग्धधीर्विदित चापलं कापिलं,
विनिर्दय विनिर्दलद् विमत संकरे शंकरे ॥

श्री शङ्कर दिग्विजय में कहा गया है कि - [90]'समर में कतिपय वैदिक वादि योद्धाओं को हाथ पकड़ कर आचार्य ने खींच लिया । वेदबाह्य चार्वाक आदि दार्शनिकों को बलात् मार डाला । कणाद आदि आचार्य बहुत दिन तक बन्दी बनाकर रखे गये थे ... धरणीपति यति की शूरता व दया विचित्र है ।'

यह तो सभी को ज्ञात है कि चार्वाक, कणाद आदि आचार्य शङ्कराचार्य से बहुत पूर्व हुए थे । चार्वाक का लोकायत तथा कणाद का वैशेषिक दर्शन आचार्य से काफी पहले का है अतएव इस आलंकारिक वर्णन का शब्दार्थ ग्रहण करने पर तो विसंगति उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि आचार्य शङ्कर को चार्वाक का समकालीन मानना पड़ेगा अन्यथा उनके द्वारा उसका वध कैसे सम्भव होगा ? इसी प्रकार आचार्य शङ्कर को बिना कणाद का समकालीन माने आचार्य द्वारा उनको बन्दी बनाना क्योंकर सम्भव होगा ? कोई वितण्डावादी उपर्युक्त आलंकारिक वर्णन का अर्थ कर आचार्य को चार्वाक आदि का वध करने के कारण मानव हत्यारा तथा कणाद जैसे आचार्य को बन्दी बनाये रखने के लिये क्रूर व्यक्ति भी कह सकता है, अब महामण्डलेश्वर जी स्वयं बतायें क्या ऐसा अनर्थ करना अल्पज्ञता का द्योतक नहीं होगा ?

यहाँ पर एक सत्य घटना का उल्लेख प्रासंगिक होगा । एक तथाकथित महामण्डलेश्वर जी ने [91]श्रीमद्भगवद्गीता के एक श्लोक का सरलार्थ करते हुए कहा कि 'भगवान् का कहना है कि जानवरों में मैं सिंह हूँ, अतएव सिंह रूप भगवान् की उपासना करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है ।' एक श्रोता प्रवचन सुनने के पश्चात् जब रात में सोया तब उसे इसी आशय का स्वप्न दर्शन भी हुआ । अन्ततः 1 जनवरी 1998 ई0 को वह 'कलकत्ता जन्तुगृह' में सिंह-निवास की चहार दीवारी को लांघ कर एक सिंह को माला पहना कर उसकी पूजा करने लगा । फलस्वरूप सिंह ने उसका वध कर दिया। तात्पर्य बोध रहित व्यक्ति की यही अन्तिम गति होती है ।

हाँ एक बात और, आपने अपनी आलोच्य पुस्तक के पृष्ठ 38 पर अपने गुरु के लिये 'नृसिंहसंज्ञो यति वासवः स वः' लिखा है । अब वहाँ नृसिंह संज्ञा होने से सन्यासियों के हेतु विहित शान्त रस दूषित नहीं हो रहा है ? उनकी ऐसी अनुचित संज्ञा क्यों? यह तो वही बात हुई मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू ।

पूर्वपक्ष-५

"सर्वं ब्रह्मकुलमुद्धतं' यह विशेषण भी झूठा है । आचार्य ने मातृदेहदाहार्थ अग्नि न देनेवाले अपने जन्मस्थान के ब्राह्मणों को श्राप देकर वेदानधिकारी घोषित किया और वहाँ के राजा को भी उन के साथ वैसा ही व्यवहार करने का आदेश दिया। यह कौन सा उद्धार है ?

उत्तरपक्ष-५

यह तो आपका परस्पर विरोधी वक्तव्य है । अभी 'सर्ववादिदानवनृसिंहमूर्ति' को यह कहकर कि आचार्य मुखम्लानादि और क्रोधादि से रहित थे, आपने असम्यक् कहा था । अब आप यहाँ पर आचार्य द्वारा उनके जन्म स्थान के ब्राह्मणों पर कुपित होकर उनके द्वारा शाप देने का दृष्टान्त देकर कह रहे हैं कि 'सर्वब्रह्मकुलमुद्धतं' विशेषण झूठा है। यानी एक विशेषण से आचार्य को क्रोधरहित कहकर झूठा कहते हैं तथा दूसरे विशेषण से आचार्य को क्रोधयुक्त कहकर झूठा कहते हैं इससे प्रतीत होता है कि आप स्नायु-दौर्बल्य एवं मानसिक असंतुलन के ग्रास बन गये हैं । यहाँ भी आप शब्दार्थ करके अनर्थ करने की चेष्टा कर रहे हैं । अब आपको आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द जी के शब्दों में समझा दूँ, जो सचमुच जाति गुण कर्म और स्वभाव से ब्राह्मण थे तथा जिन्होंने दुराग्रह को त्याग कर आचार्य के मत को मान लिया था उन सभी ब्राह्मणों का आचार्य ने उद्धार किया तथा जो पोपलीलाकार पोप ब्राह्मण थे उनको दण्डित किया । वस्तुतः आचार्य ने दण्डित करके उन पोपलीलाकार ब्राह्मणों का भी उद्धार किया क्योंकि 'मठाम्नाय-महानुशासनम्' में आचार्य शङ्कर ने स्वयं कहा है-

[92]आचार्य्याक्षिप्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्म्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

अर्थात् - पाप करने वाले मनुष्य भी आचार्य के द्वारा दण्डित होने पर निर्मल होकर उसी प्रकार स्वर्ग में जाते हैं जिस प्रकार पुण्य कर्मों को करने वाला सज्जन पुरुष ।

वे ब्राह्मण ऐसे थे जिन्हें धर्म की सूक्ष्म गति का ज्ञान नहीं था । शास्त्रों को तो उन्होंने पढ़ा था परन्तु उन्हें उसका तात्पर्य बोध न था । ऐसे तात्पर्य बोध रहित व्यक्ति ! अपना

भी अनिष्ट कर लेते हैं इसलिये उन सभी को वेदानधिकारी घोषित कर वास्तव में उनको और अधिक विपत्ति में फँसने से बचाकर आचार्य ने उनका कल्याण ही किया। मीमांसा का सूत्र है [93]'सर्वत्वमाधिकारिकम्' । 'आधिकारिकम् - संभवमात्रापेक्षम्' ऐसा खण्डदेव आचार्य ने मीमांसा कौस्तुभ में लिखा है । अतः 'सर्वंब्रह्मकुलमुद्धृतम्' विशेषण उक्त सूत्र के अनुसार सर्वथा दोषरहित है ।

अपनी पुस्तक में पृष्ठ 26 पर महामण्डलेश्वर जी लिखते हैं - 'कई साल पहले हमने रावलों से पूछा-आप मूलतः कहाँ के हैं ? ... तो तत्कालीन पुजारी ने कहा - हम केरल के नम्बूद्री ब्राह्मण हैं, उत्तर में वर्णाश्रम व्यवस्था नष्टप्राय हो जाने से आचार्य ने अपनी जन्म भूमि केरल से पवित्र ब्राह्मणों को लाकर यहाँ पुजारी बनाया इत्यादि । उनका बयान मुझे काफी सत्य लगा । अन्यथा टिहरी नरेश का सुदूर दक्षिण केरल से ब्राह्मण लाने का क्या मतलब था ? पहाड़ी ब्राह्मण भी प्रायः मांस भक्षी होते हैं, अतः पवित्रता के लिये वह उचित था ।'

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है, परन्तु उसके पूर्व यह आवश्यक है कि हम नम्बूदिरिपाद ब्राह्मणों के सम्बन्ध में कुछ जान लें । [94]डॉ. दशरथ ओझा लिखते हैं 'किसी समय कर्नाटदेश में भयंकर अकाल पड़ा ।..... अकालग्रस्त गांव के निवासी महीनों की लम्बी यात्रा पार कर कालड़ी गाँव में आकर बस गये थे ।.... ब्राह्मणों के कुछ परिवार ऐसे थे जो अच्छे तैराक थे । वे वेदशास्त्र में पारंगत थे ही, नौका संचालन में भी बड़े कुशल थे । वे यात्रियों को नौका में बैठाकर नदी पार कराया करते थे । कालड़ी के सामने नदी के दूसरे तट पर एक पुराना शिव मन्दिर बना था । इस शिव मंदिर में पूजा करना बड़े पुण्य का काम माना जाता था । इसी कारण नदी पार कराने वाले ब्राह्मणों का नाम नम्बूदिरिपाद पड़ गया । नम्बूदिरि का अर्थ है नदी पार कराने वाला ।' डॉ. ओझा ने यह भी लिखा है कि आचार्य के पितामह के समय में वे लोग कालड़ी आये थे । बाद में वहाँ के राजा से आचार्य शङ्कर के पितामह ने वैदिक शिक्षा देने वाले वेदपाठी ब्राह्मणों के लिये वह ग्राम अग्रहार के रूप में माँग लिया था । ब्राह्मण परिवार, गाँव वालों की सहायता से कृषि कार्य कर अपनी जीविका चलाते थे । इस प्रकार तीन पीढ़ियों तक यही क्रम चलता रहा अर्थात् आचार्य शङ्कर के जन्म तक ।

उपर्युक्त विवरण से इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि नम्बूदिरिपाद केवल कालड़ी ग्राम के ब्राह्मणों की संज्ञा थी और उनकी संख्या अत्यल्प थी क्योंकि गाँव में अन्य

वर्णों के लोग भी थे जो उनकी सहायता करते थे । अब महामण्डलेश्वर जी हमें यह बताइये जब अपने जन्म स्थान कालड़ी के नम्बूदिरिपाद सभी ब्राह्मणों को शाप देकर आचार्य ने वेदानधिकारी बना दिया तब कहाँ से पवित्र नम्बूदिरिपाद ब्राह्मण बचे जिनको आचार्य ने बदरिकाश्रम का पुजारी बनाया ? महोदय, आचार्य का शाप केवल कुछ गिने चुने नम्बूदिरिपादों के लिये था सब नम्बूदिरिपादों के लिये नहीं ।

यह कहना कि 'उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत में पवित्र ब्राह्मण ही नहीं रह गये थे तथा पहाड़ी क्षेत्रों के सम्पूर्ण ब्राह्मण मांसाहारी व अपवित्र होते हैं', मात्र एक वितण्डा है अथवा आपकी अल्पमति का परिचायक है । यह तो सम्पूर्ण उत्तर भारत के ब्राह्मणों और विशेषकर पहाड़ी क्षेत्र के ब्राह्मणों का घोर अपमान करना है जिसकी अपेक्षा किसी सनातन धर्मावलम्बी से तो नहीं ही की जा सकती ? महामान्य ! आचार्य ने पवित्रता की दृष्टि से नहीं बल्कि देश को एकता और अखण्डता के सूत्र में बाँधे रखने के उद्देश्य से दक्षिण भारत में उत्तर भारतीय ब्राह्मण पुजारियों तथा उत्तर भारत में दक्षिण भारतीय ब्राह्मण पुजारियों की नियुक्ति की थी । यही कारण है कि रामेश्वरम् में उत्तरभारत के ब्राह्मण पूजक के रूप में प्रतिष्ठित हैं । यह थी आचार्य की दूरदर्शिता जिसे कोई अल्पदर्शी क्या समझेगा ।

मण्डलेश्वर जी ! जरा यह तो बताइये कि आपने किस गुरु से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया है जिसने शप् धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर अवक्रोश अर्थ में सिद्ध होने वाले शाप शब्द की जगह श्राप सिखा दिया । शाप शब्द के लिए श्राप लिखने वाले मण्डलेश्वर जी,अपने अन्तिम समय में अपनी बनी बनाई छवि क्यों बिगाड रहे हैं ।

पूर्वपक्ष-६

'आन्वीक्षिक्याद्यशेषराजतन्त्रपरिशीलनेन' यह भी विशेषण गलत है । आन्वीक्षिकी प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजनादि षोडश पदार्थों के वर्णनात्मक दार्शनिक ग्रन्थ का नाम है । वह कोई राजनीतिशास्त्र नहीं है । **"आन्वीक्षिकी त्रयी विद्या"** इत्यादि में त्रयी विद्या भी राजनीतिशास्त्र नहीं है । **'अग्निहोत्रहवनादिप्रस्थाना त्रयी"** ऐसी व्याख्या है । वह भी कोई राजनीतिशास्त्र नहीं है ।

विनेयलोकसंप्रार्थनया जगन्नाथ-बदरी-द्वारिका-शृङ्गर्षिक्षेत्रेषु मठसंस्थापनकथन भी पूर्णसत्य नहीं है । शृङ्गगिरि में धूप में व्यथित मरणासन्न नकुल को अपने फनों से छाया पहुँचाने वाले सर्प को देखकर यही निर्वैर आश्रमोचितस्थान है ऐसा आचार्य ने पहले ही निश्चय किया था ।

शृङ्गेरी में सुरेश्वराचार्य आचार्यत्वेन प्रसिद्ध है । आक्षेपकारी ने कई जगह इस का उल्लेख किया है । दूसरी जगह द्वारिका के आचार्यत्वेन उल्लेख किया है । वह भी परस्परविरुद्ध है । वहीं आज अन्वर्थ मठ शृङ्गेरी मठ है ।

उत्तरपक्ष-६

वाह रे महामण्डलेश्वर जी का ज्ञान ! यह तो कोई शास्त्रज्ञानानभिज्ञ ही कह सकता है कि 'आन्वीक्षिकी' दार्शनिक ग्रन्थ का नाम है । वह कोई राजनीतिशास्त्र नहीं है । महोदय ! यह आपने नहीं बताया कि 'आन्वीक्षकी' नामक दार्शनिक ग्रन्थ के प्रणेता कौन थे ? इस ग्रन्थ का प्रकाशन किसने किया ?

आपके ज्ञानवर्द्धन के लिये अब हम राजनीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्रों से आन्वीक्षिकी से सम्बन्धित कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं ।

[95]कौटिल्य अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में लिखते हैं -

'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति - ये चार विद्यायें हैं । .... सांख्य, योग और लोकायत ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं । इसी प्रकार त्रयी में धर्म, अधर्म का; वार्ता में अर्थ-अनर्थ का और दण्डनीति में सुशासन-दुःशासन प्रतिपादित है । त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता-अप्रधानता (बलाबल) को, भिन्न-भिन्न युक्तियों से, निर्धारित करती हुई आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपकार करती है; सुख-दुःख से बुद्धि को स्थिर रखती है; और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य में सक्षम बनाती है । यह आन्वीक्षकी विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गई है ।'

[96]'उपनयन के पश्चात् शिष्टों (सदाचारशील विद्वान् आचार्यों) से त्रयी तथा आन्वीक्षिकी, (विभागीय) अध्यक्षों से वार्ता और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों (सन्धि, विग्रह,यान, आसन, द्वैधीभाव आदि के आचार्यों) से दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करें । ... शास्त्र

श्रवणं से बुद्धि का विकास होता है; उससे योगशास्त्रों में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है । यही विद्या का सुपरिणाम है । जो विद्वान् राजा प्राणिमात्र की हितकामना में लगा रहता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह चिरकाल तक पृथ्वी का निर्बाध शासन करता है ।

मनुस्मृति में लिखा है - 'त्रयीविद्या (अर्थात् चारों वेदों के कर्म, उपासना, ज्ञान विज्ञान) के जानने वालों से त्रयी विद्या, सनातन दण्डनीति, आन्वीक्षिकी, आत्मविद्या और लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (राजा) सीख ले ।' यथा -

[97]त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है राजा को 'अपने राज्य के प्रवेश द्वारों को गुप्त रखने वाला; आन्वीक्षिकी, दण्डनीति और वार्ता तीनों में प्रवीण होना चाहिए ।' यथा -

[98]स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च ।
विमीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥

शुक्रनीति कहती है - 'आन्वीक्षिकी, त्रयी,वार्ता तथा दण्डनीति ये चारों विद्याएँ सनातन हैं । अतः राजा को इसका सतत अभ्यास करना चाहिए । आन्वीक्षिकी में तर्कशास्त्र एवं वेदान्तादि की और त्रयी विद्या में पाप-पुण्य एवं काम-मोक्ष की बातें कही गई हैं ।' यथा -

[99]आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्त्र एवैता अभ्यसेद् नृपतिः सदा ॥
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं प्रतिष्ठितम् ।
त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामोऽकामः प्रतिष्ठितः ॥

महाभारत में भी कहा गया है - 'भरत श्रेष्ठ ! उस (ब्रह्मा जी के नीति शास्त्र) में त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्त्ता और दण्डनीति - इन विपुल विद्याओं का निरूपण किया गया है ।' यथा -

[100]त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥

यह श्लोक भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर को राजा और राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित आख्यान में सुनाया गया है ।

श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है कि सान्दीपनि जी ने श्रीकृष्ण तथा बलरामजी को 'सरहस्य धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, आन्विक्षिकी विद्या, वेदों का तात्पर्य बताने वाले शास्त्र तथा छः भेदों से युक्त राजनीति का अध्ययन करवाया' । यथा-

[101]**सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथांस्तथा ।**
तथा चान्विक्षकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ॥

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं - [102]"देखना 'वीक्षण' है, गहराई से देखना- एक-एक वस्तु में अन्दर से देखना कि वह इसमें है या नहीं 'अनु-वीक्षण' है ।" इसी अनुवीक्षण से सम्बन्धित विद्या का नाम आन्वीक्षिकी है ।

महामहोपाध्याय पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का अभिकथन है - [103]'आन्वीक्षिकी' तर्क विद्या को कहते हैं । इसका विवरण न्याय भाष्य में इस प्रकार दिया गया है; प्रत्यक्षागमाभ्यां ईक्षितस्य अनु ईक्षणं अन्वीक्षा तया प्रवर्त्तते इति आन्वीक्षिकी ।"

अब तो महामण्डलेश्वर जी की समझ में आ गया होगा कि 'आन्वीक्षिकी' एक दर्शन ग्रन्थ नहीं है अपितु एक विद्या है जिसका पठन-पाठन त्रयी विद्या के साथ राजाओं के लिये अनिवार्य तथा हितकर था ।

आगे आपका कहना है कि 'आचार्य ने प्रथम ही शृङ्गेरी में आश्रम बनाने का निश्चय कर लिया था इसलिये विनेयलोकसम्प्रार्थनया जगन्नाथ-बदरी-द्वारिका-शृङ्गर्षिक्षेत्रेषु मठ संस्थापन कथन भी पूर्णतः सत्य नहीं है ।' यहाँ पर भी आप छल कर रहे हैं । वस्तुतः वह वाक्य इस प्रकार है -

ब्रह्मक्षत्राद्यस्मत्प्रमुखनिखिलविनेयलोक सम्प्रार्थनया चतस्त्रो धर्मराजधान्यो जगन्नाथ- ब्रदरी-द्वारका-शृङ्गर्षिक्षेत्रेषु भोगवर्द्धन ज्योतिश्शारदाशृङ्गेरीमठपर-सञ्ज्ञकाः संस्थापिताः ।

अर्थात् - 'हम लोगों जैसे प्रमुख ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तथा सम्पूर्ण लोक की प्रार्थना पर (शङ्कराचार्य ने) चार धर्म राजधानियों को जगन्नाथ, बदरी, द्वारका तथा शृङ्गऋषि के क्षेत्र में गोवर्द्धन, ज्योति, शारदा और शृङ्गेरी मठ के नाम से संस्थापित किया' ।

महामान्य ! आश्रम और धर्मराजधानी में अन्तर होता है । आश्रम बनाने की बात आचार्य के मन में रही होगी परन्तु चार धर्मराजधानियों की स्थापना तो उन्होंने तत्कालीन राजाओं और अन्य लोगों की प्रार्थना पर ही की थी यह उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है । इसमें असत्य का परिदर्शन आपको किस दिव्य दृष्टि से हो गया ?

क्यों आप निरा झूठ बोल रहे हैं, मैंने कहीं भी सुरेश्वराचार्य को शृङ्गेरी के आचार्य के रूप में नहीं उल्लिखित किया है बल्कि सर्वदा मैंने उनका उल्लेख द्वारका के शङ्कराचार्य के रूप में किया है । परिशिष्ट में शृङ्गेरी से प्राप्त दो 'आचार्यावलियों' को प्रस्तुत किया गया है जिसमें सुरेश्वराचार्य को शृङ्गेरी मठ द्वारा वहाँ का आचार्य दर्शाया गया है परन्तु वहीं पर एक अन्य आचार्यावली में पृथ्वीधराचार्य को वहाँ का शङ्कराचार्य प्रदर्शित किया गया है । शृङ्गेरी मठ के स्रोतों को उद्धृत करते समय मैंने जैसा उनके स्रोतों में लिखा है वही लिख दिया है जो कि न्याय्य है । परन्तु जहाँ मुझे अपनी ओर से लिखना पड़ा है वहाँ मैंने सर्वत्र सुरेश्वराचार्य को शारदापीठ द्वारका का ही शङ्कराचार्य लिखा है। इसमें परस्पर विरोधाभास का आभास यदि किसी को हो गया हो तो यह उसका अपना विभ्रम है ।

पूर्वपक्ष-७

''सोमवंशचूड़ामणियुधिष्ठिरपारम्पर्यपरिप्राप्त भारतवर्षस्य'' यह विशेषण निरा झूठ है । क्योंकि –

................**''दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः।**
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ।।''

युधिष्ठिर से परीक्षित तक का वर्णन कर जनमेजयादि पन्द्रह-बीस नाम गिनाया। फिर दण्डपाणि को बताया । दण्डपाणि का पुत्र निमि राजा हुआ । निमि का पुत्र क्षेमक नामवाला राजा हुआ । (क्षेमक का शायद कोई पुत्रादि नहीं हुआ होगा ।)

इस प्रकार युधिष्ठिरादिवंशावलि कह कर अन्त मे 'क्षेमक' राजा को कहते हुए क्षेमक में पाण्डव वंश की समाप्ति बतायी है । संस्था का अर्थ है – समाप्ति

''संस्था स्पशे स्थितौ मृत्त्यौ''

ऐसा हेमचन्द्र है । **''नमामि जगदुत्पत्तिस्थितिसंस्थितिहेतवे''** ऐसे कवियों का भी प्रयोग है । सृष्टि-स्थिति-संहार वहां विवक्षित है । क्षेमक के बाद आगे तद्वंशवर्णन भी नहीं है । संस्थामवसानं ऐसी वहाँ टिप्पणी है । अतएव युधिष्ठिरपारम्पर्यपरिप्राप्तभारतवर्षस्य यह कितना भारी झूठ है यह कोई भी आसानी से समझ सकता है । बल्कि –

''इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति''

के अनुसार सूर्यवंश भी सुमित्र में आकर समाप्त होता है । और चन्द्रवंश भी -
"योऽन्त्यः पुरञ्जनो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप
तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मनः ।।"
इस में अन्त्यशब्द से चन्द्रवंशीय राजवंश भी रिपुञ्जय में जाकर पूर्णतया समाप्त होता बताया है । अतः यह सुधन्वा न सोमवंश का राजा था, न सूर्यवंश का। अतः युधिष्ठिरपारम्पर्यपरिप्राप्तभारतवर्षस्य यह महाझूठ है ।

उत्तरपक्ष-७

अनन्तानन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी ! आप के उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि या तो आपने पुराणों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया है अथवा आप में नीरक्षीरविवेक बुद्धि का नितान्त अभाव है या यह भी कहा जा सकता है कि आपको सम्बन्धित पुराण वाक्यों का सम्यक् तात्पर्य बोध नहीं है । और यदि यह माना जाय कि आप जैसे तथाकथित विद्वान् के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्ष ठीक नहीं, तब यही कहना पड़ेगा कि यहाँ पर भी आप वितण्डावाद का आश्रय ले रहे हैं जो कि उत्तरगामी विवरणों से स्वतः स्पष्ट हो जायेगा ।

श्री विष्णु पुराण में श्री पराशर जी ने कहा - [104]'अब मैं भविष्य में होने वाले राजाओं का वर्णन करता हूँ । इस समय जो परीक्षित नामक अवनीपति (महाराज) हैं इनके जनमेजय, श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन नामक चार पुत्र होंगे इनमें जनमेजय का पुत्र शतानीक होगा । शतानीक का पुत्र अश्वमेधदत्त होगा । उनके अधिसीम कृष्ण तथा अधिसीम कृष्ण के निचक्नु नामक पुत्र होगा जो कि गङ्गा जी द्वारा हस्तिनापुर के बहा ले जाने पर कौशाम्बी पुरी में निवास करेगा ।' निचक्नु के पश्चात् 22 राजाओं के नामोल्लेख के बाद क्षेमक का नाम देकर कहा गया है, [105]'इस विषय में एक श्लोक प्रसिद्ध है - जो वंश ब्राह्मण और क्षत्रियों की उत्पत्ति का कारणरूप तथा नाना राजर्षियों से सत्कृत है वह कलियुग में राजा क्षेमक के उत्पन्न होने पर समाप्त हो जायेगा ।'

यहाँ पर प्रसंग राजाओं का वर्णन था यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है अतएव क्षेमक के उत्पन्न होने पर यह वंश समाप्त हो जायेगा इस कथन का अभिप्राय

यह है कि हस्तिनापुर से विस्थापित एवं कौशाम्बी में प्रतिष्ठित परीक्षित के एक पुत्र जनमेजय से उत्पन्न राजवंश की सत्ता का क्षेमक के पश्चात् लोप हो जायेगा ।

जनमेजय के कई और भी पुत्र थे जिनका अलग-अलग राजवंश भी ज्ञात होता है। हरिवंश पुराण में लिखा है - [106] काशिराज की कन्या वपुष्टमा के गर्भ से जनमेजय के दो पुत्र, चन्द्रापीड तथा सूर्यापीड हुए । उनमे से चन्द्रापीड राजा हुए । चन्द्रापीड के सौ पुत्र हुए, क्षत्रियों का वह समुदाय जनमेजय (जानमेजय) के नाम से भूमण्डल में विख्यात हुआ, उनमें सबसे बड़ा सत्यकर्ण था, जो हस्तिनापुर में राजा हुआ । सत्यकर्ण का पुत्र प्रतापी श्वेतकर्ण था । श्वेतकर्ण का पुत्र अजपार्श्व हुआ इस प्रकार यह पौरव तथा पाण्डव वंश भूतल में प्रतिष्ठित हुआ'। वहीं पर यह भी लिखा है कि - [107]'यह सम्भव है कि कभी भूमि चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहों के प्रकाश एवं प्रभाव से रहित हो जाय, परन्तु वह पौरव वंश से शून्य कभी नहीं होगी; इसमें संशय नहीं है' । श्रीविष्णु पुराण एवं श्री हरिवंश पुराण के उपर्युक्त विवरणों के सूक्ष्मविश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में जनमेजयपुत्र चन्द्रापीड हस्तिनापुर के राजा न होकर किसी अन्य राज्य के राजा थे तथा हस्तिनापुर के राजा शतानीक थे । इन शतानीक के पौत्र असीमकृष्ण के राजत्वकाल की समाप्ति के पश्चात् हस्तिनापुर की राजसत्ता चन्द्रापीड के पुत्र सत्यकर्ण के अधिकार में आ गयी और असीमकृष्ण के पुत्र निचक्नु ने कौशाम्बी में अपना राज्य स्थापित किया ।

[108]महाभारत, [109]श्रीमद्भागवत एवं [110]गर्गसंहिता से स्पष्टतः द्योतित है कि यदुवंशियों के विनाशकारी गृहयुद्ध एवं श्रीकृष्ण के परलोकगमन के पश्चात् सम्राट् युधिष्ठिर ने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को हस्तिनापुर तथा श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ को इन्द्रप्रस्थ का राज्य दे दिया था । गर्ग संहिता में यह भी कहा गया है कि कालान्तर में वज्रनाभ के पुत्र प्रतिबाहु मथुरा के दक्षिण के भू क्षेत्रों पर तथा परीक्षित पुत्र जनमेजय मथुरा के उत्तर के भू क्षेत्रों पर राज्य कर रहे थे । यह तो निश्चित है कि वज्रनाभ यदुवंशी थे जो कि सोमवंश की एक शाखा मात्र थी । अब यह बताइये महामण्डलेश्वर जी ! यह किस पुराण में लिखा है कि - वज्रनाभ के वंश का भी अन्त हो गया ? जनमेजय के पुत्र चन्द्रपीड के वंश का अन्त हो गया । परीक्षित के अन्य तीनों पुत्रों - श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन के वंशों का अन्त हो गया ?

महोदय ! परीक्षित के उपर्युक्त तीनों पुत्रों का भी अपना अलग-अलग राज्य था और वे सभी अश्वमेध यज्ञ करके सम्राट् का पद प्राप्त कर चुके थे । इसका प्रमाण है शतपथ

ब्राह्मण, जिसमें लिखा है - [111]पहले दो दिन के यज्ञ होते हैं और ज्योति अतिरात्र। इससे भीमसेन के लिये यज्ञ किया था । पहले दो दिन के वही यज्ञ और गो अतिरात्र। इससे उग्रसेन के लिये यज्ञ किया था । वही दो दिन के यज्ञ और आयुष अतिरात्र । इससे श्रुतसेन के लिये यज्ञ किया था । ये पारिक्षितीय हैं । इनके विषय में गाथा आती है कि पारिक्षित यजमानों ने अश्वमेध यज्ञों से एक दूसरे के पीछे पुण्यकर्मों के द्वारा पाप कर्मों को हटा दिया । वहीं पर जनमेजय को भी अश्वमेध यज्ञ करने वाला बताया गया है, यथा - [112]इन्द्रोत दैवाप शौनक ने जनमेजय पारिक्षित के लिए यह यज्ञ किया था । उसको करके उसने सब पापों तथा ब्रह्महत्याओं को दूर कर दिया । जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह सब पापों तथा ब्रह्महत्या को दूर कर देता है ।

[113]श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार सोमवंशी महाराज पुरूरवा के आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय आदि छः पुत्र थे । विजय के वंश में विश्वामित्र हुए जिनके बहुत से पुत्र थे, इनकी संतानों से कौशिक गोत्र में बहुत भेद हो गये । परन्तु उक्त पुराण में यह कहीं नहीं लिखा है कि इनका वंश ही समाप्त हो गया । [114]ऐतरेय ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि इनके अभिशप्त पुत्रों में से एक अंध्र नामधारी भी था जिसने अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया । आंध्र लोग इसी अंध्र के वंशज हैं । [115]श्रीमद्भागवत में पुरूरवा के दूसरे पुत्र आयु के एक पुत्र क्षत्रवृद्ध की वंश परम्परा का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में लिखा है 'क्षत्रवृद्ध की वंश परम्परा में इतने ही नरपति हुए' परन्तु वहाँ यह नहीं लिखा गया है कि क्षत्रवृद्ध का सम्पूर्ण वंश ही समाप्त हो गया बल्कि केवल उस समय तक हुए उस वंश के प्रमुख राजाओं का नाम बताया गया है, इसका वहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है । श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि [116]'जरासंध के पिता बृहद्रथ के वंश में अन्तिम राजा होगा पुरञ्जय अथवा रिपुञ्जय' वहाँ पर यह नहीं लिखा गया है कि वृहद्रथ का सम्पूर्ण वंश ही समाप्त हो जायेगा और उसके वंश में राजेतर भी कोई शेष न बचेगा ।

अब हम सूर्यवंश के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं । पूर्वपक्षी का मानना है कि सम्पूर्ण सूर्यवंश का अस्तित्त्व सुमित्र के साथ समाप्त हो गया । [117]श्री विष्णु पुराण में कहा गया है कि भगवान् राम के लव और कुश नामक दो पुत्र हुए । इसी प्रकार लक्ष्मण के अङ्गद और चन्द्रकेतु, भरत जी के तक्ष और पुष्कल तथा शत्रुघ्न जी के सुबाहु और सूरसेन हुए । कुश के वंश में राजा बृहद्बल हुआ जिसको (महा) भारत युद्ध में

अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने मारा था । वृहद्वल के वंशज प्रमुख राजाओं के नामोल्लेख के क्रम में अन्तिम राजा सुमित्र का उल्लेख करने के पश्चात् विष्णु पुराण में लिखा गया है । [118]"ये सब इक्ष्वाकु के वंश में वृहद्वल की सन्तान होंगे । इस वंश के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है - 'यह इक्ष्वाकुवंश राजा सुमित्र तक रहेगा, क्योंकि कलियुग में राजा सुमित्र के होने पर फिर यह समाप्त हो जायेगा" । वहाँ पहले ही कहा गया है कि इक्ष्वाकु वंश के राजा वृहद्वल के वंश में उत्पन्न होने वाले राजाओं का वर्णन किया गया है और यह भी कहा गया है इक्ष्वाकु का यह राजवंश सुमित्र के साथ समाप्त हो जायेगा, जिसका तात्पर्य यह है कि सुमित्र के हाथ से अयोध्या की राजसत्ता छिन जाएगी । वहाँ यह नहीं कहा गया है कि यह सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवंश का वर्णन है और सुमित्र के साथ ही सम्पूर्ण इक्ष्वाकु वंश का इस भूमण्डल से चिह्न मिट जायेगा ।

[119]श्रीमद्भावतमहापुराण में लिखा है कि इक्ष्वाकु के सौ पुत्र थे । उनमें सबसे बड़े तीन थे - विकुक्षि, निमि और दण्डक । उनसे छोटे 25 पुत्र आर्यावर्त के पूर्वभाग के और पच्चीस पश्चिम भाग के तथा उपर्युक्त तीन मध्यभाग के अधिपति हुए । शेष सैंतालीस दक्षिण आदि अन्य प्रान्तों के अधिपति हुए । इक्ष्वाकु पुत्र विकुक्षी के वंश में श्रीरामचन्द्र हुए जिनके वंश के अन्तिम राजा का नाम सुमित्र दिया गया है । तो क्या सुमित्र के साथ ही इक्ष्वाकु द्वारा उत्पन्न अन्य 99 राजवंशों के प्रवर्तक उनके पुत्रों की संततियाँ भी समाप्त हो गई ? ऐसा भी किसी पुराण में लिखा है?

[120]सूर्यवंशी राजा मनु जो कि इक्ष्वाकु के पिता थे, इक्ष्वाकु के अतिरिक्त नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग, कवि और सुद्युम्न नामक पुत्रों के भी जनक थे । तो क्या सुमित्र के साथ इक्ष्वाकु के इन दस भाइयों में से वंश प्रवर्तक 8 भाइयों से उत्पन्न सभी सन्ततियाँ भी समाप्त हो गयी ? बिना इन सभी के वंशोन्मूलन के सूर्यवंश का अस्तित्व कैसे समाप्त हो सकता है?

[121]श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अनुसार भरत जी ने गन्धर्वों को पराजित कर गन्धर्व देश में तक्षशिला नामकी नगरी बसाकर वहाँ का राज्य अपने पुत्र तक्ष को एवम् गान्धार देश में [122]पुष्कलावत नगर बसाकर वहाँ का राजा अपने अन्य पुत्र पुष्कल को बना दिया । लक्ष्मण के पुत्र अंगद को कारुपथ देश को जीतकर 'अङ्गदीया' नामक पुरी बसाकर वहाँ का राजा बनाया गया, उनके दूसरे पुत्र चन्द्रकेतु को मल्लदेश में चन्द्रकान्ता नामक दिव्य पुरी बसाकर वहाँ का राजा बनाया गया । [123]श्री रामचन्द्र ने दक्षिण कोशल

के राज्य पर वीर कुश को तथा उत्तर कोशल के राजसिंहासन पर लव को अभिषिक्त कर दिया । कुश के लिये विन्ध्य पर्वत के किनारे कुशावती नामक नगरी तथा लव के लिये श्रावस्ती नामक नगरी बसायी गयी । [124]शत्रुघ्न ने अपने पुत्र सुबाहु को मथुरा के राज्य पर तथा शत्रुघाती (सूरसेन) को विदिशा के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया। सुमित्र कुश का वंशज था तो क्या उसके साथ ही लव एवं रामानुजों के 6 अन्य पुत्रों की संततिया भी समाप्त हो गयी ? सुमित्र, कुश से गणना करने पर उनसे 59वें क्रम पर आता है तो क्या 59पीढ़ी तक सभी के एक-एक ही सन्तानें हुई जिसके फलस्वरूप सुमित्र के साथ ही कुश का वंश समाप्त हो गया ? क्या इस 59वीं पीढ़ी के राजत्वकाल तक रामानुजों के पुत्रों तक्ष, पुष्कल, अङ्गद, चन्द्रकेतु, सुबाहु, शत्रुघाती (=शूरसेन) एवम् श्री राम के पुत्र लव के वंशों का विस्तार नहीं हुआ ? सत्य तो यह है कि मेवाड़ का महाराणा वंश शिशौदिया श्रीराम के पुत्र लव का वंशज है जिसका अस्तित्त्व आज तक वर्तमान है । इसी वंश में बप्पा रावल, महाराणा कुम्भा, महाराणा संग्राम सिंह, महाराणा प्रताप सिंह, महाराणा राजसिंह जैसे पराक्रमी शूरवीर हुए हैं । वर्तमानकाल में इस वंश में महाराणा महेन्द्र सिंह व उनके अनुज अरविन्द सिंह आदि प्रसिद्ध हैं । जयपुर का राजवंश राम पुत्र कुश के वंशज होने के कारण अब भी कुशवाहा या कछवाहा कहलाते हैं । इस वंश में वर्तमान काल में कर्नल भवानी सिंह आदि प्रसिद्ध हैं।

[125]गहलौत, कछवाहा, राठौड़, निकुम्भ, बड़गूजर, रघुवंशी, सूर्यवंशी, निमिवंशी आदि अनेक सूर्यवंशी क्षत्रियगण तथा सोमवंशी, यदुवंशी, तंवर या तोमर, गहरवार, चन्देल, हयहय, कलचुरी, सेंगर, झाला, गंग, बनाफर, चौहान आदि चन्द्रवंशी क्षत्रिय गण करोड़ों की संख्या में भारत वर्ष में मौजूद हैं । मेवाड़ के महाराणा वंश, शिशौदिया के ही एक पुरुष के वंश में गो, ब्राह्मण, हिन्दू रक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज उत्पन्न हुए थे । वर्तमान् काल के नेपाल नरेश वीरेन्द्र वीर विक्रम शाह, जंग बहादुर सिंह राणा भी मेवाड़ के शिशौदिया राजवंश की एक शाखा से सम्बद्ध हैं ।

अतः यह कहना कि सुमित्र और रिपञ्जय के साथ सूर्य एवम् चन्द्रवंश का अस्तित्व ही समाप्त हो गया न केवल सफेद झूठ है बल्कि वर्तमान काल के करोड़ों क्षत्रियों का, जिन्होंने रक्त बहाकर इस देश की रक्षा की है घोर अपमान करना है । उनकी उज्वल वंश परम्परा को कलंकित करने का यह एक कुत्सित प्रयास ही कहा जा सकता है जो कि घोर पातक है । अतएव 'सोमवंश चूड़ामणि युधिष्ठिर पारम्पर्य परिप्राप्त भारतवर्षस्य'

यह विशेषण बिल्कुल सत्य है, इसको झूठ कहने वाले को ही लोग महामिथ्यावादी मानेंगे ।

तंवर, तूंअर अथवा तोवर नाम से प्रसिद्ध क्षत्रिय पाण्डवों के वंशज हैं जिनका अस्तित्त्व आज तक वर्तमान है । पृथ्वीराज रासो में महाकवि चंद वरदायी लिखते हैं -

[126]'पंडव वंस अनंग न्रप । पति हथिनापुर ठाम ॥
एक समै जमुना तटह । वसिय राज तहं गाम ॥
अनंग पाल तूंअर तहाँ । दिली बसाई आनि ॥
राज प्रजा नर नारि सब । बसे सकल मन मानि ॥

यह अनंग पाल तंवर भारतवर्ष के अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के मातामह (नाना) थे । [127]कर्नल टाड, ठाकुर उदय नारायण सिंह आदि ने भी तंवरों को परीक्षित (=पाण्डव) वंशी बताया है । [128]'पाण्डु वंशी ग्वालियर के राजा रामसिंह तंवर अपने बेटों शालिवाहन, भवान सिंह व प्रताप सिंह के साथ हल्दीघाटी की लड़ाई में महाराणा प्रताप सिंह की सेना के दायें पक्ष में थे । राजा रामसिंह (तंवर) अपने तीनों बेटों समेत बड़ी बहादुरी से लड़कर काम आये ।' यह 1886 ई. सन् में प्रकाशित महाराणा सज्जन सिंह के आधिकारिक इतिहासकार श्यामल दास द्वारा लिखित मेवाड़ के इतिहास में उल्लिखित है ।

[129]महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी लिखते हैं -

'इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
सुमित्रं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति कलौ ॥'

इसका अभिप्राय यही होता है कि सुमित्र सूर्यवंश या इक्ष्वाकु वंश का अन्तिम राजा हुआ । किन्तु, आज भी भारत में सूर्यवंशी क्षत्रियों की सत्ता और वंश परम्परा है।

[130]महामहोपाध्याय कविराज श्यामल दास लिखते हैं - 'इस बात में अल्बत्तह शंका है, कि भागवत में तो सुमित्र से आगे वंश चलना ही नहीं लिखा है, और हिन्दुस्तान के जितने सूर्यवंशी राजपूत हैं, वे सब अपना मूल पुरुष सुमित्र को मानते हैं, इसकी बावत मेरा खयाल यह है, कि अयोध्या में सूर्यवंशियों का राज्य सुमित्र तक रहा होगा, अथवा राजा सुमित्र के पुत्रों ने वेदमत छोड़कर बौद्ध धर्म इख्तियार कर लिया होगा, इसलिये ब्राह्मणों ने उनके नाम सूर्यवंश की वंशावली से निकाल दिये होंगे, यह नहीं कि वंश ही नष्ट हो गया हो, क्योंकि सूर्यवंश के बड़े राजा रामचन्द्र की औलाद में उदयपुर के

खानदान का होना बहुत सही मालूम होता है ।'

[131]सिक्खों के दशवें गुरु धर्मरक्षक महापराक्रमी श्री गुरुगोविन्द सिंह जी ने अपने दशम ग्रन्थ में लिखा है कि वे श्रीरामचन्द्र के पुत्र लव के वंश में उत्पन्न हुए कालराय के पुत्र सोढ़ी राय के वंशज हैं जो कि सनौढ़ देश में चले गये थे । सोढ़ीराय के जन्म दिन से ही सनौढ़ वंश चला और परमपिता ने इसको आगे बढ़ाया । सोढ़ी राय से जो पुत्र पौत्र पैदा हुए वे सब इस संसार में सोढ़ी कहलाए । श्री रामचन्द्र के पुत्र कुश के वंशज कालकेतु ने राज्यच्युत होने के बाद काशी में जाकर वेद आदि शास्त्रों को पढ़ा जिसके कारण वे बेदी कहलाये । इन्हीं के वंश में गुरु नानक देव का जन्म हुआ था।

[132]भगवान राम के भ्रात्रेय चन्द्रकेतु मल्ल नगरी में बसे थे इसे ही सिक्ख परम्परा में भल्ल कहा गया है । जिसके कारण उनके वंशज भल्ला कहलाए । इसी भल्ला वंश में गुरु अमरदास साहिब का जन्म हुआ था । श्रीरामचन्द्र जी के अन्य भ्रात्रेय तक्ष से त्रेहण वंश चला जिसमें गुरु अंगददेव साहिब हुए थे । गुरु रामदास साहिब, गुरु अर्जुनदेव साहिब, गुरु हरगोविन्द साहिब, गुरु हरिराय साहिब, गुरु हरिकृष्ण साहिब, गुरु तेगबहादुर साहिब आदि परमपूज्य गुरुगण सोढ़ी वंश में ही हुए थे ।

गुरु ग्रन्थ साहिब को गुरुपीठ पर आसीन करने के समय के भट्ट वाही भादसन परगना थानेसर के उद्धरण का हिन्दी भाषान्तर है -

[133]'गुरुगोविन्द सिंह - दशवें गुरु, पुत्र गुरु तेगबहादुर जी के पोता (पौत्र) गुरु हरगोविन्द जी के, परपोता (प्रपौत्र) गुरु अर्जुन जी के, वंश गुरु रामदास जी के, सूर्यवंशी, गोशाल गोत्र, सोढ़ी क्षत्री, निवासी आनन्दपुर परगना कहलूर सम्प्रति नान्देर, तड गोदावरी, देश दक्खन, सम्वत् सत्रह सौ पैंसठ कार्तिक मास की चौथ, शुक्ल पक्ष, बुद्धवार के दिन - ने भाई दया सिंह को श्री ग्रन्थ साहिब लाने का आदेश दिया। आदेश पाकर दयासिंह श्री ग्रन्थ साहिब ले आये । गुरु जी ने पाँच पैसा व एक नारियल आगे भेंट रखा, माथा टेका, उन्होंने सब संगत से कहा मेरा हुक्म है मेरी जगह श्री गुरुग्रन्थ जी को जानना, जो सिख जानेगा उसको उसका फल प्राप्त होगा। गुरु उसकी रक्षा करेंगे। इसको सत्य कर मानना' ।

इससे स्पष्ट है कि सभी दस पूज्य सिक्ख गुरु साहिबान सूर्यवंशी क्षत्रिय थे । पंजाब के सोढ़ी, बेदी, त्रेहण, भल्ला आदि सभी सूर्यवंशी क्षत्री हैं और भगवान् श्री रामचन्द्र एवं उनके अनुजों के वंशज हैं । महामण्डलेश्वर जी ! अपनी अज्ञानतावश आपने यह

क्या अनर्थ कर डाला । प्रचण्ड पराक्रमी धर्मरक्षक सिक्खों के गुरुओं का आपने प्रकारान्तर से अपमान करने का दुःसाहस कर दिया है, क्योंकि आपके कथन के अनुसार उन सभी गुरु साहिबान का सूर्यवंशी होने का दावा करना महाझूठ और पोपलीला निश्चित होता है। अतएव आपकी इसी में भलाई है कि सिक्खों से तत्काल क्षमा याचना करें और अकाल तख्त साहिब की दी हुई सजा को भुगत कर अपने पापों का परिमार्जन करें ।

पूर्वपक्ष-८

''**मामकीनसाम्राज्यव्यवस्थापनमूर्त्ति**'' विशेषण भी गलत है । सुधन्वा का कोई साम्राज्य नहीं था । माना जाये कि युधिष्ठिरपारम्पर्य से साम्राज्य प्राप्त हुआ । उसका व्यवस्थापन क्या है ? स्थापना तो युधिष्ठिर ने ही कर ली । वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्थापना तो ''**सर्वेवर्णा आश्रमाश्च कृतयुगवत्पूर्णे वैदिकाध्वनि नियोजिताः**'' इस अग्रिम विशेषणार्थ के अन्तर्गत है । ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय भी नहीं लगेगा । क्योंकि वहाँ बहिर्भोजनीयत्त्व अन्तर्भोजनीयत्वरूपी कार्यविशेष वक्तव्य है । कृतयुग से बढ़कर कौन सी वर्णाश्रमव्यवस्थापना होगी ? जिस के लिये अस्मद्राज्य को पृथक् करना पड़ा । व्यवस्थापन में मृर्त्युत्प्रेक्षा भी निरर्थक है ।

विश्वेश्वरविश्वगुरुपदजगज्जेजेगीयमानमूर्ति विशेषण भी गलत है । भाष्यकार कहीं भी विश्वेश्वर पद से जेगीयमान (पुनः- पुनरशिशयेनगीयमान) नहीं हुए । ''**विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य**'' ऐसा श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपने गुरु के लिये प्रयुक्त किया है। उसका यह अनुकरण मात्र है । किन्तु वहाँ विश्वेश्वर का विश्वेश्वरसरस्वती अर्थ है । यहाँ पर भी मूर्तिपद अर्थहीन है ।

उत्तरपक्ष-८

यहाँ भी आप वितण्डावाद का प्रश्रय ले रहें हैं । महोदय 'स्थापना' और 'व्यवस्थापन' शब्दों के अर्थ में प्रसंगानुकूल बहुत अन्तर है । मोनियर विलियम्स के संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार 'व्यवस्थापन' का अर्थ 'धर्म निर्णायक' अथवा 'धर्म का निर्णय करने वाला' है । अन्य शब्दों में इसका तात्पर्य है 'धर्मसम्बन्धी मामलों

में निर्णय या मार्गदर्शन करने वाला' । अतएव 'मामकीन साम्राज्य व्यवस्थापन मूर्ति' का तात्पर्य है 'मेरे साम्राज्य में धर्म संबन्धी मामलों का निर्णय अथवा मार्गदर्शन करने वाले या व्यवस्था देने वाले' ।

'सर्वे वर्णा आश्रमाश्च कृतयुगवत्पूर्णे वैदिकाध्वनि नियोजिताः सन्तो यथा शास्त्रमाचरन्ति हि धर्मम्' का अर्थ है - 'समस्त वर्ण और आश्रम इस समय सत्युग के समान वैदिक मार्ग में नियुक्त होकर धर्माचरण कर रहें हैं । यहाँ पर सत्युग से बढ़कर किसी वर्णाश्रम व्यवस्थापन की बात कहाँ कही गयी है ?

[134]ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शङ्कर का अभिकथन है - **'इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायी शास्त्रमनर्थकं स्यात्'** अर्थात् - वह वर्तमान काल के समान कालान्तर में भी वर्णाश्रम धर्म को प्रायः अव्यवस्थित मानेगा, तब तो व्यवस्था विधायक शास्त्र अनर्थक होगा । इससे स्पष्ट है कि भाष्य लेखन काल (ई.पू. 495 से ई. पू. 491) में वर्णाश्रम व्यवस्था अव्यवस्थित हो गई थी । सम्राट् सुधन्वा के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि ई.पू. 475 तक आचार्य शङ्कर एवं तत्कालीन राजाओं के द्वारा वर्णव्यवस्था प्राचीन काल की भाँति पुनः व्यवस्थित कर दी गई थी और सभी लोग प्राचीन काल की तरह पुनः वैदिक मार्ग में नियुक्त होकर अर्थात् जैन-बौद्धादि सम्प्रदायों का परित्याग कर, धर्माचरण कर रहे थे ।

जहाँ तक 'विश्वेश्वर विश्वगुरु' विशेषण का सम्बन्ध है वह सर्वथा उचित है । पूर्वपक्षी ने स्वयं अपनी पुस्तक में यह स्वीकार किया है कि आचार्य शङ्कर साक्षात् भगवान् शङ्कर थे यद्यपि वहाँ पर उन्होंने शङ्कर दिग्विजय के जिस श्लोक को उद्धृत किया है वह अशुद्ध है । उक्त श्लोक का शुद्ध पाठ निम्न है -

[135]**त्वं शङ्करः शङ्कर एव साक्षाद् व्यासस्तु नारायण एव नूनम् ।**
तयोर्विवादे सततं प्रसक्ते किं किंकरोऽहं करवाणि सद्यः ॥

जो भी हो इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी के तात्पर्य बोध में मुझे रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है । स्वयं व्यास जी का भी वचन है -

शक्यो न वर्णयितुम् अद्भुत शङ्करस्त्वम् ।

आचार्य शङ्कर के कैलाश गमन हेतु उनकी प्रार्थना करते हुए देवों ने कहा - हे त्रिनयन आप इस जगत के कारण हैं विश्व की उत्पत्ति और लय के हेतु हैं । आपने संसार के कल्याण के लिए विषपान किया है, काम का दहन किया है त्रिपुर राक्षस को मार डाला

है । जिस कार्य के लिये आपने पृथ्वी तल पर अवतार ग्रहण किया था वह कार्य समाप्त हो गया, इसलिये हे गिरीश ! हम लोगों के कल्याण के लिए आप स्वर्ग में शीघ्र आइये। यथा -

[136]भवनाद्यो देवः कवलितविषः कामदहनः,
पुरारातिर्विश्वप्रभवलयहेतुस्त्रिनयनः ।
यदर्थं गां प्राप्तो भवमथन वृत्तं तदधुना,
तदायाहि स्वर्गं सपदि गिरिशास्मत्प्रियकृते ॥

यहाँ पर आचार्य शङ्कर के लिये भगवान् शङ्कर के निमित्त प्रयुक्त होने वाले विशेषणों - त्रिनयन, आदि देव, कामदहन, गिरीश आदि का प्रयोग किया गया है ऐसी स्थिति में ताम्रपत्र के लेखक द्वारा भगवान् शिव के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले विशेषण 'विश्वेश्वर' का आचार्य शङ्कर के लिए प्रयोग कैसे गलत है ? आचार्य शङ्कर के लिये विद्यारण्य मुनि ने 'क्षितीश' विशेषण का प्रयोग किया है तथा काशी लक्ष्मण शास्त्री ने 'सार्वभौमः' विशेषण का प्रयोग किया है, ये दोनों ही विशेषण 'विश्वेश्वर' के समानार्थी हैं। उक्त दोनों ही विद्वान् शृङ्गेरी मठ की परम्परा के हैं । प्रयोग निम्न प्रकारेण हैं -

[137]यति क्षितीशोऽपि गुरोर्नियोगान् मनो दधे दिग्विजये मनीषी ।
[138]ततः स गत्वा बदरीवनं तच्छिष्यैः समेतो यति सार्वभौमः ।

अब रही बात विश्वगुरु की । इस विशेषण अथवा उपाधि का प्रयोग भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने स्वरचित 'महानुशासनम्' में अपने लिये स्वयं किया है । यथा -

[139]कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायामृषिसत्तमः ।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम् ॥

अर्थात् - कृतयुग में विश्वगुरु ब्रह्मा, त्रेता में ऋषि सत्तम तथा द्वापर में व्यास थे और कलियुग में मैं हूँ । 'विश्वेश्वर विश्वगुरु' की व्याख्या सिद्धान्त बिन्दु व न्याय रत्नावली में शङ्कराचार्य परक की गई है ।

पूर्व में उद्धृत आपके सूत्रों एवं आपके मानदण्ड के अनुसार शङ्कराचार्य को विश्वगुरु न मानने वाले के लिये यह प्रत्यनुमान उपस्थित होगा -

अमुक धूर्तः भाष्यकारभक्तरूपेण भाष्यकारवचनविरुद्धार्थवक्तृत्वात् अमुक न भाष्यकारानुगामी भाष्य विरुद्धमतत्वात् ।

और श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाजी की पारिभाषिक **शब्दावली** में वह व्यक्ति छल कपट से दूसरे को ठग कर कुत्सित व्यवहार करने **वाला कपटी** 'पोप' कहलायेगा ।

अतएव अब तो आपको यह ज्ञात हो गया होगा कि 'विश्वगुरु' **विशेषण** का स्वगुरु विश्वेश्वर तीर्थ के लिये स्वामी मधुसूदन सरस्वती द्वारा प्रयोग किया जाना 'महानुशासनम्' में आचार्य द्वारा स्वयं के लिये प्रयुक्त विशेषण 'विश्वगुरु' का **अनुकरण मात्र है** । इसलिये '**विश्वेश्वरविश्वगुरुपदजगज्जेगीयमानमूर्ति**' विशेषण सर्वथा सही है ।

पूर्वपक्ष-९

"**सर्वे वर्णा आश्रमाश्च कृतयुगवत् पूर्णे वैदिकाध्वनि नियोजिताः**" यह भी भाष्यविरुद्ध और झूठ है । भाष्य में लिखा है – "**इदानीमिव च कालान्तरेऽप्य-व्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीते ततश्च व्यवस्थाविधायिशास्त्रमनर्थकं स्यात्**" यह कहें कि भाष्यलेखन काल की यह बात है, भाष्यलेखनोत्तर **वर्णाश्रमव्यवस्था** कृतयुगवत् स्वयं भाष्यकार ने की ऐसा कहे तो यह भी **मिथ्या है** । **बुद्ध** के बाद ही बौद्ध धर्म पनपा, अशोक जैसे चक्रवर्ती राजा हुए जिन्हों ने कुछ **बचे वर्णाश्रमधर्म** को भी ध्वस्तप्राय किया । राजा ने स्वयं बौद्धधर्मग्रहण किया तो "**यथा राजा तथा प्रजा**" होना ही था । हाँ, यदि अष्टमशती (सन् ७८८से ८२० तक) आचार्य की स्थिति मानते तो यह विशेषण सार्थक होता । क्योंकि उसके **बाद भारत में बौद्धों** का अस्तित्त्व भी समाप्तप्राय हो गया था । बुद्धगया मंदिर मठ भी **संन्यासियों** के हाथ में रहे । भारत स्वतन्त्र होने पर भारत सरकार ने उसे **बौद्धों को दिलाया** । परन्तु वैसा मानने पर आक्षेप्ता की लम्बी नाक जो कट जाती ।

उत्तरपक्ष-९

'**सर्वे वर्णा आश्रमाश्च कृतयुगवत् पूर्णे वैदिकाध्वनि नियोजिताः**' के सम्बन्ध में प्रस्तुत आक्षेप का निराकरण ऊपर किया जा चुका है । **अब हम** यह प्रमाण

प्रस्तुत करेंगे कि आचार्य शङ्कर के भाष्यलेखन काल (ई. पू. 495 से ई.पू. 491) अथवा उसके पूर्व एवं तथाकथित काल 788 ई. से 820 ई. सन् की अवधियों में सम्पूर्ण भारत वर्ष में जैन-बौद्ध सम्प्रदायों का बोलबाला था क्योंकि कुछ अपवादों को छोड़कर सभी तत्कालीन नरेश जैन-बौद्ध मतावलम्बी हो चुके थे ।

[140]आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने कहा है कि 'बुद्ध' और 'जिन' तथा 'बौद्ध' और 'जैन' पर्यायवाची हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । ऐसा ही अमरकोश में भी लिखा है -

सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजन्तथागतः ।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः ।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः ॥
स शाक्यसिंह सर्वार्थः सिद्धश्शौद्धोदनिश्च सः ।
गौतमश्चार्क बन्धुश्च मायादेवी सुतश्च सः ॥

बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर आदि में भी गौतम बुद्ध को जिन कहा गया है ।

जैन-बौद्ध ग्रन्थों एवं अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध को बोधि-प्राप्त होने के पश्चात् भारत वर्ष में जैन-बौद्ध मत का प्रचार-प्रसार बहुत बढ़ गया था । [141]मगध नरेश बिम्बिसार, वत्सराज शतानीक, कोशल नरेश प्रसेनजित, अवन्ति (उज्जयिनी) नरेश चण्ड प्रद्योत, वज्जि नरेश चेटक, गान्धार नरेश पुष्कर साति, सिन्धु-सौवीर नरेश रुद्रायण, हस्तिनापुर नरेश शिव, कलिंग नरेश तोसलिक, मल्ल नरेश हस्तिपाल, अश्मक राज प्रसेन चन्द्र, वाहिय नरेश बाहिय दारु, कुक्कुटवती नरेश महाकप्पिन आदि भारत वर्ष के लगभग सभी नरेश जैन-बौद्ध मतावलम्बी हो चुके थे । राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर का राजा अशोक भी जैनमतावलम्बी हो गया था । एक मात्र अपवाद था शूरसेन का शासक अवन्तिपुत्र जो कि भगवान् कृष्ण का वंशज था वह बुद्ध के जातीय समानता सिद्धान्त का विरोधी तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का समर्थक था। ललितविस्तर में इस नरेश का नाम सुबाहु तथा माधुरिया सूत्र में अवन्तिपुत्र लिखा है।

उपर्युक्त तथ्य से इस बात में रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि उक्त काल में वर्णाश्रम व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी ।

परन्तु आचार्य शङ्कर के भाष्यलेखन काल के पश्चात् [142]मगध नरेश अजातशत्रु,

कोशल नरेश विडूडभ क्रमशः गौतम बुद्ध और शाक्यवंशियों के कट्टर शत्रु हो गये थे। विडूडभ तो शाक्य जाति के लोगों को देखते ही तलवार से दो टुकड़े करवा देता था ।

[143]मृच्छकटिकम् से ज्ञात होता है कि उत्तरी अवन्ती के शासक चण्डप्रद्योत के पश्चात् उसका पुत्र पालक राजा हुआ जिसका राज्य स्थायी न हुआ। आर्यक नामक एक आभीर ने उसका वध कर राजसत्ता पर अधिकार कर लिया । परन्तु भाष्यलेखन के कुछ ही पश्चात् दक्षिणी अवन्ती (माहिष्मती) के शासक सुधन्वा उज्जयिनी पर भी राज्य करते हुए पाये जाते हैं । शृङ्गेरी मठ के आधिकारिक ग्रन्थ से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है । [144]वहाँ यह उल्लेख है कि माहिष्मती नगरी से दिग्विजय के क्रम में आचार्य सेतुबन्ध, पाण्ड्य, चोल, द्रविड़, काञ्ची, विदर्भ, कर्णाटक, पश्चिम समुद्र तट तथा द्वारका होते हुए महाराज सुधन्वा के सैन्य संरक्षण में पुनः उज्जयिनी वापस लौटे । [145]स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी लिखा है जिस समय शङ्कराचार्य उज्जयिनी नगरी में शास्त्रार्थ हेतु पहुँचे उस समय वहाँ का राजा सुधन्वा था । [146]शृङ्गेरी मठ के आधिकारिक ग्रन्थ में लिखा है- राजा सुधन्वा ने श्रुतिनिन्दक बौद्धों को मारने की आज्ञा दी - 'हिमालय से लेकर रामेश्वरम् पर्यन्त बौद्ध बालक से लेकर वृद्धों तक को जो नहीं मारता वह स्वयं मारने योग्य है' - ऐसी आज्ञा राजा ने अपने सेवकों को दी । [147]कल्हण की राज तरङ्गिणी से भी स्पष्टतः ज्ञात होता है कि कश्मीर के राजा जलौक और उसकी पत्नी आचार्य शङ्कर के अनुयायी हो गये थे । शूरसेन का राजवंश पहले से ही ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और वर्णाश्रम व्यवस्था का पोषक था । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ई. पू.491 के पश्चात् आचार्य शङ्कर ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक बार पुनः सभी राजाओं को अपना मतावलम्बी बनाकर सनातन धर्म की ध्वजा फहराते हुए जैन-बौद्ध मत को मृतप्राय कर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनर्व्यवस्थित कर दिया ।

यह व्यवस्था सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के पश्चात् भी 3 वर्ष तक चलती रही। बौद्ध ग्रन्थ महावंश में लिखा है - [148]'सम्राट् धर्माशोक के पिता ब्राह्मण मतानुयायी थे। अतः वे साठ हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया करते थे । सम्राट् अशोक ने भी अपने शासन के तीन वर्षों तक उतने ही ब्राह्मणों को भोजन कराया ।' [149]तत्पश्चात् धीरे-धीरे उसका बौद्धमत की ओर झुकाव बढ़ने लगा और वह बौद्धमतावलम्बी हो गया । सम्राट् अशोक का राज्याभिषेक ई.पू. 269 में हुआ था अतएव उसके बौद्ध धर्म ग्रहण की तिथि ई.पू. 266 निश्चित होती है। [150]ई.पू. 185 में अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ का वध कर

उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने मगध साम्राज्य पर अधिकार कर लिया । उसने दो अश्वमेध यज्ञ किया । पुष्यमित्र ने शाकल में घोषणा की कि 'जो भी मुझे एक श्रमण का सिर भेंट करेगा उसे मैं सौ दीनार दूँगा'। शुङ्गों के समय में ब्राह्मण धर्म वृद्धि को प्राप्त हुआ । ई. पू. 73 में अन्तिम शुङ्ग राजा देवभूति की हत्या करवाकर उसके मंत्री वासुदेव कण्व ने सत्ता पर अधिकार कर लिया । ये भी ब्राह्मणधर्मानुयायी थे । इसके पश्चात् मगध की राजसत्ता पर अंध्र सातवाहनों ने अधिकार कर लिया । ये मूलतः 'आंध्र' देश के शासक थे । इनकी राजधानी औरङ्गाबाद जनपद स्थित पैठण थी । इस वंश के तीसरे राजा शातकर्णी प्रथम ने दो अश्वमेध और एक राजसूय यज्ञ किया था । सातवाहन राजा ब्राह्मण थे ये विश्वामित्र के पुत्र अंध्र के वंशज थे । ये सभी ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे । [151]सातवाहनों के पश्चात् लगभग 240 ई. में राज सत्ता गुप्त वंश के हाथ आ गई । [152] जिनसेन कृत हरिवंश पुराण के अनुसार गुप्तों के शासन का अन्त (319 ई. में गुप्त संवत् के स्थापित होने के) 231 वर्ष पश्चात् 550-51 ई. में हुआ। यही अनुश्रुति एक अन्य जैन ग्रन्थ यतिवृषभ कृत तिलोय-पण्णति (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) में भी पायी जाती है । पर साथ ही इसी से सम्बन्धित एक दूसरी अनुश्रुति उसमें दी हुई है, जिसके अनुसार [illegible] शक काल के 242 वर्ष के पश्चात् 255 वर्ष अर्थात् 575 ई. तक गुप्तों का शासन रहा। इतना ही कहा जा सकता है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में प्राचीन कालीन दो धारणायें हैं, एक के अनुसार उसका अन्त 550-51 ई. में और दूसरे के अनुसार 574-75 ई. में हुआ । [153]गुप्त कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिये विहित अग्निहोत्र और सद्गृहस्थों के उपयुक्त महायज्ञों का महत्व बना हुआ था । ...इस काल में अश्वमेध यज्ञ की चर्चा सबसे अधिक पायी जाती है । स्वयं गुप्त सम्राटों में समुद्रगुप्त और प्रथम कुमार गुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किये थे । वाकाटक वंश के प्रथम प्रवरसेन ने चार अश्वमेध किये । यही नहीं, उन्होंने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, ज्योतिष्टोम, उक्थ, षोडासनन, वृहस्पति सव, साद्यस्क, अतिरात और वाजपेय आदि यज्ञ किये थे ।गया के मौखरिवंशी शासक ने अनेक यज्ञ किये थे । इसी प्रकार बढ़वा (कोटा) के चार मौखरि शासकों में से तीन ने त्रिरात्र यज्ञ किया था । तृतीय शताब्दी के अन्तिम चरण में जयपुर क्षेत्र के दो अन्य शासकों ने भी त्रिरात्र यज्ञ किया था । मालवों द्वारा भी तृतीय शताब्दी में एकष्ठिरात्र यज्ञ किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पौण्ड्रीक यज्ञ किये जाने की सूचना भरतपुर के

एक अभिलेख से प्राप्त होती है । इस प्रकार इस काल में वैदिक श्रौत यज्ञों के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं । ये यज्ञ उत्तर भारत में ही प्रचलित रहे हों ऐसी बात नहीं है । दक्षिण भारत के शासकों ने भी प्रचुर मात्रा में यज्ञ किये थे, यह उनके अभिलेखों से ज्ञात होता है ।

[154]गुप्त वंश के उदय से पहले भी भारशिवों ने गंगा के तट पर दशाश्वमेध घाट पर दस अश्वमेध यज्ञ करके हिन्दू (सनातन) धर्म को लोक प्रिय बनाया था । [155]गुप्तवंशी सम्राटों ने हिन्दू धर्म को संरक्षण प्रदान किया वे विष्णु, शिव, मुरुग (कार्तिक), सूर्य, दुर्गा, सप्तमातृका आदि देवों के उपासक थे । डॉ. कीथ ने ठीक ही कहा है कि गुप्त साम्राज्य ब्राह्मण धर्म और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान का युग था ।

[156]ई. सन् की तीसरी से छठी शताब्दी तक दक्षिण में राज्य करने वाले सभी वंशों में सर्वश्रेष्ठ, सम्मान पूर्ण स्थान का अधिकारी, समस्त दक्षिण की महत्तम सभ्यता वाला वंश निःसन्देह वाकाटकों का तेजस्वी वंश था । [157]वाकाटकवंशी कट्टर हिन्दू थे । उनमें से अधिकांश शिव के अनुयायी थे किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय का जामाता रुद्रसेन विष्णु का उपासक था । हिन्दू धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट कई यज्ञ वाकाटकों ने किये । वाकाटक शासकों ने धर्मपरायण तथा विद्वान् ब्राह्मणों को भूमि और ग्राम भी दान दिये । उन्होंने शिव की उपासना के लिये कई मन्दिर बनाये ।

अब हम थानेश्वर और कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्द्धन (606 ई. से 648 ई.) के काल की भारत की धार्मिक दशा का अवलोकन करते हैं । [158]प्रो. श्रीनेत्र पाण्डेय गहन विवेचन एवं मुद्रा, अभिलेख व साहित्यिक कृतियों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर हो गया था और अहिंसा धर्म में उसकी आस्था हो गई थी किन्तु वह आद्योपान्त ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और शिव तथा सूर्य का उपासक बना रहा । [159]हर्ष के समकालीन गौड़ नरेश शशाङ्क के सम्बन्ध में ह्वेनसांग ने कहा है कि वह बौद्ध धर्म के प्रति हिंसक था । कुशीनगर और वाराणसी के बीच के सभी बौद्ध विहारों का उसने विध्वंस कर दिया । पाटलिपुत्र में बुद्ध के पदचिह्नों से अंकित पत्थरों को उसने गंगा में फेंक दिया । गया के बोधि वृक्ष को उसने काट डाला। बुद्ध की मूर्ति के स्थान पर उसने शिव की मूर्ति स्थापित की । [159क]वातापी का चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन द्वितीय (609 से 642 ई.) सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था । इसने सम्राट् हर्षवर्द्धन को भी पराजित किया था । इस के काल में ब्राह्मण

धर्म का प्राबल्य था । इसने अश्वमेध तथा वाजपेय दोनों ही यज्ञ किये थे ।

हर्षोत्तर काल में हम दो प्रभावशाली सार्वभौम शासक उत्तर भारत में राज्य करते हुये पाते हैं । पहला कश्मीर नरेश मुक्तापीड अपरनाम ललितादित्य (695 ई. से 732 ई.) और दूसरा उसका समकालीन कन्नौज नरेश यशोवर्मा । ये दोनों ही दिग्विजयी थे। [159ख]यशोवर्मा शैव मतावलम्बी तथा काल प्रियनाथ का उपासक था । [159ग]ललितादित्य भगवान् विष्णु, केशव, शिव आदि का परम भक्त था उसने कालान्तर में यशोवर्मा को भी पराजित कर सम्पूर्ण भारत वर्ष पर विजय प्राप्त की थी ।

अपनी पुस्तक में पूर्वपक्षी ने एक स्थान पर आचार्य शङ्कर का काल (795 से 890ई0) मानने का प्रस्ताव दिया है । उनका अपने पूर्व लेख में यह भी मानना है कि 'आचार्य शङ्कर के पश्चात् बौद्धों का अस्तित्व ही 820 ई. तक समाप्त हो गया था । अन्यथा आचार्य के अवतार का प्रयोजन निष्फल मानना पड़ेगा'। अब हम यह देखेंगे कि इस अवधि में भारत के प्रमुख राजागण किस धर्म के अनुयायी थे । [159घ]770 ई. से 810 ई. तक गौड़ का शासक धर्मपाल था । कन्नौज, भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गन्धार, और किर आदि देशों के राजा उसके अधीनस्थ नरेश थे । धर्मपाल उत्तरी भारत का सर्वोच्च शासक बना इसीलिये उसे उत्तरापथ स्वामी कहा गया है । धर्मपाल का साम्राज्य तीन भागों में बंटा हुआ था । बंगाल और बिहार सीधे उसी के राज्य में थे । कन्नौज का राजा उसका अधीनस्थ था । पंजाब, राजपूताना, मालवा और बरार के शासक उसके करद् थे । 'स्वयम्भू पुराण' में कहा गया है कि नेपाल भी धर्मपाल का अधीनस्थ प्रदेश था । धर्मपाल बौद्ध मत का महान् आश्रय दाता था । वह विक्रमशील विहार का संस्थापक था । उसने वरेन्द्र में सोमपुर नामक स्थान पर तथा बिहार में ओदान्त पुरी स्थान पर विशाल विहारों की स्थापना की । उसने बौद्ध लेखक हरिभद्र को आश्रय दिया । धर्मपाल ने पचास बौद्ध विद्यालयों की स्थापना की । धर्मपाल के पश्चात् उसका पुत्र देवपाल (810 से 850 ई.) सिंहासन पर बैठा । हिमालय से विन्ध्य तक और पूर्वी सागर से पश्चिमी सागर तक समस्त उत्तरी भारत के शासकों से उसने कर प्राप्त किया । उसके अभियान उसे कम्बोज तक पश्चिम में और विन्ध्य तक दक्षिण में ले गये । उसने उत्कलों को नष्ट किया, प्राग्ज्योतिष (=असम) को जीता, हूणों का दम्भ चूर किया और गुर्जर तथा द्रविड़ शासकों को भी नीचा दिखाया । देवपाल बौद्धमत का महान् आश्रय दाता था । उसने भिक्षुओं की विभिन्न सुविधाओं के लिये और

'धर्मरत्नों' की रचना के लिये तथा सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) या यवभूमि (जावा) के राजा बालपुत्रदेव द्वारा निर्मित बिहार के लिये पाँच गाँव दान में दिये । देवपाल ने मगध में अनेक मन्दिर और बिहार बनवाये । नालन्दा बौद्ध ज्ञान के केन्द्र के रूप में पूर्ववत चालू रहा। पालवंश का अन्त लगभग 1175 ई. में हुआ । पूर्व कथित दो राजाओं के अतिरिक्त इस वंश का शक्तिशाली राजा महीपाल (988 से 1038ई.) था । नयपाल (1038 से 1055) व विग्रह पाल तृतीय (1055-1070 ई.) का केवल गौड़ और मगध पर अधिकार रह गया था । सभी पाल शासक बुद्धमत के अनुयायी और संरक्षक थे । उन्होंने विहारों को बहुत सा धन दान दिया । प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु अतिष ग्यारहवीं शती ईसवी के मध्य में बुद्धमत के प्रचार के लिये तिब्बत गये ।

[159ङ]अब हम दक्षिण भारत की ओर दृष्टिपात करते हैं । राष्ट्रकूट नरेश अमोघ वर्ष प्रथम अपरनाम सर्वजित् (814-884 ई.), कृष्ण द्वितीय (884-914 ई.) व इन्द्र तृतीय (914-928 ई.) जैन मतावलम्बी थे । [159च]प्रो. श्रीनेत्र पाण्डेय और [159छ]डॉ. विद्याधर महाजन के अनुसार भी ये नरेश जैन मतावलम्बी थे ।

[159ज]'भारतीय इतिहास एक दृष्टि' के लेखक डॉ. ज्योति प्रसाद जैन के उक्त ग्रन्थ से राष्ट्रकूट वंश के सुसंगत इतिहास का सारसंक्षेप प्रस्तुत करना यहाँ पर वांछनीय होगा। उक्त ग्रन्थ ने अनुसार 779 ई. में ध्रुव राष्ट्रकूट राज्य का स्वामी हुआ । 793 ई. तक उसने राज्य किया । यह महापराक्रमी और वीर योद्धा था । इसने गंग शिवमार द्वितीय को बंदी बनाया; नन्दिवर्मन पल्लव तथा वेंगी के विष्णुवर्धन चतुर्थ से कर प्राप्त किया। तदन्तर विन्ध्याचल को पारकर वह गंगा यमुना के मध्य देश तक जा पहुँचा । वहाँ गुर्जर-प्रतिहार वत्सराज को पराजित कर मरु देश की ओर तथा धर्मपाल को पराजित कर बंगाल की ओर वापस पठाया । कन्नौज में कुछ समय तक इन्द्रायुध को उक्त दोनों शत्रुओं से सुरक्षित कर वह वापस दक्षिण लौट गया । ध्रुव ने इस प्रकार राष्ट्रकूट शक्ति को सम्पूर्ण भारत वर्ष में सर्वोपरि बना दिया । उसकी रानी चालुक्य राजकुमारी शील भट्टारिका जैन धर्म की भक्त थी । जैन महाकवि स्वयंभू ने अपने रामायण, हरिवंश, नागकुमार चरित, स्वयम्भू छन्द आदि महान् ग्रन्थों की रचना इसी नरेश के आश्रय में राष्ट्रकूट राजधानी में की । जिनसेन (2) ने 783 ई. में अपने हरिवंश पुराण को समाप्त करते हुए इस नरेश का उल्लेख 'कृष्णनृप का पुत्र श्री वल्लभ जो दक्षिणापथ का स्वामी था' इस रूप में किया है । राष्ट्रकूट राजधानी के निकट ही वाटनगर में पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन

का सुप्रसिद्ध ज्ञान केन्द्र था । वहीं पर इस महान् जैनाचार्य ने 780 ई. में अपने महान् ग्रन्थ को पूर्ण किया और तदन्तर जयधवल के एक तिहाई अंश और महाधवल की रूपरेखा तैयार की । दिगम्बर आगम ग्रन्थों की सर्वमहान् एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीकाएँ वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त ग्रन्थ ही हैं । उनके विद्यापीठ में भारतवर्ष का सबसे बड़ा जैन पुस्तकालय था । 790 ई. के लगभग इनकी मृत्यु हुई । इनके अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्दि, परवादिमल्ल और गुरुकुमार सेन उस समय में राष्ट्रकूट राज्य के प्रसिद्ध जैनाचार्य थे ।

ध्रुव का उत्तराधिकारी उसका पुत्र गोविन्द तृतीय (793-814 ई.) हुआ । वह इस वंश के सर्व महान् नरेशों में से था । भारतवर्ष की समस्त राज शक्तियाँ उसका लोहा मानती थी । जैन धर्म के प्रति वह भी अत्यन्त सहिष्णु व उदार था । मन्ने दान पत्र (802 ई.), चामराज नगर दानपत्र (807 ई.) कदम्बदानपत्र (812 ई0) के द्वारा उसने जैन गुरुओं को प्रभूत दान दिये । वाटनगर का जैन अधिष्ठान तो सम्राट् से प्रारम्भ से ही संरक्षण पाता रहता था । वहाँ अब स्वामी वीरसेन के पट्टशिष्य जिनसेन (1) अपने गुरु के द्वारा छोड़े गये अधूरे कार्य की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्वक प्रयत्नशील थे उनके सधर्मा दशरथगुरु, विनयसेन, पद्मसेन और वृद्धकुमारसेन आदि जैन गुरु राष्ट्रकूट राज्य को सुशोभित कर रहे थे । जैन धर्म उसके शासन में खूब फल रहा था।

गोविन्द तृतीय का उत्तराधिकारी अमोघवर्ष प्रथम अपर नाम शर्व वर्मा (814 से 884 ई., बलराम श्रीवास्तव के अनुसार) हुआ । सम्राट् अमोघवर्ष जैनधर्म का अनुयायी और एक आदर्श जैन श्रावक था इस विषय में प्रायः कोई मतभेद नहीं है । जिनसेन (1) के पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र का यह बहुत सम्मान करता था । इन्हें अमोघवर्ष ने अपने पुत्र का शिक्षक नियुक्त किया था । इन्होंने उत्तर पुराण की रचना की। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन, जिनदत्त चरित आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे । प्रसिद्ध जैन गणिताचार्य महावीराचार्य ने अपना 'गणित सार संग्रह' ग्रन्थ इसी राजा के आश्रय में लिखा तथा उसी के आश्रय में यापनीय संघ के आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति ने अपने ग्रन्थ 'शब्दानुशासन' व्याकरण एवं उसकी अमोघ वृत्ति की रचना की । उसके शासन के प्रारम्भिक काल में उसके अभिवावक, सामन्त व चचेरे भाई कर्क ने सूरतदान पत्र के द्वारा जैनाचार्य परवादिमल्ल के प्रशिष्य को नवसारी के जैन विद्यापीठ के लिये भूमि प्रदान की थी । 859 ई. के एक शिलालेख में राज्य द्वारा एक जैन वसदि के लिए

सिंहवरगण के आचार्य नागनन्दि को दान देने का उल्लेख है । 860 ई. में स्वयं सम्राट् अमोघ वर्ष ने मान्य खेट राजधानी में त्रैकाल योगी के शिष्य देवेन्द्र मुनीश्वर को दान दिया था। अन्य भी अनेक दान उसने दिये । उसके सामन्त सरदारों में लाट के राष्ट्रकूट, नोलम्बवाड़ी के नोलम्ब, सौन्दत्ति के रट्ट, हुम्मच के सान्तार राजे, गंग नरेश, पूर्वी चालुक्य, आदि अनेक नरेश जैन धर्मावलम्बी थे । इसमें सन्देह नहीं कि यह नरेश एक विशाल साम्राज्य का अधिपति, तत्कालीन भारतवर्ष का सर्वाधिक शक्ति एवं वैभव सम्पन्न और विश्व के सर्वमहान् नरेशों में परिगणित सम्राट् था ।

अपने पिता अमोघवर्ष के पश्चात् उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय प्रायः वृद्धावस्था में राजा हुआ । इसका शासन काल 914 ई. तक था । अपने पिता की भाँति यह भी जैन धर्म का भक्त था । उसके काल में कोप्पण एक उन्नत तीर्थ और जैन केन्द्र था । उसका 914 ई. का बेगुमारा ताम्रशासन एक जैन दानपत्र ही है । इसी नरेश के आश्रय में कन्नडी भाषा के जैन महाकवि गुणवर्म ने अपने हरिवंश पुराण की रचना की थी । एक अन्य जैन महाकवि हरिश्चन्द्र कायस्थ ने भी अपने 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य की रचना इसी काल में की थी ।

कृष्ण द्वितीय का उत्तराधिकारी उसका पौत्र इन्द्र तृतीय हुआ । इसने मालवा के उपेन्द्र, वेंगी के चालुक्यों को अपनी अधीनता मानने के लिये विवश किया । कन्नौज के महीपाल को उसने हराया । यह राजा इतना बड़ा दानी था कि 915 ई. में कुरन्धक नामक स्थान पर जब उसका पट्टबन्धोत्सव मनाया गया तब उसने धर्म गुरुओं, धर्मायतनों और याचक गणों को 400 ग्राम दान दिये थे । अपने पूर्वजों की भाँति वह भी जिनेन्द्र का भक्त था, उसने अर्हत् शान्तिनाथ का पाषाण निर्मित सुन्दर पादपीठ बनवाया था । 'नलचम्पू' के लेखक त्रिविक्रम भट्ट तथा उनके पिता नेमादित्य का भी वह प्रश्रय दाता था ।

इस वंश के अन्तिम नरेशों में सर्व महान् नरेश था कृष्णराज तृतीय अकाल वर्ष (939 से 967 ई.) । अपने पूर्वजों की भाँति वह जैन धर्म का पोषक और विद्वानों का आश्रयदाता था । जैनाचार्य वादिधंगल भट्ट को वह अपना गुरु मानता था । इसके प्रधानमंत्री भरत थे । ये भी जैन धर्म के अनुयायी थे और अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत के आश्रय दाता थे । उन्हीं की प्रेरणा से कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महापुराण की रचना की थी । राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम राजा इन्द्र चतुर्थ था। हेमावती के तथा श्रवण बेलगोल

की चन्द्रगिरि के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अन्त में वह जैन मुनि हो गया था और 982 ई. में उसकी मृत्यु हुई । उसके साथ ही दक्षिण भारत के महान् राष्ट्रकूट वंश और साम्राज्य का अन्त हुआ ।

पालवंश एवं राष्ट्रकूटवंश के उपर्युक्त इतिहास से यह तथ्य निर्विवाद सिद्ध होता है कि 770 ई. से 1070 ई. तक उत्तर भारत में पालवंशी राजाओं के राज्य काल में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार था और यह धर्म उन राजाओं का राज्यधर्म बना रहा। इसी प्रकार 779 ई. से 982 ई. तक राज्य करने वाले राष्ट्रकूट नरेशों के राज्यकाल में दक्षिण भारत में जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ और यह धर्म उन राजाओं का राजधर्म बना रहा जैसा कि उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है ।

अब बताइये महामहिमामण्डित महामण्डलेश्वर जी ! 788 से 820 ई. के पश्चात् कहाँ बौद्धों एवं जैनों का अस्तित्व समाप्त प्राय हो गया था? क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक तथ्यों की असि से अब आपकी नाक ही कट गई ?

महोदय ! इतिहास ग्रन्थों को पढ़िये । आचार्य शङ्कर के काल में एक भी राजा जैन-बौद्ध मतावलम्बी न बचा था अशोक मौर्य के राज्याभिषेक के तीसरे वर्ष ई. पू. 266 से अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ के वधकाल ई.पू. 185 अर्थात् 81 वर्ष की अवधि को छोड़कर ईसवी सन् की 8वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक सनातन धर्म का ही प्रभुत्व रहा तथा भारतवर्ष के सार्वभौम सम्राटों का यही राजधर्म रहा । ईसवी सन् की 8 वीं सदी के उत्तरार्द्ध से ईसवी सन् की 11वीं सदी तक उत्तर भारत में पाल राजा बौद्ध धर्म के तथा 8वीं सदी के उत्तरार्द्ध से 10वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक के दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट नरेश जैन धर्म के मतावलम्बी रहे । यहाँ उत्तर एवं दक्षिण भारत का तात्पर्य है उत्तर एवं दक्षिण भारत का अधिकांश भू-भाग । अष्टम-नवम सदी (788-820) आचार्य का काल मानने पर तो उनके अवतार का प्रयोजन ही निष्फल सिद्ध हो जाता है और यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वे बौद्ध-जैन सम्प्रदाय का कुछ न बिगाड़ सके अपितु उनको राज्याश्रय ही मिला परन्तु आचार्य के वास्तविक आविर्भाव काल (ई. पू. 507 से ई.पू. 475) को स्वीकार करने पर यह विसंगति स्वतः दूर हो जाती है क्योंकि उक्त अवधि के अन्तिम दिनों तक सभी नरेशों का राज्य धर्म सनातन धर्म हो चुका था और बौद्ध-जैन सम्प्रदाय समाप्त प्राय हो गया था ।

आपके शब्दों में जो कि आपकी पुस्तक में पृ. 53 पर मेरे लिये व्यवहृत किया

गया है, यही कहा जा सकता है कि "पढ़िये थोड़ा इतिहास ।" यदि भारत का या आचार्य का इतिहास लिखना हो तो विद्वानों के इतिहास को पढ़ो । कुतर्क करके कोई ग्रन्थकार नहीं बन सकता । किसी के काल के निर्धारण के लिये मान्य ऐतिह्य प्रमाणों का उद्धरण दिये बिना किसी का ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकता । अभी तो यही परम्परा थी कि मात्र वेद ही स्वतः प्रमाण हैं, अब एक व्यक्ति (महामण्डलेश्वर जी) का वाक्य ही प्रमाण है अर्थात् 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' यह किस आधार पर मान लिया जाय ?

पूर्वपक्ष-१०

आक्षेपकर्त्ता स्वयं लिखते हैं कि राजा सुधन्वा दक्षिण अवन्ती के शासक थे । माहिष्मती में उनकी राजधानी थी । क्या युधिष्ठिर वहीं बैठकर शासन करते थे ? हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ उनकी राजधानी के रूप में समझा जाता है। माहिष्मती में कब और क्यों उन्होंने राजधानी बनायी ?

हस्तिनापुर के नष्ट होने पर जनमेजय से छठा नेमिचक्र कौशाम्बी में रहेगा ऐसा भागवत में है । माहिष्मती पहुँचने का कोई वर्णन नहीं है । पाण्डवों का किला इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) में आज भी है । कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति यहाँ साधु विशेषण से उसे विशेष आवास स्थान बनाया ऐसा अर्थ निकलता है पाटलिपुत्र (पटना) में कौशाम्बी नगरी थी ।

उत्तरपक्ष-१०

मुझको मूर्ख विशेषण से कुभूषित करने वाले महामण्डलेश्वर जी ! क्या आपने पाटलिपुत्र (पटना) में कौशाम्बी नगरी को बताकर अपनी महामूर्खता नहीं प्रदर्शित की है ?

महोदय ! [159झ]कौशाम्बी उत्तर प्रदेश में प्रयाग (=इलाहाबाद) से लगभग 60 किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण पश्चिम में स्थित है । ई. पू. तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने कौशाम्बी में दो स्तम्भों का निर्माण करवाया था । उनमें से एक स्तम्भ पर

समुद्रगुप्त ने अपनी देश व्यापी विजय गाथा उत्कीर्ण करवा दिया था, जो कि वर्तमान् समय में स्थानान्तरित होकर इलाहाबाद दुर्ग में है । दूसरा स्तम्भ भग्नावस्था में कौशाम्बी की धरती पर पर्यटकों को अतीत की याद दिलाता है । तीन कुषाण अभिलेख कौशाम्बी के हैं, और एक स्तम्भ में कौशाम्बी के घोषिताराम बिहार का उल्लेख है, जिससे स्थल की पहचान निश्चित हो जाती है ।

अब महामण्डलेश्वर जी बतायें, बिना कौशाम्बी का परिदर्शन किये अथवा किसी भूगोल सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ का अवलोकन किये पाटलिपुत्र (पटना) में पाण्डवों की राजधानी कौशाम्बी का स्थित होना लिखना निर्लज्जता की पराकाष्ठा नहीं है ? (यह विशेषण अपनी पुस्तक के पृ. 37 पर आपने मेरे लिये प्रयुक्त किया है)

यही नहीं एक अन्य स्थल (पृ.1) पर आप अपनी पुस्तक में लिखते हैं- " आचार्य शंकरभगवत्पाद की बारह साल पहले (सन् 1988 ई.) द्वादश शताब्दी बड़े धूम-धाम से संतो एवं भक्तों ने मनायी । अद्वैत सिद्धान्त का भेरीनाद हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त एवं अटक से कटक तक गूँजा ।" यह भी आपके भूगोलज्ञानानभिज्ञ होने का एक प्रमाण है । महाशय ! अटक भारतवर्ष में नहीं है यह 14 अगस्त 1947 ई. से पाकिस्तान देश में 33.53 अक्षांश (उ.) व 72.17 देशान्तर (पूर्वी) पर स्थित है । मराठों ने तो कटक से अटक तक विजय प्राप्त करके मराठाराज्य का भेरीनाद गुञ्जित किया था। परन्तु आपने कैसे अटक में यह कार्य सम्पादित किया ? क्या आप इस्लामिक राष्ट्र के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जियाउल हक के राजकीय निमंत्रण पर आचार्य शङ्कर की तथाकथित द्वादश शताब्दी मनाने गये थे अथवा स्वयं पारपत्र एवं आव्रजन पत्र लेकर संतों के साथ वहाँ पहुँच गये थे ? इस्लामिक शब्दावली के अनुसार एक 'काफिर' की जन्मसदी को आप जैसे अन्य 'काफिरों' को समारोह पूर्वक मनाने की अनुमति एक इस्लामिक देश पाकिस्तान में कैसे प्राप्त हुई ? आपके शब्दों में जो कि आपकी पुस्तक में पृ. 39 और 41 मेरे लिय व्यवहृत हैं यदि उत्तर दूँ तो यही कहना पड़ेगा कि पूर्वपक्षी ही भूत-भविष्य-भूततरार्थ ज्ञाता ऐसा निकल पड़ा जिसको भूगोल भी नहीं आतीं, भूगोल से जिसका दूर से भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे महामण्डलेश्वर महाशय को अपने आप पर तरस आनी चाहिए और उन्हें दूसरों के घर जाकर पानी माँग कर पीना चाहिए । तात्पर्य यह कि अन्य विद्वानों के लिखे भूगोल आदि ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए ।

महोदय ! क्या यह आवश्यक है कि युधिष्ठिर (ई.पू.3138 से 3102) जहाँ

बैठकर राज्य करते थे वहीं पर उनकी परम्परा के धारक भी ई.पू. पाँचवी शताब्दी अर्थात् 2638 वर्ष बाद भी राज्य करते ? आप यह बतायें ई.पू. छठी शताब्दी में पाण्डव वंशी शतानीक कैसे कौशाम्बी से राज्य करता था ? ई. सन् की 12वीं सदी में पाण्डव वंशी अनङ्गपाल तंवर दिल्ली से कैसे राज्य करता था ? ई. सन् की सोलहवी सदी में महाराणा प्रताप के पक्ष से वीरगति को प्राप्त होने वाला पाण्डव वंशी राजा रामसिंह तंवर ग्वालियर से कैसे राज्य करता था ? परीक्षित् के अन्य तीन पुत्र-श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन जो कि अश्वमेध यज्ञ करने वाले सम्राट् थे, वे कहाँ से राज्य करते थे ? वे सभी सम्राट् तथा अश्वमेध यज्ञ करने वाले थे ऐसा श्रुति (शतपथ ब्राह्मण) वचन है । महाभारत, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि जनमेजय हस्तिनापुर पर और कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ इन्द्रप्रस्थ राज्य पर अभिषिक्त हुए थे और वे वहाँ के राजा थे । ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित है कि परीक्षित् के अन्य तीन पुत्र, तीन अन्य राजधानियों से राज्य करते थे ।

महोदय आपके ज्ञानवर्द्धन के लिये बता दूँ [160]गर्ग संहिता में लिखा है कि जब कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न ने अपने दिग्विजय अभियान के क्रम में माहिष्मती के राजा इन्द्रनील के राज्य में पड़ाव डाला तब माहिष्मती नरेश ने दूत के माध्यम से कहलवाया कि - हस्तिनापुर के राजा बुद्धिमान् धृतराष्ट्र ने उन अत्यन्त बलवान् वीर इन्द्रनील को माहिष्मती पुरी के राज्य पर स्थापित किया है, अतः वे किसी को भेंट या बलि नहीं देंगे। [161] महर्षि जैमिनि कृत अश्वमेध पर्व में भी लिखा गया है कि अश्वमेध यज्ञ के क्रम में अर्जुन ने माहिष्मती नगरी के शासक नीलध्वज को पराजित कर माहिष्मती राज्य को अधीनस्थ कर लिया । इससे स्पष्ट है कि माहिष्मती नगरी भी पाण्डवों के साम्राज्य में थी ।

ऐसे में यदि युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त राज्य का कोई नरेश माहिष्मती से राज्य करते हुए पाया जाता है, तब महामण्डलेश्वर के पेट में क्यों दर्द हो रहा है ? श्रीमान् जी ! कोई दिल्ली में पाण्डवों के किले के रूप में प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध किला या उसका भग्नावशेष अब तक प्रकाश में नहीं आया है । यदि यह महामण्डलेश्वर जी के कल्पनाशील मस्तिष्क की देन है तब तो कोई बात नहीं अन्यथा महामण्डलेश्वर जी का यह नैतिक दायित्व बन जाता है कि वे दिल्ली में युधिष्ठिरादि के किले के अस्तित्व का सप्रमाण विस्तृत विवरण प्रस्तुत करें ।

आपके द्वारा आपकी पुस्तक के पृष्ठ 52 पर मेरे लिये व्ययवहृत शब्दों में तो बस

यही कहा जा सकता है - काश यदि आप शतपथ ब्राह्मण, गर्ग संहिता, जैमिनीयाश्वमेध पर्व, भूगोल आदि ग्रन्थों को गम्भीरता पूर्वक पढ़े होते तो ऐसी अनाड़ी बातें लिखने का साहस न करते ।

पूर्वपक्ष-११

''ब्रह्मविष्णुमहेश्वरमहेश्वरीस्थानानि'' इत्यादि विशेषण में आदि शब्द न होने से जो परिगणना से अर्थ प्राप्त होता है वह अनर्थक है । क्या गणपति, कार्त्तिक, राम, कृष्णादि के स्थानों का उद्धार नहीं किया ? पुष्कर में एकमात्र प्रसिद्ध ब्रह्माजी का मंदिर है । उस का उद्धार आचार्य ने किया इस में कोई इतिहास भी नहीं है । अपने जन्म स्थान में ही कृष्ण मन्दिर का उद्धार आचार्य ने स्वयं किया था ।

उत्तरपक्ष-११

यह प्रश्न आपके शास्त्रार्थ तात्पर्यबोध तथा आपकी मेधा पर प्रश्न-चिह्न लगा देता है । श्रुतिवचन है - प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी । उसी के अवयव भूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । यथा -

[162]**माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।**
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् पर शाङ्करभाष्य में कहा गया है - [163]'यह चौबीस प्रकार के भेदों वाली माया परमात्मा से प्रकट हुई उसी की पराप्रकृति है । परब्रह्म पहले तो ईश्वर स्वरूप मायामय रूप से स्थित होता है ।.... फिर वह मूर्त्तरूप होकर तीन प्रकार का हो जाता है उस त्रिविध रूप से वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार और नियमनादि कार्य करता है ।... ब्रह्मा, विष्णु और महादेव - ये ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं।' [164]बृहदारण्यक उपनिषद् शाङ्करभाष्य में कहा गया है देव तो एक ही है 3306 तो उसकी विभूतियाँ हैं। अतएव परमेश्वर की स्वरूपभूता अर्थात् जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय की हेतुभूता ब्रह्मा, विष्णु और शिव शक्ति तथा उसकी पराशक्ति महेश्वरी (माया) के देव स्थानों के

उद्धार के अन्तर्गत नाना नाम रूपाधिक परमेश्वर की विभूति स्वरूपा विविध देवी देवताओं के स्थान स्वतः विवक्षित हैं । 'आदि' कहना निरर्थक है ।

यह तो वैसी ही बात हुई - जब एक अनाड़ी को किसी ने बताया कि उत्तरी गोलार्द्ध और दक्षिणी गोलार्द्ध से 'बड़ी चेचक' नामक बीमारी का उन्मूलन कर दिया गया है तब उसने पूछा कि फिर जर्मनी, जापान, भारत आदि देशों से इस बीमारी का उन्मूलन क्यों नहीं किया ? उसको सूचना देने वाला व्यक्ति स्तब्ध रह गया तब तक एक रामायणी द्वारा प्रवचन के मध्य पढ़ी जा रही श्री रामचरित मानस की निम्न पंक्तियाँ उसे सुनायी पड़ीं -

[165]**फूले फले न बेंत जदपि सुधा वरसहिं जलद ॥**
मूरुख हृदयँ न चेत जौ गुरु मिलै विरंचि सम ।

सूचना देने वाले को उपर्युक्त पंक्तियों में समाधान मिल गया और वह चुपचाप आगे बढ़ गया ।

पूर्वपक्ष-१२

आक्षेप्ता के लिये परमप्रमाण द्वितीय ब्रह्मा कल्हण ने आचार्य शंकर के बारे में बताने के लिये एक लाइन भी लिखने की कृपा नहीं की । माना जाये कि राजाओं की वह तरंगिणी है तो कम से कम सार्वभौम सुधन्वा के बारे में लिखते । तथाकथित इतने भारी चक्रवर्ती के लिये एकाध लाइन तो लिखते ।

उत्तरपक्ष-१२

निरन्तर दैवतज्ञान में रत रहने वाले को ही कल्हण द्वितीय ब्रह्मा लगते होंगे, मेरी दृष्टि में तो वे मात्र एक इतिहासकार हैं । बिना राजतरङ्गिणी को पढ़े महामण्डलेश्वर जी ने कह दिया कि आचार्य शङ्कर के बारे में कल्हण ने एक पंक्ति भी लिखने की कृपा नहीं की। आप द्वारा मेरे लिये प्रयुक्त मुहावरा 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे' (आपकी पुस्तक में पृ.53 पर प्रयुक्त) यहाँ पर आप ही के ऊपर लागू होता है ।

राजतरङ्गिणी में लिखा है कि - [166]कश्मीर के राजा शचीनर के प्रपितृव्यज अशोक

जो कि शकुनि के प्रपौत्र थे उनके पश्चात् कश्मीर के राजा हुए । ये जैन मतावलम्बी थे। इन राजा अशोक के बाद इनके पुत्र जलौक कश्मीर के राजा हुए । राजा जलौक ने अपनी धवल कीर्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को पवित्र कर दिया । इन राजा जलौक के गुरु बुद्धिमान्, तेजस्वी, अवधूत एवं तत्कालीन अनेक बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले परम विरक्त सिद्ध थे । कान्यकुब्ज आदि देशों को जीतकर राजा जलौक ने वहाँ से चारों वर्णों के धार्मिक विद्वानों को कश्मीर में लाकर बसाया तथा चतुर्वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था किया । इन्होंने भगवान् भूतेश का पाषाणमय मंदिर श्रीनगर में बनवाया । राजा जलौक ने व्यास के एक शिष्य से पुराण सुना था । इनकी पटरानी ईशान देवी ने कश्मीर तथा अन्य देशों के द्वारों (सीमाओं) पर अनेक प्रभावशाली मातृचक्र (श्रीयंत्र) स्थापित करवाया । राजा जलौक के गुरु द्वारा परास्त क्रुद्ध बौद्धों ने राजा की हत्या करने के उद्देश्य से एक कृत्या (भिक्षुणी) को भेजा किन्तु राजा की दानशीलता एवं दयालुता को देखकर उस भिक्षुणी का हृदय परिवर्तित हो गया । भिक्षुणी ने राजा को बोधिसत्त्व कह कर सम्बोधित किया परन्तु एक शैव होने एवं बौद्धभाषा (पालि) का ज्ञान न होने के कारण राजा को बोधिसत्त्व शब्द के अर्थ का ज्ञान न था ।

[167]श्रीनगर में डल झील के दक्षिण में शङ्कराचार्य पर्वत स्थित है । इस पर्वत पर नगर से 305 मीटर की ऊँचाई पर राजा जलौक द्वारा निर्मित भगवान् शिव का मन्दिर आज भी स्थित है । मन्दिर के इतिहास के अनुसार यह मन्दिर कश्मीर नरेश जलौक द्वारा आदि शङ्कराचार्य के कश्मीर प्रवास की अवधि में बनवाया गया था । कनिंघम तथा जनरल कोल ने शिल्प एवं स्थापत्य कला के अनुसार इस मन्दिर को राजा जलौक के काल का माना है । इस मन्दिर में आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित शिवलिङ्ग है । शङ्कराचार्य पर्वत को शङ्कराचार्य टेकरी भी कहते हैं । लगभग दो मील की कड़ी चढ़ाई के पश्चात् इस अति प्राचीन मन्दिर तक पहुँचा जा सकता है । इसी के नीचे शङ्करमठ है। शङ्कराचार्य शिखर के पास ही अब नेहरू पार्क (नेहरू उद्यान) बनाया गया है ।

राजा जलौक एवं आचार्य शङ्कर की समकालीनता राजतरङ्गिणी के अन्तःसाक्ष्य से स्वतः सिद्ध होती है । राजतरङ्गिणी के अनुसार - 'कश्मीर पर राजा जलौक के बाद चार अन्य राजाओं ने राज्य किया तत्पश्चात् राजा अभिमन्यु कश्मीर का शासक हुआ । राजा अभिमन्यु का राज्याभिषेक गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 150 वर्ष पश्चात् हुआ।' अमिट काल रेखा (अर्वाचीन मत खण्डन) में सप्रमाण यह बताया जा चुका है कि गौतम

बुद्ध का महापरिनिर्वाण ई.पू. 487 में हुआ था ।

अतएव राजतरङ्गिणी के अनुसार राजा अभिमन्यु का राज्याभिषेक ई.पू. 487-150 वर्ष = ई.पू. 337 में होना निश्चित होता है । विमर्श ग्रन्थ के अनुसार आचार्य शङ्कर युधिष्ठिर शक संवत् 2662 तुल्य ई.पू. 476 में कश्मीर गये थे । अभिमन्यु के पूर्ववर्ती 5 राजाओं (जलौक समेत) का औसत राजत्त्वकाल 30 वर्ष मानने पर जलौक का राज्याभिषेक अभिमन्यु के राज्याभिषेक वर्ष ई.पू. 337 से 30 गुणे 5 =150 वर्ष पूर्व अर्थात् ई.पू. 487 निश्चित होता है । इसमें मान्य ऐतिह्य सिद्धान्तों के अनुसार 10 वर्ष की बढ़त या घटत हो सकती है ऐसी स्थिति में भी ई.पू. 476 में कश्मीर पर राजा जलौक का शासन प्राप्त होता है।

राजतरङ्गिणी में आचार्य के लिये प्रयुक्त एक विशेषण 'अवधूत' विचारणीय है । [168]'अवधूतोपनिषद्' में साङ्कृति के यह प्रश्न करने पर कि अवधूत कौन है ? भगवान् दत्तात्रेय ने बताया - 'जो अक्षर, सर्वश्रेष्ठ, भवबंधन से रहित एवं 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के प्रयोजनार्थ हो वह अवधूत कहा जाता है । जो योगी आश्रम तथा वर्ण का अतिक्रमण कर आत्मा में ही सदा रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी 'अवधूत' कहा जाता है ।' [169]आचार्य शङ्कर ने मठाम्नाय-महानुशासनम् में पश्चिमाम्नाय शारदामठ-द्वारका के लिये महावाक्य 'तत्त्वमसि' ही विहित किया है । यह तो सर्वविदित तथ्य है कि आचार्य आत्मज्ञानी, अद्वैतवादी, मायामोह के पाश से मुक्त जगत् को मिथ्या समझने वाले, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त और महायोगी थे । राजतरङ्गिणी में राजा जलौक का व्यास के एक शिष्य द्वारा पुराण सुनना जो लिखा गया है उससे भी स्पष्टतः आचार्य शङ्कर का निर्देश प्राप्त होता है । मठाम्नाय महानुशासन में आचार्य शङ्कर ने कहा है - [170]सतयुग मे विश्वगुरु थे ब्रह्मा, त्रेता में ऋषिसत्तम, द्वापर में व्यास जी और कलियुग में मैं हूँ । व्यास जी के पश्चात् उनकी जगद्गुरु शिष्य परम्परा में कलियुग में प्रथम विश्वगुरु आचार्य शङ्कर ही हुए । यह तो सर्वमान्य है कि आचार्य व्यास की शिष्य परम्परा में थे । शङ्कर दिग्विजय के अनुसार आचार्य ने व्यास जी की स्तुति करते हुए कहा - [171]'आपका प्रशिष्य होकर मैंने अपनी छोटी बुद्धि से जो यह साहस किया है उसे विचार कर मेरी सूक्ति और दुरुक्ति की रचना को सम करने में आप ही योग्य हैं।' आचार्य के लिये कल्हण द्वारा प्रयुक्त 'व्यास-शिष्य' सम्बोधन उसी प्रकार से है जिस प्रकार से श्री रामचन्द्र जी के लिये प्रयुक्त होने वाला सम्बोधन 'रघुनन्दन' ।

राजतरङ्गिणी के पूर्वोक्त वाक्यों जिसमें कहा गया है कि - 'राजा जलौक के ज्ञानोपदेशक अर्थात् गुरु बुद्धिमान्, तेजस्वी, अवधूत तथा तत्कालीन बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले एक परम विरक्त सिद्ध थे' तथा 'राजा जलौक समेत 5 राजाओं के राज्य करने के पश्चात् गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 150 वर्ष बाद राजा अभिमन्यु का राज्याभिषेक हुआ था' से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि ई.पू. पाँचवी सदी के अन्तिम चतुर्थांश (ई.पू. 500से ई.पू.475) के मध्य तत्कालीन बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले, परम विरक्त, बुद्धिमान् तथा तत्त्वमसि आदि वाक्यों के प्रयोजनार्थ सक्रिय परमहंस परिव्राजकाचार्य और कोई नहीं आचार्य शङ्कर ही थे । [172]श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि जो वर्णाश्रम का अतिक्रमण कर अत्याश्रमी परमहंस होते हैं वही 'महावाक्य' के अधिकारी होते हैं । उक्त श्रुति प्रमाण से आचार्य वर्णाश्रम का अतिक्रमण कर जाने वाले अत्याश्रमी परमहंस स्वतः सिद्ध हैं । यह तो सर्वविदित तथ्य है कि बौद्धादि विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर कश्मीर में ही आचार्य शङ्कर सर्वज्ञ पीठ पर आसीन हुए थे । श्रीनगर के पास स्थित शङ्कर पर्वत और उस पर वर्तमान अति प्राचीन जलौक द्वारा निर्मित शिव मन्दिर इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते कि कल्हण ने राजतरङ्गिणी में इन्हीं आचार्य शङ्कर का उल्लेख किया है ।

अब रही बात सुधन्वा की तो महामण्डलेश्वर जी ! आप यह बतायें कि क्या सुधन्वा कश्मीर के शासक थे ? अथवा उन्होंने कश्मीर को जीता था ? या वे कभी कश्मीर किसी विशेष कार्यवश गये थे ? वा कश्मीर के शासक ने उनके राज्य पर आक्रमण किया था? यदि ये स्थितियाँ रहीं होती तो कल्हण उनका उल्लेख कर सकते थे । कल्हण ने तो किसी मौर्य सम्राट् और गुप्त सम्राट् का भी नाम नहीं लिया है । हाँ उन्होंने एक हर्ष नामक विक्रमादित्य का उल्लेख अवश्य किया है जिसकी पहचान लोग चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से करते हैं परन्तु वहाँ भी नाम साम्य नहीं है । महान् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में लगभग 12 वर्ष तक भारत में रहने वाले चीनी यात्री फहियान ने इस महान् सम्राट् का अपने विवरण में कहीं उल्लेख नहीं किया है तो क्या इस आधार पर आप उनका अनस्तित्त्व सिद्ध कर सकते हैं ?

महोदय ! स्वामी दयानन्द जी के वाक्यों पर मनन करें, उन्होंने कहा है कि विद्वान् सत्य का ज्ञान होने पर असत्य मत का त्याग कर देता है। क्या तथाकथित चालीस ग्रन्थों के प्रणेता से यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि पूर्वाग्रह को त्याग कर वे सत्यमत को

स्वीकार कर विद्वत्परम्परा की उच्च मर्यादा के परिपालन हेतु एक आदर्श पुरुष बनें ?

पूर्वपक्ष-१३

जैनैरुत्सादितवज्रनाभनिर्मितभगवदालयादिदुर्दशां दूरीकृत्य' इत्यादि वाक्य भी पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होते। **'पीतप्रतिबद्धवत्सां'** के समान पौर्वापर्य विवक्षित है तो द्वारिका समुद्र में डूब चुकी थी। उसको जैन क्या उत्सादन करेंगे। उसका पुनरुद्धार अभी तक नहीं हुआ है, केवल खोज जारी है। पौर्वापर्य विवक्षित नहीं है तो वज्रनाभनिर्मित भगवदालय का उत्सादन-नाश ही हो गया तो दुर्दशा किस की? वहाँ नव निर्माण ही अपेक्षित है। **'त्रिलोकसुन्दरनाम्ना'** यह भी संगत प्रतीत नहीं होता। आज भी द्वारिकाधीश नाम से ही प्रसिद्ध है। मठाम्नाय में भी -**''द्वारिकाख्यं हि क्षेत्रं स्याद्देवः सिद्धेश्वरः स्मृतः''** यही लिखा है।

उत्तरपक्ष-१३

यह भी आपके अतात्पर्यबोध का एक और उदाहरण मात्र है। ताम्रशासन की पंक्ति है - द्वारकायां जैनैरुसादितवज्रनाभनिर्मितभगवदालयादि दुर्दशां दूरीकृत्य भगवद्भिस्त्रिलोक सुन्दरनाम्ना पुनस्सन्निबद्धभगवदालय....' अर्थात् जैनियों के द्वारा ध्वस्त भगवदालय आदि की दुर्दशा को दूर कर त्रैलोक्य सुन्दर नामक पुनः निर्मित भगवदालय में श्रीकृष्ण आदि देवों को सम्पूर्ण मर्यादा विधि विधान के साथ प्रतिष्ठित किया' तात्पर्य यह कि ध्वस्त मन्दिर के भग्नावशेषों से 'त्रैलोक्य-सुन्दर' नामक नवनिर्माण कर प्राचीन मन्दिर की एवं तद्स्थानीय मूर्तियों की दुर्दशा को दूर किया।

[173]कृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने अपने प्रपितामह की स्मृति में समुद्र के जलप्लावन से बचे हुए हरिमन्दिर के पूर्व में त्रैलोक्य सुन्दर नामक मन्दिर बनवाकर उसमें उनकी मूर्ति स्थापित किया था। इसी मन्दिर का कालान्तर में आचार्य शङ्कर ने जीर्णोद्धार किया था।

महामण्डलेश्वर जी जो द्वारका आज वर्तमान है और समुद्र में नहीं डूबी थी उसी

द्वारका में वज्रनाभ और आचार्य शङ्कर ने मन्दिर बनवाया था इसमें क्या असंगति है ।उस जगह विद्यमान मन्दिर को आज भी त्रैलोक्यसुन्दर मन्दिर के नाम से जाना जाता है । यह तो ऐसी ही बात हुयी कि एक सज्जन एक पुस्तक पढ़ रहे थे उस पर लिखा था श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्य । एक वैयाकरण ने पूछा किसका ग्रन्थ पढ़ रहे हो ? उक्त सज्जन ने कहा शाङ्कर गीताभाष्य । वैयाकरण महोदय ने कहा लगता है तुम संस्कृतज्ञानानभिज्ञ हो अथवा तुम्हारा मस्तिष्क खराब हो गया है कभी बैल कोई भाष्य लिख सकता है, अरे मूर्ख [174]शङ्कर+अण् = शाङ्कर का अर्थ बैल होता है । उन अर्थ के अनर्थ करने वाले वैयाकरण को मन ही मन महामूर्ख मान कर भाष्यपाठी हँसने लगा ।

पूर्वपक्ष-१४

पश्चिम दिशा में श्रीसुरेश्वराचार्य को इसलिये यदि बैठाया कि वहाँ बौद्ध जैनादि का वर्चस्व पुनः न हो तो यह गलत निकला । सौराष्ट्रादि में ही आज तक जैनों के विशाल मंदिरादि हैं । पालिताना में और आबू में जैनों का विशाल तीर्थ स्थान ही है ।

उत्तरपक्ष-१४

'बौद्ध-जैनादि के वर्चस्व पुनः न हो' इसका तात्पर्य है कि वह राजधर्म न बन पाये उसे राज्याश्रय न प्राप्त हो, उसका प्राबल्य न हो । सुरेश्वराचार्य ई.पू. 447 तक द्वारका के शङ्कराचार्य रहे अब आप सप्रमाण सिद्ध करिये कि ई.पू. 489 से ई.पू. 447 तक द्वारका आदि क्षेत्रों पर राज्य कर रहे किसी राजा ने जैन-बौद्ध धर्म को प्रश्रय दिया अथवा उस समय में किसी विशाल जैन मन्दिर का निर्माण हुआ ? महोदय ! क्या आप यह सोचते हैं कि सुरेश्वराचार्य को जैन और बौद्ध मन्दिरों को ध्वस्त करने का काम आचार्य द्वारा सौंपा गया था? यदि हाँ, तो इसका उत्तर आप आर्य समाजी स्वामी दयानन्द जी के शब्दों में सुन लीजिए - [175]'जैनियों के मन्दिर शंकराचार्य और सुधन्वा राजा ने नहीं तुड़वाये थे क्योंकि उनमें वेदादि की पाठशाला करने की इच्छा थी ।' आपने अपने 14 पृष्ठीय पूर्वलेख में लिखा है 'शंकर को ढाई हजार वर्ष पूर्व मानते हैं तो शंकर, सुरेश्वर,

कुमारिल अवतारों का ढेर भी बौद्धों का बाल बाँका न कर सका' । ऐतिह्य प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि उत्तर भारत में 770 ई. से 1070 ई. तक बौद्ध-धर्म पाल राजाओं का राजधर्म बना रहा । इसी अवधि में विक्रमशील विहार बौद्ध विश्व विद्यालय की स्थापना हुई तथा 779 ई. से 982 ई. तक दक्षिण भारत में जैन धर्म राष्ट्रकूट राजाओं का राज धर्म बना रहा अतः सुरेश्वराचार्य को ईसा की नवीं शताब्दी में मानने पर तो उनका होना ही निरर्थक सिद्ध होता है । अस्तित्त्व और वर्चस्व में अन्तर है । शंकराचार्य ने बौद्धों या जैनों का अस्तित्त्व नहीं मिटाया था यह नेपाल के इतिहास से स्पष्ट है । [176]वहाँ कहा गया है कि नेपाल के जिन मंदिरों के लिए योग्य पुजारी नहीं मिले उन मन्दिरों में आचार्य शङ्कर ने बौद्ध पुजारियों का संस्कार करके उन्हें ही वहाँ का पुजारी नियुक्त कर दिया ।

पूर्वपक्ष-१८

"महद्विनिर्णयप्रसक्तौ तु सुरेश्वराचार्या एवोक्तलक्षणतः सर्वत्रैव व्यवस्थापका भवन्तु," यह चाहे आज्ञा हो चाहे प्रार्थना; दस-बीस साल के लिये है या यावत्पीठास्तित्वकाल के लिये ? दस-बीस साल के लिये तो व्यर्थ है । क्योंकि बाद में सब अपनी-अपनी मर्जी से ही करेंगे । यावत्पीठकाल अर्थात् हजारों वर्षों के लिये सुरेश्वराचार्य रहने वाले नहीं हैं । यदि उस पीठस्थ आचार्य को ही सुरेश्वराचार्य कहें तो तोटकाचार्यादि सभी स्व-स्वपीठाचार्य हुए । तब शंकराचार्य लिखने का कोई मतलब नहीं है । अनर्थक भी है । 'अविचलं विचलतु' यह सुधन्वा का एक विलक्षण प्रयोग है । जैसे निर्वह्निर्वह्निमान् यह आहार्यमात्र है । न तु विनिमयेन लिखा है । घूस, लेन-देन आदि से नहीं । शायद मुकद्दमे से हो सकता है ।

उत्तरपक्ष-१८

महत्वपूर्ण निर्णय की स्थिति में सुरेश्वराचार्य आजीवन निर्णायक नियुक्त किये गये थे। उनके बाद की व्यवस्था मठाम्नाय-महानुशासनम् में दी गई है । वहाँ कहा गया है -

'परस्परेण कर्त्तव्या आचार्येण व्यस्थितिः'

अर्थात् - आचार्यों को अपने कर्तव्यों का निर्धारण आपसी सहमति से कर लेना चाहिए । इससे स्पष्ट है कि चारों आम्नाय पीठों के शङ्कराचार्यों को परस्पर विवाद की स्थिति में आपस में विचार विमर्श कर सर्वसम्मत निर्णय करना चाहिए ।

'अविचलं विचलतु' के प्रयोग में क्या विलक्षणता है, यह आपने उजागर नहीं किया । जिस पंक्ति में इसका प्रयोग किया गया है वह इस प्रकार है - 'अस्मद्राजसत्तेव निरङ्कुशगुरुसत्ताप्युक्तमर्यादया जगत्यविचलं विचलतु' - तात्पर्य स्पष्ट है - हमारी राजसत्ता के समान निरंकुश गुरुसत्ता मर्यादानुसार संसार में अविचल रूप से अच्छी तरह चले । अधोमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति सर्वत्र निकृष्ट अर्थ ही ढूँढ़ने का प्रयास करता है 'विनिमय' शब्द का अर्थ घूस तो किसी प्राचीन प्रामाणिक शब्दकोश में नहीं दिया गया है ।

'महाकुलीनत्त्ववैदुष्यादि विशिष्टाचार्य लक्षणैरन्वित एव श्रीभगवत्पाद पीठानामधिकारमर्हति न तु विनिमयेन' तात्पर्य यह कि महाकुलीन, वैदुष्यादि विशिष्ट आचार्य गुणों से युक्त परिव्राजक ही श्री भगवत्पाद के पीठों के अधिकार योग्य हो सकता है किसी प्रकार के विनिमय से नहीं । यहाँ विनिमय का अर्थ स्पष्ट है । गुरु दो प्रकार के शिष्यों से अत्यधिक प्रभावित रहता है एक विद्वान् शिष्य से और दूसरा सेवक शिष्य से । अतएव यहाँ पर वर्जित किया गया है कि सेवा और प्रेम के बदले विद्वत्तारहित व्यक्ति मात्र पीठस्थ आचार्य की इच्छा पर शङ्कराचार्य नहीं बनाया जा सकता है । आज भी जब इच्छापत्र (वसीयत) के द्वारा किसी सम्पत्ति का हस्तान्तरण किया जाता है तब उसमें लिखा जाता है -'निःस्वार्थ प्रेम, चाह और सेवा के बदले में मैं अपनी अमुक सम्पत्ति अमुक व्यक्ति को दे रहा हूँ' । अतएव एतद्द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शङ्कराचार्य पद हेतु निर्धारित योग्यता से रहित व्यक्ति सेवा विनय के बदले यह पद नहीं प्राप्त कर सकता ।

सम्पत्ति का हस्तान्तरण प्रेम, स्नेह, सेवा आदि के बदले किया जा सकता है परन्तु पद का नहीं । पद का हस्तान्तरण तो योग्यता के क्रम में विधिक प्रक्रियानुसार ही हो सकता है । जो सच्चा संन्यासी है वह धन सम्पत्ति से तो नहीं प्रभावित होता परन्तु सेवा, चाह और स्नेह के द्वारा प्रभावित होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता ।

पूर्वपक्ष-१६

"त एते तत्तत्पीठप्रणाड्या निजनिजमेव मण्डलं गोपायन्तो वैदिकमार्ग-मुद्भासयन्तु" इस वाक्य में पीठों की प्रणाडी क्या है? प्रणाली से प्रणाडी हुआ है - (डलयोर्लव्ठयोश्चाभेदात्) **"द्वयोः प्रणाली पयसोः पदव्यां"** इस अमर की व्याख्या में कृत्रिमजलनिःसारण मार्ग अर्थ बताया है । पनारे या नाले अर्थ किया है । आधुनिक लोग हिन्दी में माध्यम, प्रथा, परम्परा आदि अर्थ में भी बोलते है । परन्तु कोशाद्यनुक्त होने से परिभाषामात्र होगा । इस परिभाषा के होने के बाद ही यह लेख लिखा होगा ऐसा लगता है । परन्तु प्रश्न यह है तत्तत्पीठ की प्रणाली अलग-अलग है क्या? आचार्य ने कोई उल्लेख किया है क्या? मण्डलरक्षणार्थ मठाम्नायोक्त क्षेत्र देवी देवतादि प्रणाली नहीं है । कारण स्व-स्व मण्डल की रक्षा के उपयोग के लिये यहाँ प्रणाली कहा जा रहा है । अतएव प्रथा परम्परा माध्यम आदि भी अर्थ संगत नहीं है । मण्डलरक्षण वहाँ की प्रजा का धर्मोपदेश द्वारा धर्म में लगाना ही है । उसके लिये यह कौन सी प्रथा है या माध्यमादि है? अस्तु । यथाकथंचित् लक्षणा आदि से कोई अर्थ बैठाया भी जाये फिर भी 'निजं निजमेव मण्डलं गोपायन्तः' में एवकार का व्यावर्त्य क्या है? यही होगा कि पश्चिमवाले उत्तरादि में न जाये उत्तर वाले पश्चिमादि में न जाये । रक्षणकार्य उन-उन पीठेश्वर मात्र करे । निजं निजमेव मण्डलं इस एक वचन से एक ही मण्डल पर रहे । ऐसी स्थिति में दो मण्डल की रक्षा का कार्य एक पीठाधिपति कैसे कर सकता है । उस का निजमण्डल कौन सा है ? एकवचन और एवकार से निश्चित द्विमण्डलादि की व्यावृत्ति है । अतः इस ताम्रपात्र को आचार्य कालीन मानने वालों को पीठद्वयाधिपत्य गैरकायदा है । निजं निजमेव मण्डलं गोपायन्तो वैदिकमार्गमुद्भासयन्तु यह सुधन्वा की आचार्य के प्रति या अन्य किसी के प्रति आज्ञा है या प्रार्थना है ? प्रथम पक्ष आचार्य के प्रति संभव नहीं है । याचना पक्ष में कैलासगत से क्या याचना प्रार्थना होगी । यदि **'वैदिकमार्गमुद्भासयन्तु भवन्तः सुरेश्वराचार्यादयः,'** ऐसा अन्वय करते हैं तो **'श्रीमच्छंकरभगवत्पादपद्मयोः अञ्जलिपूर्विकेयं विज्ञप्तिः'** का अन्वय नहीं होगा । वहाँ भगवद्भिर्दिग्विजयोऽकारि इत्यादि सभी साक्षात् आचार्य के प्रति कहा जा रहा है । यही स्थिति अगले भवन्तु में भी है ।

उत्तरपक्ष-१६

ऐसा प्रतीत होता है कि अनन्तश्री महामण्डलेश्वर जी यावज्जीवन अमर व्याख्या ही रटते रहे हैं तथा ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य का सम्यक् अध्ययन ही उन्होंने नहीं किया है अन्यथा वे प्रणाड़ी का अर्थ पनारे या पनाली बताने के पश्चात् यह न कहते कि प्रणाडी (=प्रणाली) का आधुनिक हिन्दी पारिभाषिक अर्थ प्रथा, परम्परा है ।

महोदय ! कुतर्क करने और अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित करने के पूर्व आपको भगवान् भाष्यकार की निम्न पंक्तियों को पढ़ना चाहिए था । यथा -

[177]**'यद्यपि वृद्धादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते ।**

तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाड्या वेश्वरवंश्यत्वात् ।'

इस पर आनन्दगिरीय व्याख्या इस प्रकार है -

प्रणाड्या । परम्परयेति यावत् । ईश्वरवंश्यत्वात्तद्वंशोद्भवत्वादिदमवधारण स्मरणमिति शेषः। सर्वस्येत्यस्मादर्वाक्तथापीति वक्तव्यम् ।

पारम्पर्य विषयत्वं 'तन्तेजोऽसृजत' इति श्रुतेरुक्तम् । इदानीम् 'इदं सर्वमसृजत' इत्यादि श्रुतेपि पारम्पर्य विषयत्वमेषितव्यमित्याह ।

रत्नप्रभा व्याख्या में कहा गया है -

'तज्जलान्' इत्याद्युक्त श्रुतीनां साक्षात्प्रनाड्या वा ब्रह्मजत्वमात्रेणोपपत्तेरित्यर्थः ।

अब तो आपकी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश हो गया होगा और आपको यह बोध हो गया होगा कि 'प्रणाडी' शब्द का अर्थ 'परम्परा' भगवान् भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त है और यह एक प्राचीन प्रयोग है । ताम्रपत्र में 'प्रणाडी' का 'परम्परा' के अर्थ में प्रयोग ताम्रपत्र को आचार्यशङ्कर के काल का सिद्ध करता है ।

पूर्वपक्षी के द्वारा मण्डल रक्षण, आचार्यों के अन्य मण्डलों में प्रवेश तथा एक आचार्य द्वारा दो या चारों पीठों के दायित्वों के निर्वहन से सम्बन्धित व्यक्त की गयी सम्भावनाओं हेतु व्यवस्थायें मठाम्नाय-महानुशासनम् में दी गई हैं । यदि आचार्य विरचित उक्त ग्रन्थ का आप परिशीलन करें तो आपको समाधान प्राप्त हो जायेगा । वहाँ कहा गया है कि - आम्नाय मठों के आचार्य अपने-अपने मण्डलों के निवासियों से वर्णाश्रम धर्म का पालन करावें यदि आवश्यक हो तो शासक, विरुद्ध प्रवृत्ति को रोके।

अपने राष्ट्र की दृढ़ता के लिये आचार्य सर्वदा मठों में ही न रहकर धरणीतल पर विचरण करते रहें । आचार्य शङ्कर आदि दिव्यपुरुषों के द्वारा स्थापित वर्णाश्रम व्यवस्था को सुरक्षित रखें । धर्म के ह्रास की स्थिति में आलस्य का त्याग कर कुशलता का आश्रय लेकर आचार्य धर्म की रक्षा करें । कल्याणकारी नियमों को नष्ट होने से बचावें । ऐश्वर्य का उपयोग लोकोपकार के लिये करें । शास्त्र की मर्यादा के अनुसार उपदेश करते हुए लोगों को धर्म तत्त्वज्ञान कराकर अनुशासित करें आदि । आचार्य परम्परा से प्राप्त परम्परागत ज्ञान ही रक्षण प्रणाली है ।

आचार्यों के अन्य क्षेत्रों में प्रवेश से सम्बन्धित मठाम्नाय महानुशासनम् का श्लोक है -

[178]परस्पर विभागे तु न प्रवेशः कदाचन ।
परस्परेण कर्त्तव्या ह्याचार्येण व्यवस्थितिः॥

इसका सामान्य अर्थ है कि - 'आचार्यों को एक दूसरे के विभाग में प्रवेश नहीं करना चाहिए । परस्पर मिलकर व्यवस्था बना लेनी चाहिए ।' परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि आचार्य एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं कर सकते तब वे व्यवस्था कैसे बनायेंगे ? इसका समाधान निम्न श्लोक कर देते हैं -

[179]धरामालम्ब्य राजानः प्रजाभ्यः करभागिनः ।
कृताधिकारा आचार्या धर्मतस्तद्वदेव हि ॥
[180]मर्यादाया विनाशेन लुप्येरन्नियमाः शुभाः ।
कलहाङ्गारसम्पत्तिरतस्तां परिवर्जयेत् ॥

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट होता है कि एक आचार्य दूसरे आचार्य के मण्डल से धर्मस्व संग्रह न करें बल्कि मात्र अपने मण्डल से करें । दूसरे के क्षेत्र से धर्मस्व संग्रह से कलह की उत्पत्ति होती है न कि आने जाने से क्योंकि सम्पत्ति प्रायः विवाद का कारण होती है । अतएव अपने धर्माधिकार क्षेत्र में न कि दूसरे के क्षेत्र में धर्मस्व का संग्रह करना एक मर्यादा है । इसका उल्लङ्घन करने पर सहअस्तित्व में बाधा पड़ती है जो कि शुभ नियमों का लोप है जिसके कारण कलहाग्नि का प्रादुर्भाव होता है जो परस्पर वैमनस्य और द्वन्द्व को जन्म देती है । इसी से सम्बन्धित विवाद को परस्पर विचार-विनिमय से व्यवस्थित करने का निर्देश दिया गया है । प्रवेश का अर्थ आय, राजस्व, रोजगार आदि आप्टे के कोश में दिया गया है । 'मुसल प्रवेश' जैसे प्रयोगों में प्रवेश पद इसी अर्थ

में है ऐसा प्रोफेसर कामेश्वरनाथ मिश्र ने लिखा है ।

पीठाधिकार से सम्बन्धित एक श्लोक है -

[181]**न जातु मठमुच्छिन्द्याद् अधिकारिण्युपस्थिते ।**
विघ्नानामपि बाहुल्यादेष धर्मः सनातनः ॥

यहाँ अधिकारी का तात्पर्य 'कृताधिकारा आचार्य' अर्थात् अभिषिक्त आचार्य से है। [182]कृताभिषेक का कोशगत अर्थ यथाविधि पद या राज्य पर प्रतिष्ठित किया हुआ है अतः 'कृताधिकारा आचार्य' का अर्थ हुआ यथाविध शङ्कराचार्य के पद पर अभिषेक आदि द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठित किया हुआ आचार्य । भाव यह कि एक भी शङ्कराचार्य के होते हुए किसी भी मठ का विनाश नहीं होने देना चाहिए । ऐसी स्थिति में निम्न व्यवस्था दी गयी है-

[183]**परिव्राडार्यमर्यादो मामकीनां यथाविधि ।**
चतुष्पीठाधिगां सत्तां प्रयुञ्ज्याच्च पृथक्-पृथक् ॥

डॉ. कामेश्वरनाथ मिश्र के अनुसार इसका अन्वय इस प्रकार है -

'आर्यमर्यादः परिव्राड् मामकीनां चतुष्पीठाधिगां
सत्तां यथाविधि पृथक्-पृथक् च प्रयुञ्ज्यात् ।

अर्थात् आर्य मर्यादा वाला एक परिव्राजक मेरे (द्वारा स्थापित) चारों पीठों से सम्बद्ध सत्ता का यथाविधि (=प्रत्येक मठ के लिये निर्धारित विधानों के अनुसार) अलग-अलग प्रयोग करें ।

'परिव्राड्' एक वचन प्रथमान्त पुल्लिङ्ग पद है, अतः संन्यासी की एक संख्या का वाचक है । इसी के अनुरूप एक ही वचन की क्रिया 'प्रयुञ्ज्यात्' भी है । अतः व्यक्ति का एक ही होना सिद्ध है । सत्ता का प्रयोग करना है चारों पीठों की । 'चतुष्पीठाधिगां सत्ताम्' । दो पद हैं 'पृथक्-पृथक्' । इसका अभिप्राय है कि आचार्य भले ही एक हो किन्तु चारों पीठों की मर्यादाओं और नियमों को अन्य मठों में मिश्रित न करें अपितु सब की स्वतन्त्र सत्ता और व्यवस्था बनायें रखें ।

एक पीठ पर एक ही आचार्य अभिषिक्त हो सकता है परन्तु एक ही आचार्य विशेष परिस्थितियों में चारों पीठों की सत्ता उनको विनष्ट होने से बचाने कि लिये संभाल सकता है । यह प्राविधान अतिक्राम्यकारी (Over Riding) है । जिन-जिन पीठों पर कोई आचार्य अभिषिक्त हो जाता है वह उसका निज मण्डल हो जाता है । यह व्यवस्था उसी

प्रकार है जिस प्रकार से वर्तमानकाल में सामान्य स्थिति में एक राज्यपाल एक ही राज्य की सत्ता संभालता है परन्तु विशेष परिस्थितियों में वह एक से अधिक राज्यों की सत्ता भी पृथक्-पृथक् संभालता है । द्वारका-शारदापीठ के 77 वें आचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ, श्री भारती कृष्ण तीर्थ के 1960 ई. में ब्रह्मलीन होने की तिथि से 30 जून 1964 ई. तक श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी तथा शारदामठ-द्वारका दोनों मठों की सत्ता पृथक्-पृथक् कर संभालते रहे। इन सब विषयों की विस्तृत व्याख्या मठाम्नाय-महानुशासनम् के मेरे आङ्ग्ल भाष्य में की गयी है इसलिये यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया गया ।

महोदय चारों पीठों के आचार्यों को निज-निज मण्डल की रक्षा करते हुए वैदिक मार्ग उद्भासित करने का आदेश स्वयं आचार्य शङ्कर ने दिया है जिसे ताम्रपत्र में उद्धृत किया गया है । ताम्रपत्र की पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद भी 'अमिटकाल रेखा - अर्वाचीन मत खण्डन' में दिया गया है । यथा -

'.....भारत वर्ष की चारों दिशाओं में चार आचार्यों को अधिष्ठित कर (आचार्य ने) आदेश दिया कि वे अपने पीठ की मर्यादा के अनुसार अपने-अपने मण्डल की रक्षा करते हुए वैदिक मार्ग उद्भासित करें,

पूर्वपक्ष-१७

बौद्ध-कापालिकादि सकलवादि भूयिष्ठ पश्चिमस्यां दिशि वादिदैत्याङ्कुरः पुनर्मा भवत्विति' इत्यादि वाक्य में पश्चिमस्यां यह अशुद्ध प्रयोग है । पश्चिमशब्द सर्वनाम नहीं है । सर्वादिगण में पठित नहीं है । यह बात लघु कौमुदी पढ़ने वाले प्राथमिक विद्यार्थी को भी मालूम है । "**अग्रादिपश्चाड्डिमच्**" इस वार्त्तिक से जाताद्यर्थ में डिमच्प्रत्यत्यान्त है । "**श्रीकृष्णादिसकलमर्यादासुसंस्कृतायां**" यह अनन्वित है । श्रीकृष्णादि कोई मर्यादापदार्थ नहीं है । श्रीकृष्णादेर्मर्यादा इत्यादि भी अनन्वित या क्लिष्टान्वयिमात्र है ।

इस प्रकार अनेकदोषजालदुष्ट काव्यावलि लिखने वाला कम से कम आचार्यानुगामी तो नहीं ही हो सकता । श्री पद्मपादाचार्य के एक व्यंग पर अनपढ़ तोटक को आचार्य ने अपनी कृपाशक्ति से वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान् बनाया था, जिन के श्लोकबद्ध

श्रुतिसारसमुद्धारण का अध्ययन आज भी संत लोग करते हैं, तो महासेवक सुधन्वा को वे क्या ज्ञानी नहीं बना सकते थे ? बात यह है कि यह आचार्य कालीन प्रसिद्ध सुधन्वा हो तब यह संभव था । अतः आर्यसमाजी श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के शब्दानुसार यह पूरा ताम्रपत्र पोपलीलामात्र है, बनावटी है, अप्रामाणिक है । अतएव इन पोपलीलावालों ने कुछ बनावटी अभिलेखादि भी पूर्वोत्तरपश्चिम में तैयार करवाया हो ऐसी शंका के लिये पूरा अवसर है । लक्षणा, अध्याहार एवं अप्रसिद्धार्थ-घटना कर खींचातानी से अर्थ करो तो वह मीमांसाविरुद्ध होगा ।

उत्तरपक्ष-१७

महामण्डलेश्वर जी ! अब कुछ न सूझा तो मुद्रण प्रमाद का आश्रय लेकर वितण्डा करने लगे। महाशय, ताम्रपत्र का मूल पाठ है 'पश्चिमायां' जो कि मुद्रण प्रमादवश 'पश्चिमस्यां' मुद्रित हो गया है । 'पश्चिमायां' बिल्कुल शुद्ध प्रयोग है । महामण्डलेश्वर जी अपनी पुस्तक के पृष्ठ 3 पर मुद्रित एक वाक्य पर दृष्टि डालें । वह वाक्य है -

'किन्तु पुराणों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं <u>आधिदैतिक</u> दृष्टि से तथा कहीं अर्थवाद रूप से कथायें लिखी गयी हैं' अब बताइये 'आधिदैतिक' अर्थ भी पुराण वचनों का होता है यह किस शास्त्र में लिखा है? तो क्या इसके आधार पर आपको अज्ञानी कह दिया जाय ? नहीं, मेरा यह मानना है कि शुद्ध पाठ 'आधिदैविक' है मुद्रण अथवा लेखनी प्रमादवश इसका अशुद्धपाठ 'आधिदैतिक' के रूप में मुद्रित हो गया है । आप अपनी पुस्तक में पृष्ठ 5 लिखते हैं -...'हमने आचार्य के आविर्भाव समय के बारे में एक लेख लिखा । संशोधनादि का अवसर न होने से कुछ अशुद्धियाँ भी उसमें रह गयीं' । अब बताइये जब तथाकथित चालीस ग्रन्थों के प्रणेता आपके मात्र चौदह पृष्ठ के लेख में कुछ अशुद्धियाँ रह गईं तो यदि कुछ अशुद्धि मुद्रण प्रमादवश अन्यों की कृतियों में रह जाय तो क्या अपराध है? 'श्रीकृष्णादिसकलमर्यादा सुसंस्कृतायां' यह अनन्वित नहीं है यह तो आपके स्वयं परस्पर विरोधी आक्षेपों से ही सिद्ध हो जाता है । जहाँ एक तरफ आप इसे अनन्वित बताते हैं वहीं दूसरी तरफ आप उसे क्लिष्टान्वयिमात्र बताते हैं जो कि आपके मतिभ्रम को उजागर करता है । मर्यादा धारणा स्थितिः । न्यांय मार्ग स्थितिः इति टीका । आप्टे के संस्कृत हिन्दीकोश में मर्यादा का अर्थ चिह्न, निश्चित प्रथा, व्यवस्थित

नियम, नैतिक विधि, शिष्टाचार या औचित्य का नियम आदि दिया गया है । ताम्रपत्र की पंक्ति का भाव है - श्रीकृष्ण आदि देवों की प्रतिमाओं को सम्पूर्ण विधि-विधान के अनुसार सुसंस्कृत कर प्रतिष्ठित किया ।

महाराज सुधन्वा ने आचार्य शङ्कर को संरक्षण प्रदान किया था; उन्होंने अद्वैत मत के प्रचार-प्रसार तथा सनातन धर्म के पुनर्स्थापन के लिये बहुमूल्य योगदान किया था; ऐसी मान्यता आचार्य द्वारा स्थापित चारों आम्नाय मठों - शारदामठ-द्वारका, गोवर्द्धनमठ-पुरी, ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रम तथा शृङ्गेरी मठ की है । स्वयं आचार्य शङ्कर ने स्वरचित महानुशासनम् में दो स्थलों पर उन महाराज सुधन्वा का उल्लेख किया है । इन्हीं महाराज सुधन्वा के वंश में वीर शिरोमणि पृथ्वीराज चौहान हुए थे जिनकी संतति में वर्तमान बूँदी राजवंश के लोग हैं । जिनके द्वारा प्रयुक्त ताम्रशासन के विशेषणों के तात्पर्य का बोध तथाकथित चालीस ग्रन्थों के प्रणेता को भी न हो पाया उन महाज्ञानी, सनातन धर्मरक्षक सम्राट् सुधन्वा को 'अनेकदोषजाल दुष्ट काव्यावली लिखने वाला' कहने वाला कम से कम शाङ्कर परम्परानुगामी तो नहीं माना जा सकता । शाङ्कर परम्परानुगामी कोई कृतघ्न ही सुधन्वा को धूर्त, मूर्ख, भाष्यकार मत विरोधी बताकर उनके अस्तित्त्व को नकारने का कुत्सित प्रयास कर पोपलीला कर सकता है । जिन आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द से 'पोपलीला' शब्द महामण्डलेश्वर जी ने ग्रहण किया है उन्होंने भी सुधन्वा के अस्तित्त्व, सनातन धर्म संरक्षण प्रयास व विद्वत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है -

[184]"बाइस सौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड देशोत्पन्न ब्राह्मण ...सोचने लगे कि अहह ! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है, इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए । ....निश्चय हुआ ये उपदेश और शास्त्रार्थ से हटेंगे । ऐसा विचार कर उज्जैन नगरी में आये वहाँ उस समय सुधन्वा राजा था .... यद्यपि सुधन्वा जैन मत में थे तथापि संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने से उनकी बुद्धि में कुछ विद्या का प्रकाश था ।.... इससे उनके मन में अत्यंत पशुता नहीं छाई थी । क्योंकि जो विद्वान् होता है वह सत्यासत्य की परीक्षा करके सत्य का ग्रहण और असत्य को छोड़ देता है । जब तक सुधन्वा राजा को बड़ा विद्वान् उपदेशक नहीं मिला था तब तक सन्देह में थे...... जब शङ्कराचार्य की यह बात सुनी और बड़ी प्रसन्नता के साथ बोले कि हम शास्त्रार्थ कराके सत्याऽसत्य का निर्णय अवश्य करावेंगे । जैनियों के पण्डितों की दूर-दूर से बुलाकर सभा कराई । ....बहुत दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा । परन्तु अन्त में

युक्तियों और प्रमाण से जैनियों का मत खण्डित और शङ्कराचार्य का अखण्डित रहा। तब उन जैनियों के पण्डित और सुधन्वा राजा ने वेदमत को स्वीकार कर लिया, जैन मत को छोड़ दिया । ...पश्चात् शङ्कराचार्य के सर्वत्र आर्यावर्त्त देश में घूमने का प्रबन्ध सुधन्वादि राजाओं ने कर दिया.. उसी समय से सब के यज्ञोपवीत होने लगे और वेदों का पठन पाठन भी चला।"

ऐसी स्थिति में स्वामी दयानन्द सरस्वती के विरुद्ध बोलने वाले उनकी पारिभाषिक शब्दावली में पोपलीलाकार निश्चित होते हैं । क्योंकि स्वामी जी स्वयं को सत्यानुगामी और बिना प्रमाण के, विरोधी कुत्सित मत रखने वालों को 'पोप' कहते थे । महामण्डलेश्वर जी के शब्दों में कहूँ तो यही कहना पड़ेगा कि सम्राट् सुधन्वा को 'अप्रामाणिक कोटि में पहुँचाने वालों में" यही महामण्डलेश्वर महोदय सर्वाग्रणी का स्थान पा सकता है ।' (आपकी पुस्तक में पृष्ठ 7 पर प्रकाशित आपके उक्त वाक्य में मैंने मात्र 'वाक्कील' के स्थान पर 'महामण्डलेश्वर' प्रतिस्थापित किया है) ।

पूर्वपक्ष-१८

आक्षेप्ता ने एक चाहमान वंशावली का उल्लेख किया है । जिसमें प्रथम चाहमान का चौहान अपभ्रंश हो । किन्तु चाहमान संस्कृत शब्द नहीं है । चह कल्के (प्रतारणे) से चाह बनाकर वही मान जिसका हो इस व्युत्पत्ति में एक निकृष्ट अर्थ आता है । प्राचीन इतिहास में ऐसा वर्णन मिलता है – सोमवंश एवं सूर्यवंश के समान एक अग्निवंश (अग्निकुल) भी हुआ, जिसमें परमार, परिहार (पडियार) चालुक्य, सोलंकी, और चौहान हुए । परमार, परिहार और सोलंकी गुजरात में प्रसिद्ध हैं । चालुक्य दक्षिण में और चौहान राजस्थान में । सुधन्वा तो "सोमवंश चूडामणियुधिष्ठिर" इत्यादि विशेषण से अग्निवंशोत्पन्न नहीं है । अतः चाहमानवंश का सुधन्वा कोई अन्य ही है।

उत्तरपक्ष-१८

[185]चह परिकल्पने तथा मान पूजायाम् से चाहमान बनाने पर इस शब्द का अर्थ

(विजय की) परिकल्पना साकार करने के कारण जिसका मान हुआ सिद्ध होता है जो कि एक उत्कृष्ट अर्थ है ।

पूर्वपक्षी का कहना है कि सोमवंश चूड़ामणि युधिष्ठिर की परम्परा से राज्य सत्ता प्राप्त सुधन्वा अग्निवंशोत्पन्न सुधन्वा चाहमान से भिन्न व्यक्ति है। अब हम चाहमान वंश के मूल का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

[186]लूण सिंह देव के आबू शिलालेख एवं चन्द्रबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में चाहमानों को सोमवंशी तथा जयानक विरचित पृथ्वीराजविजय व चन्द्रशेखर रचित सुरजनचरित में सूर्यवंशी कहा गया है । [187]साथ ही इन सभी स्रोतों और वंशभास्कर आदि अन्यान्य ग्रन्थों में चाहमानों को अग्निकुल का भी बताया गया है । वस्तुतः चाहमान यदुवंश की उस शाखा से सम्बन्धित थे जिसमें भगवान् श्री कृष्ण जी का जन्म हुआ था। [188]'हरिवंश-पुराण में विकद्रु नामक यादव ने श्रीकृष्ण जी को बतलाया है कि सूर्यवंशी राजा हर्यश्व ने पुरुवंशी यदु को पुत्ररूप में प्राप्त किया था । इन्हीं यदु के वंश में श्रीकृष्ण आदि यादवों का जन्म हुआ । वहाँ विकद्रु ने यह भी बताया है कि ये यदु सोमवंशी ययाति पुत्र यदु के अवतार थे जिसके कारण हर्यश्व के वंशज सूर्यवंशियों की गणना सोमवंशियों में की जाने लगी।' उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि परवर्ती यदु पुरुवंशोत्पन्न सोमवंशी थे जिन्हें बाद में सूर्यवंशी हर्यश्व ने अपना दत्तक पुत्र बनाया । [189]ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेपोपाख्यान से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के दत्तकपुत्र दोनों ही वंशों के गोत्र धारक होते थे । [190]ऐसे पुरुष एवं उनके अपत्य द्वयामुष्यायण कहलाते थे । इसी शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार यदुवंश की यह नई शाखा द्वयामुष्यायण हुई । इस शाखा के लोग कभी अपने को सूर्यवंशी तो कभी सोमवंशी कहते थे । चाहमानों द्वारा कहीं-कहीं अपने को सोमवंशी तथा कहीं-कहीं सूर्यवंशी कहने से इस बात में रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता कि वे इसी नवोदित यदुवंशी शाखा के अपत्य हैं ।

राजपुत्रों की उत्पत्ति से सम्बन्धित आलंकारिक विवरण से यह ज्ञात होता है कि प्रतिहार, परमार, चालुक्य (सोलंकी) तथा चाहमान ने असुरों के विरुद्ध युद्ध में अग्रणी भूमिका निभाई । असुरों के साथ किये गये इनके युद्धों, असुरों के साम्राज्य जिसकी राजधानी असुरिया (=वर्तमान् काल का असीरिया) थी तथा असुरों के इतिहास का विस्तृत विवेचन मेरी प्रकाश्य पुस्तक में किया गया है । असुरों के विरुद्ध अग्रणी भूमिका निभाने वाले इन चार वीरों के वंशज अग्निकुल के कहलाये, अग्नि अग्रि का परोक्ष है यह

शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से सिद्ध हो जाता है । यथा -

[191]**अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् । सोऽग्रिरसृज्यत स वदस्य सर्वास्यग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिरग्रिर्ह वै । तमग्निरित्याक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवा ।**

अर्थात् - यह भीतर जो गर्भ था वह अग्रे (पहले) उत्पन्न हुआ । वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ इसलिए उसका नाम अग्रि हुआ । अग्रि ही अग्नि हो गया । यह परोक्ष है। देवों को परोक्ष ही प्रिय है ।

उपर्युक्त श्रुति प्रमाण से यह निश्चित हुआ कि अग्रिकुल का ही परोक्ष अग्निकुल है ।

अब प्रश्न उठता है कि यदुवंश की शाखा वाले चाहमान के वंशज सुधन्वा ने अपने को युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त राज्य का स्वामी क्यों कहा? [192]महाभारत से ज्ञात होता है कि श्री कृष्ण जी के परलोक गमन एवम् यादवों के विनाशकारी गृहयुद्ध के पश्चात् सम्राट् युधिष्ठिर ने अपने द्वारा स्थापित इन्द्रप्रस्थ के राज्य पर श्रीकृष्ण जी के प्रपौत्र वज्रनाभ का तथा कुरुवंश की परम्परा से प्राप्त हस्तिनापुर के राज्य पर अर्जुन के पौत्र परीक्षित का अभिषेक कर दिया । इस तथ्य की पुष्टि [193]श्रीमद्भागवतमहापुराण तथा [194]श्री गर्ग संहिता से भी होती है । वहाँ यह भी बताया गया है कि बाद में मथुरा के दक्षिण के भूक्षेत्रों पर वज्रनाभपुत्र प्रतिबाहु तथा उत्तर में परीक्षितपुत्र जनमेजय ने राज्य किया। परीक्षित के ही समय में उनकी सहायता से वज्रनाभ द्वारा मथुरा में राजधानी बनाने का भी उक्त ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है । माहिष्मती मथुरा के दक्षिण में अवस्थित थी जिससे यह निश्चित हो जाता है कि यह क्षेत्र वज्रनाभ को प्राप्त हुआ था। माहिष्मती के राजा को उक्त राज्य पर धृतराष्ट्र ने स्थापित किया था । अपने अश्वमेध यज्ञ अभियान में अर्जुन ने इस नरेश के वंश का समूल विनाश कर इसे युधिष्ठिर का अधीनस्थ बनाया था, जैमिनि ने इस राजा का नाम नीलध्वज लिखा है यह सब इस पुस्तक में पूर्व में बताया जा चुका है। [195]यादवों के विनाशकारी गृह युद्ध के पश्चात् अर्जुन ने सात्यकिपुत्र यौयुधानि को सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र तथा कृतवर्मा के पुत्र को मार्तिकावत में बसा दिया था। [196]मार्तिकावत आबू पहाड़ी का प्रदेश था । [197]वर्तमान सरस्वती, शतुद्रि और यमुना के बीच से होकर बहती है । यह हिमालय की शिवालिक श्रेणी से निकल कर पटियाला के नीचे बहती हुई राजपूताना के मरु के उत्तरी भाग में विलुप्त हो जाती है । चलोर नामक ग्राम के मरु में विलुप्त होकर यह एक बार भवानीपुर में प्रकट होती है और पुनः बाल चावर में विलुप्त होकर वरखेड़ा में दिखाई देती है । उर्नई के पास मार्कण्डा नदी इसमें

मिलती है, अन्त में यह घग्गर या घर्घर नदी में मिल जाती है । राजस्थान प्रान्त में सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्रों में आज भी चाहमानों (=चौहानों) का बाहुल्य है । कालान्तर में श्रीकृष्ण के वंशज चाहमान ने माहिष्मती को अपनी राजधानी बनाया ।

[198]कर्नल टाड,*[199]एच. सी. राय, [200]डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार, [201]डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय तथा राजस्थानी चारण इतिवृत्तों के अनुसार राजा चाहमान नर्मदा के तट पर अवस्थित माहिष्मती पर राज्य करता था । [202]चौहान राजवंश के इतिहास के प्रारम्भिक पृष्ठों से पता चलता है कि उनका शासन किसी समय बड़े विस्तार से फैला हुआ था । नर्मदा के किनारे से एक ओर मैहकावती (=गढ़ मण्डला) तक तथा दूसरी ओर माहेश्वर तक अर्थात् दोनों तटों के उत्तर और दक्षिण में चौहानों का राज्य फैला हुआ था । अपने मुख्य केन्द्र से आगे बढ़ते हुए उन्होंने माण्डू, असीर, गोलकुण्डा एवम् कोङ्कण तक तथा उत्तर में गङ्गा के तट तक अपना शासन स्थापित किया । कवि चन्द्र के अनुसार उन्होंने अपने बल बिक्रम से थट्ठा, लाहौर, मूल्तान, पेशावर तथा भादरी की पहाड़ियों तक के क्षेत्र को विजित किया । वहाँ के असुरगण भाग खड़े हुए । दिल्ली एवम् काबुल ने उनकी अधीनता स्वीकार कर लिया । [203]कर्नल टाड के अनुसार प्रथम चाहमान विक्रमादित्य से 650 वर्ष पूर्व हुआ था । परन्तु आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार चाहमान लगभग 650 ई.पू. में हुए थे । इन्हीं चाहमान के नाम पर इस राजवंश का नाम चाहमान राजवंश पड़ा जिसका अपभ्रंश चौहान हुआ ।

[204]चौहानों का वत्स गोत्र एवं उनके पंचप्रवर आप्नवान्, और्व, च्यवन, जमदग्नि व भृगु उनको सोमवंशी प्रमाणित करते हैं । भृगु एवं और्व प्रवरों के धारक होने के कारण भी इनके गोत्राचार्य अग्निकुल के प्रमाणित होते हैं । पुराणों में कहा गया है कि क्षत्रियों के गोत्र-प्रवर आदि उनके आचार्यों के अनुसार बदल जाते है । भगवान् श्री कृष्ण की कुलदेवी हरसिद्धि (=आशा पूर्णा) ही चौहानों की भी कुल देवी हैं जिससे महाराज सुधन्वा का वज्रनाभ का अपत्य होना असंदिग्ध हो जाता है ।

इन्द्रप्रस्थ राज्य के संस्थापक सम्राट् युधिष्ठिर थे । इन्द्रप्रस्थ पर राज्य करते हुए उन्होंने लगभग सम्पूर्ण भारत वर्ष के नरेशों पर विजय प्राप्तकर राजसूययज्ञ किया था । श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ जो कि चौहानों के पूर्वज थे सम्राट् युधिष्ठिर के इसी इन्द्रप्रस्थ राज्य की राजगद्दी के उत्तराधिकारी बने थे जिसके कारण उनके वंशज सुधन्वा ने स्वयं को सोमवंश चूड़ामणि युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त भारत की राजसत्ता का स्वामी कहा

है ।

अस्तु यह सिद्ध हुआ कि चाहमान वंश के महाराज सुधन्वा ही सोमवंश चूड़ामणि युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त राज्य के स्वामी थे ।

पूर्वपक्ष-१९

अब हम पूर्वाम्नाय की ओर चलते हैं । मैंने द्वादशताब्दी समारोह के लिये तत्कालीन पीठासीन श्री निरञ्जनदेव तीर्थ को पत्र लिखा था । उस का उत्तर उन्होंने यही दिया कि आप की सब बात मान्य है, किन्तु आचार्य को हुए २२ सौ वर्ष हो गये हैं, अतः बाईसवीं शताब्दी यदि आप मनाते हैं तो हम सर्वप्रकार सहयोग दे सकते हैं .....। इस लेख से मालूम पड़ता है कि उस समय विद्यमान प्रमाणों से बाईस सौ वर्ष ही हुए हैं । आज वहाँ वाले कहते हैं कि पचीस सौ वर्ष हुए । ये तीन सौ वर्ष बीच में कैसे जुड़ गये? इससे मालूम पड़ता है कि उनके उत्तरवर्ती या सहवर्ती पोपलीलाकारों ने न्यूनता की पूर्ति की ।

गोवर्धपीठ की मुद्रित परम्परा में १४० वें श्री लोकनाथ पर्यन्त कुछ अपवाद को छोड़कर किसी के नाम के आगे दसनाम के गिरि, तीर्थ आदि नाम नहीं हैं । अतएव १४० नाम कल्पित हैं । श्रीदामोदर तीर्थ १४१वां तीर्थ नामा है । बीच में ११६० ई. में एक पराशंकर तीर्थ और १३६६ ई. में एक शंभुतीर्थ आता है । विद्यारण्य और बृहदारण्य तो तन्मध्यपतितन्याय से पूरे स्वनाम हैं । क्योंकि विद्या, बृहत् इत्यादि व्यक्तिनाम नहीं हो सकते, जिस के आगे दस नाम आरण्य जोड़ा जाये । पराशंकरतीर्थ और शंभुतीर्थ आठवीं या नवमीं शताब्दी के बाद के होने से ये नाम आचार्य के ईस्वीपूवर्तित्व का साधक न होने से प्रदर्शन मात्र है ।

यद्यपि यह (दशनामराहित्य) दोष पश्चिमाम्नाय में भी है तथापि वह अल्प है, इसलिये विचारणीय कोटि में हमने शामिल नहीं किया और स्वयं आक्षेपकारी ने भी कतिपय विसंगतियाँ दिखाई हैं । अतः पिष्टपेषण की जरूरत नहीं है ।

उत्तरपक्ष-१९

97 1896 ई. सन् में द्वारका-शारदामठ के 73वें शङ्कराचार्य द्वारा रचित [205]विमर्श ग्रन्थ तथा 1914 ई. में मैसूर राज्य के पण्डित धर्माधिकारी के पुत्र श्री वेङ्कटाचल शर्मा विरचित [206]श्रीमच्छङ्कराचार्य चरित्रम् में ईस्वी सन् की नवम सदी के स्रोतों को उद्धृत किया गया है । जिसमें युधिष्ठिर शक संवत् 2655 तु. ई. पू. 483 वैशाख शुक्ल दशमी के दिन गोवर्द्धन मठ पर श्री पद्मपादाचार्य का अभिषेक होना लिखा है । स्टडी ऑफ हिस्ट्री एण्ड कल्चर का 12वाँ खण्ड मई 1987 ई. में 'आदि शङ्कर : द सेवियर ऑफ मैनकाइण्ड' शीर्षक से श्री भगवान् वेदव्यास इतिहास संशोधन मन्दिर बम्बई (सम्प्रति मुम्बई) द्वारा प्रकाशित किया गया । इस ग्रन्थ की प्रस्तावना 17 दिसम्बर 1986 ई. को उच्चतम न्यायालय भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री पी. एन. भगवती ने लिखा है जिससे इस ग्रन्थ का रचनाकाल 1986 ई. ज्ञात होता है । इस ग्रन्थ में लिखा गया है कि -[207]गोवर्द्धन मठ के प्राचीन अभिलेख जो कि अडयार (मद्रास) के पुस्तकालय में उपलब्ध है उनमें गोवर्धनमठ पर आचार्य प्रतिष्ठा से सम्बन्धित -

भूतेन्द्रियाङ्गनेत्राब्दे युधिष्ठिरशकस्य वै ।
वैशाखे शुक्लपक्षे च दशम्याम् शोभने दिने ॥

भूत (=5), इन्द्रिय (=5), अङ्ग (=6), नेत्र (=2) अर्थात् युधिष्ठिर शक संवत् 2655 (अंकानाम् वामतो गतिः के अनुसार) में वैशाख शुक्ल दशमी के दिन ।

उर्पयुक्त अति प्राचीन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि गोवर्द्धन मठ पर श्री पद्मपादाचार्य का अभिषेक वैशाख शुक्ल दशमी युधिष्ठिर शक संवत् 2655 तुल्य ई.पू. 483 में हुआ था अतएव 1988 ई. (तथा कथित द्वादश-शताब्दी वर्ष) में पुरी-गोवर्द्धनमठ के 144वें शङ्कराचार्य ने यदि आदि शङ्कराचार्य की बाईसवीं शताब्दी मनाने का सुझाव दिया तो उसे मानवीय भूल ही माना जायेगा ।

सम्भवतः लेखनी प्रमाद वश 'पच्चीसवीं' के स्थान पर उन्होंने '22वीं' लिख दिया हो । चूँकि अब तक पूर्वपक्षी ने उक्त पत्र को प्रकाशित नहीं किया है इसलिए उनका यह अभिकथन अप्रामाणिक भी हो सकता है । महामण्डलेश्वर जी ये 300 वर्ष आपके 1988 ई. में प्रकाशित 14 पृष्ठीय लेख से पूर्व भी परिगणित थे, परन्तु एक आचार्य की तथाकथित मानवीय भूल का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास कर पोपलीला तो आप

कर रहे हैं । 1986 ई. में उच्चतम न्यायालय भारत, श्री पी. एन. भगवती द्वारा लिखित प्रस्तावना युक्त उपर्युक्त ग्रन्थ में भी श्री गोवर्द्धन मठ पर आचार्य प्रतिष्ठापन की तिथि प्राचीन अभिलेखों के आधार पर ई. पू. 483 लिखी गई है । हमारे पास श्री भारती कृष्ण तीर्थ (गोवर्द्धन मठ के 143वें आचार्य) के समय की कालक्रमानुसार आचार्यावली की छाया प्रति उपलब्ध है जो कि उपर्युक्त तिथि की पुष्टि करती है । ऐसी स्थिति में कहाँ 300 वर्ष की न्यूनता थी कि गोवर्द्धन मठ के 144वें शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ के सहवर्ती या उत्तरवर्ती गणों ने 1988 ई. के पश्चात् उक्त संख्या की पूर्ति कर दी ।

जहाँ तक गोवर्द्धनमठ-पुरी के शङ्कराचार्यों की उपाधियों से सम्बन्धित प्रश्न है पूर्वपक्षी को ज्ञात हो कि श्री पद्मपाद अपर नाम सनन्दन से लेकर श्री मधुसूदन तक कुल 142 आचार्यों की उपाधियाँ तीर्थ थीं ऐसा श्री मधुसूदन तीर्थ के आचार्यत्वकाल (1898 ई. से 1926 ई.) में रचित गोवर्द्धनमठ-पुरी की श्लोकबद्ध आचार्य परम्परा से स्पष्ट होता है ।

यथा -

208 .... ।

द्विचत्वारिंशाधिकशत-संख्यः सनन्दनात् ॥37॥

श्रीमत्परमहंसादि नाना-विरुदशोभितान् ।

तीर्थाभिधानिमान् सर्वान् गुरून्नित्यं नमाम्यहम् ॥38॥

श्री गोवर्द्धन मठ की उपर्युक्त श्लोकबद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्रोत में श्री पद्मपादाचार्य की उपाधि का उल्लेख नहीं पाया जाता यहाँ तक कि स्वयं उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में भी, तो क्या आप उन्हें भी कल्पित व्यक्ति कहकर पोपलीला का विस्तार करेंगे ?

पश्चिमाम्नाय में भी दशनाम रहित दोष बिल्कुल नहीं है । द्वारकापीठ के प्राचीन अभिलेखों एवं सूचियों से स्पष्ट है कि वहां के प्रथम 61 आचार्यों की उपाधियाँ तीर्थ अथवा आश्रम थीं । 'अमिट कालरेखा' में प्रकाशित शारदापीठ (द्वारका) के आचार्यों की सूची को समझने की प्रक्रिया इस प्रकार है । प्रथम से तृतीय आचार्य की उपाधि आश्रम थी । चतुर्थ आचार्य की उपाधि तीर्थ थी जिसके कारण सूची में उसका उल्लेख किया गया। उनके अनुवर्ती 5वें से 9वें आचार्यों की उपाधियाँ तीर्थ ही थीं इसलिये उनका उल्लेख नहीं किया गया । 10वें आचार्य की उपाधि आश्रम थी जिसके कारण 11वें

आचार्य का नाम तीर्थ उपाधि सहित लिखा गया । 12वें से 16वें आचार्यों की उपाधियाँ तीर्थ ही थी इसलिए उनकी बार-बार आवृत्ति नहीं की गई । 17वें आचार्य की उपाधि आश्रम होने के कारण 18वें आचार्य की उपाधि तीर्थ का उल्लेख किया गया । 19वें आचार्य की उपाधि आश्रम थी अस्तु 20वें आचार्य की भिन्न उपाधि तीर्थ का उल्लेख किया गया । 21वें आचार्य की उपाधि भी तीर्थ थी परन्तु 22वें आचार्य की उपाधि आश्रम थी जिसके कारण 23वें आचार्य की उपाधि तीर्थ का उल्लेख किया गया । उनके अनुवर्ती 24वें व 25वें आचार्य तीर्थोपाधिक ही थे जिसके कारण उनका उल्लेख नहीं किया गया । 26वें से 78वें आचार्यों का नामोल्लेख उपाधियों सहित किया ही गया है।

पश्चिमाम्नाय शारदामठ-द्वारका की परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्रोत में यहाँ तक कि सुरेश्वराचार्य द्वारा विरचित उनकी पुस्तकों में भी उनकी उपाधि का उल्लेख नहीं पाया जाता, तो क्या महामण्डलेश्वर जी सुरेश्वराचार्य जी को भी कल्पित व्यक्ति मान लेंगे ? मैंने द्वारका मठ की सूची में कोई विसंगति नहीं प्रदर्शित की है बल्कि मठ के अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण को लिपिबद्ध कर दिया है । वहाँ के मठ की सूची में कोई विसंगति ही नहीं है ।

एतावता उपर्युक्त पूर्वपक्ष वितण्डावाद मात्र सिद्ध होता है ।

पूर्वपक्ष-२०

अब हम चलते हैं उत्तराम्नाय की ओर । गिरि, पर्वत और सागर ये वहाँ के नाम हैं । इस प्रदर्शित परम्परा में एक श्री गिरि आता है । वह स्वनाम है या गिरिनामा है वह निश्चय नहीं है । बल्कि श्रीगिरि पूरा या गिरि स्वनाम है । श्री इतना किसी आदमी का नाम नहीं होता ।

श्री विशेषण हो सकता है । वेंकटेश्वर मुद्रित ब्रह्मसूत्र भूमिका में वहाँ की घोषणा प्रणाली में एक गिरिनामा दिया है जिस का उल्लेख आक्षेप्ता ने नहीं किया है ।

उत्तर की कालगणना १५०० ईस्वी से लिखी गयी है । पहले से उमापतिपर्यन्त का और टोकरानन्द से लेकर श्री अच्युतानन्द तक का भी समय लिखा नहीं है । अतः ढाई हजार वर्ष तक की परम्परा कल्पना मात्र पर आधारित है जो प्रामाणिक नहीं हो सकता ।

प्रथम भाग में ही हम लिख चुके हैं कि वहाँ की परम्परा टूट चुकी है आक्षेपकारी कहते हैं कि वहाँ की भी परम्परा टूटी नहीं है । बिना कालावधि कुछ कल्पित नामों को जोड़कर श्रीमान् जी गणनापूर्ति मानते हैं । प्रमाणतया अन्तिम पीठासीन श्री टोकरानन्द लिखा गया है,........ ज्योतिष्पीठ पर इक्यावन पीठाधीश्वर पर्यन्त श्री नारायणतीर्थ और श्रीरामकृष्णतीर्थ के सिवाय किसी का भी नाम तीर्थाश्रमवनारण्यादिनामान्त नहीं है । अतः यह पूरा पोपलीला प्रकरण है । श्री ब्रह्मानन्दसरस्वती स्वयंभू शंकराचार्य बने ।........ मन्त्ररहस्यपरिशिष्ट में तोटकाचार्य से लेकर उमापति तक को चिरजीवी योगी लिखा, कहते हैं । तो क्या इन के बाद वाले सब भोगी हो गये थे ?

उत्तरपक्ष-२०

मात्र श्री नाम भी होता है । लक्ष्मीजी का एक नाम 'श्री' है । एक छन्द है जिसका नाम श्री है , यह संस्कृत साहित्य का सबसे छोटा छन्द है । महोदय 'श्री' विशेषण तथा 'गिरि' आचार्य का नाम है। एक बार श्रीमद्भागवत् महापुराण पुनः पढ़िये वहाँ पर श्री रामचन्द्र के प्रपौत्र का नाम 'नभ' लिखा है । जब 'नभ' किसी का नाम हो सकता है तो 'गिरि' क्यों नहीं ? 1896 ई. सन् में रचित [209]'विमर्शः' तथा 1914 ई. सन् में विरचित [210]'श्री शङ्कराचार्य चरित्रम्' में ईसवी सन् की नवम सदी के प्राचीन स्रोतों को प्रस्तुत किया गया है जिनके अनुसार ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम की स्थापना ज्येष्ठकृष्ण अमावस्या युधिष्ठिर शक संवत् 2646 तुल्य ई. सन् पूर्व 492 में तथा उस पीठ पर तोटकाचार्य का अभिषेक पौष शुक्ल 15 युधिष्ठिर शक संवत् 2654 तुल्य ई. पू. 484 को किया गया । बद्रीनाथ लेखमाला तथा गढ़वाल के इतिहास से इस मठ के 22वें आचार्य का अभिषेक वि. सं. 1500 तु. ई. सन् 1443 निश्चित होता है । अतएव इस मठ के प्रथम 21 आचार्यों (श्री तोटकाचार्य से श्री उमापति पर्यन्त) का आचार्यत्वकाल ई.पू. 484 से ई. सन् 1443 निश्चित होता है । ई.पू. 484 के अन्तिम चतुर्थांश में प्रथम आचार्य तोटकाचार्य का अभिषेक तथा ई. सन् 1443 में 22वें आचार्य श्री बालकृष्ण स्वामी का अभिषेक हुआ इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए गणना करने पर हमें प्रथम 21आचार्यों का आचार्यत्वकाल 1926 वर्ष प्राप्त होता है इस आधार पर

प्रत्येक आचार्य का औसत आचार्यत्वकाल 91 वर्ष 8 माह 17 दिन (लगभग) निश्चित होता है । चिरजीवी का तात्पर्य पूर्वपक्षी ने दीर्घजीवी बताया है जो कि सर्वथा संगत है। इन आचार्यों के औसत आचार्यत्व काल को देखते हुए इन आचार्यों की औसत आयु 125 वर्ष प्रतीत होती है जिसके कारण इन्हें 'चिरजीविनः' अर्थात दीर्घजीवी कहा गया है । वर्तमान् काल में भी अनेक दीर्घजीवी व्यक्ति संप्राप्त हैं यथा - [211]डोरा जेकब्स 120 वर्ष की महिला हैं जिनका जन्म दक्षिण अफ्रीकान्तर्गत कारू के पैड्डाफोंटेन में 6 मई 1880 ई. को हुआ था । 'गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स' के नये संस्करण में सारा नाउस नामक 120 वर्षीय महिला का उल्लेख है जिनका जन्म पेंसिलवेनिया में सितम्बर 1880 ई . में हुआ था । [212]30 मार्च 2000 ई. के दिन भारत के राष्ट्रपति के. आर. नारायणन् ने 124 वर्षीय स्वामी कल्याणदेव को पद्मभूषण उपाधि से अलंकृत किया जिनका जन्म 1876 ई. सन् के जून माह में उत्तर प्रदेश के बागपत जनपद में हुआ था । [213]गंगोत्री के अवधूत स्वामी श्री कृष्णाश्रम का जन्म माघ शुक्ल पञ्चमी विक्रम संवत् 1870 में हुआ था वे 157 वर्ष की आयु में विक्रम संवत 2027 में ब्रह्मलीन हुए ।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ज्योतिर्मठ के प्रथम 21 दीर्घजीवी आचार्यों की औसत आयु 125 वर्ष होना सर्वथा सम्भाव्य है । 22वें आचार्य का आचार्यत्व काल विक्रम संवत् 1500 तुल्य ई. सन् 1443 से आरम्भ होता है वे 57 वर्ष तक पीठासीन रहे इस प्रकार विक्रम संवत् 1557 तुल्य ईसवी सन् 1500 में उनके आचार्यत्वकाल का समापन हुआ । पूर्वपक्षी ने किसी प्रमादवश इनके आचार्यत्व समापन काल 1500 ई. को इनके आचार्यत्व का आरम्भकाल मानकर यह कह दिया है कि उत्तर की कालगणना 1500 ई. से आरम्भ होती है। श्री बालकृष्ण का आचार्यत्व काल वि.सं. 1500 से आरम्भ होता है, मन्त्र रहस्य (परिशिष्ट) भी लगभग इसी काल का है जिससे 21वें आचार्य उमापति के पश्चात् यहाँ की आचार्य-परम्परा के विच्छिन्न होने की शङ्का निर्मूल हो जाती है ।

ज्योतिर्मठ के 22वें आचार्य श्री बालकृष्ण स्वामी से 42वें आचार्य श्री रामकृष्ण तक का आचार्यत्वकाल समेत उल्लेख 'गढ़वाल का इतिहास' और 'बद्रीनाथ लेखमाला' में उपलब्ध होता है । वहाँ इन आचार्यों का काल ई. सन् 1443 से ई. सन् 1776 उल्लिखित है । [214]42वें आचार्य श्री रामकृष्ण के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य श्री टोकरानन्द का टिहरी नरेश से मतभेद हो गया जिसके कारण राजकोप के

फलस्वरूप उन्हें ज्योतिर्मठ का त्याग करना पड़ा । ज्योतिर्मठ का त्याग कर स्वामी टोकरानन्द भारत के अन्य प्रदेशों में भ्रमण करते हुए राजस्थान पहुँचे । यहाँ पर उनकी विद्वत्ता, पाण्डित्य व तपश्चर्या से प्रभावित राजस्थानी जनता ने उनका बहुत सम्मान किया। राजस्थान आदि प्रदेशों में अनेक वर्षों तक भ्रमण करने के पश्चात् 1788 ई. सन् में श्री टोकरानन्द गुर्जर-प्रदेश में पधारे । प्रथम विश्राम उन्होंने सप्त नदियों के संगम स्थल वौठा में किया । वहाँ से चलकर वे प्राचीन नगरी धोलका पहुँचे । यहाँ के ब्राह्मण वेद वेदाङ्ग में पारंगत थे उन लोगों ने स्वामी जी का बहुत सत्कार कर उनसे धोलका में ज्योतिष्पीठ का स्थानापन्न मुख्यालय बना कर काशी की भाँति एक विद्याकेन्द्र के रूप में उसे विकसित करने की प्रार्थना की जिसे स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया । उन्होंने धोलका में ज्योतिष्पीठ के स्थानापन्न मुख्यालय की स्थापना की । उनके पश्चात् क्रमशः श्री पुरुषोत्तमानन्द गिरि, श्री कैलाशानन्द गिरि, श्री विश्वेश्वरानन्द गिरि एवम् श्री अच्युतानन्द गिरि ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य हुए । अच्युतानन्द गिरि के शिष्य श्री राजराजेश्वरानन्दगिरि का अभिषेक विक्रम संवत् (गुजराती) 1929 तु. ई. सन् 1873 में हुआ । इस प्रकार ज्योतिष्पीठ के 43वें आचार्य टोकरानन्द से 47वें आचार्य श्री अच्युतानन्द गिरि समेत कुल 5 आचार्यों का आचार्यत्व काल 1776 ई. से 1873 ई. तक रहा । 48 वें आचार्य श्री राजराजेश्वरानन्द गिरि (1873 ई. से 1903 ई.) के समय की विरुदावली का प्रकाशन, ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य पर आनन्दगिरीय, भामती, रत्नप्रभा तीन टीकाओं सहित वेङ्कटेश्वर प्रेस से (गु.) विक्रम संवत् 1970 तु. ई. 1914 में 2 खण्डों में किया गया था । जिसकी [215]भूमिका में इन्हें अविच्छिन्न गुरु परम्परा तथा तोटकाचार्य की परम्परा प्राप्त ज्योतिर्मठ का शङ्कराचार्य कहा गया है ।

यथा -

श्री शङ्करो विजयतेतराम् ।

श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाध्याष्टाङ्गयोगाचरणनिष्ठ ब्रह्मनिष्ठ चक्रवर्तित्वाद्यनाद्यविच्छिन्न गुरुपरम्पराप्राप्तवैभवसकलनिगमागमाखिल-वेदान्तानुभवाधिसञ्जात शुद्धान्तःकरण वैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीकैलाशक्षेत्र-स्थितसुवर्णश्रीराममणिमाणिक्य रत्न विलसन्मण्डप सिंहासानाधिरूढ़-श्रीविष्णुप्रयागतीरनिवाससर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीगुरुचरणारविन्दोपासनावास

श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीज्योतिर्मठाधीश्वरषण्मतस्थापनाचार्याखण्ड भूमण्डलाचार्य तोटकाचार्य परम्पराप्राप्त स्वस्थानवैभवश्रीमच्छङ्कराचार्य विभूतिवर्य श्रीनगर महास्थान राजधानी विराजित सद्गुरुजगद्गुरुगुरुवर्य श्रीमदच्युतानन्दकरकमलसञ्जाताभिषेकमहाराजाधिराजश्रीमच्छङ्कराचार्यश्री-राजराजेश्वरानन्दगिरिस्वामिनाम् ॥

श्री राजराजेश्वरानन्द गिरि के पश्चात् क्रमशः श्री मधुसूदनानन्द पर्वत (ई. सन् 1903 से 1911) व श्री विजयानन्द पर्वत (ई.सन् 1911से 1939) शङ्कराचार्य हुए । तत्पश्चात् ई. सन् 1939 में श्री अद्वैतानन्द सागर इस पद पर अभिषिक्त हुए ।

[216]इस बीच ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रम भूकम्प के कारण नष्ट हो गया । 1908 ई. सन् में 'भारत धर्म महामण्डल' के प्रयत्न से काश्मीर, उदयपुर, नेपाल, आदि राज्यों के राजाओं का विराट् अधिवशेन हुआ जिसमें पीठोद्धार विषयक प्रस्ताव रखा गया। इस मठ का पता ही न था । सन् 1910 ई. में 'भारतधर्म महामण्डल' के संस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द जी के नेतृत्व में मठस्थल की अन्वेषक दल ने खोज की । [217]गढ़वाल के सरकारी कागजों में पाँच विश्वा जमीन मठ के नाम चली आ रही थी । उसी भूखण्ड के आधार पर 'भारत धर्म महामण्डल' ने उस स्थान का पता कर पीठ का उद्धार करने तथा अध्यात्मविद्या के प्रचार हेतु 'काशी विद्वत् परिषद्' के विद्वानों, यतियों तथा (अन्य तीन आम्नाय मठों के) तीनों शङ्कराचार्यों के समर्थन से परम एकान्तसेवी, महानिर्भीक, अद्वितीय तपस्वी, परम वीतराग श्रीमद्दण्डी स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज का ज्योतिर्मठ के शङ्कराचार्य पद पर वाराणसी में वि. सं. 1998 चैत्र शुक्ल चतुर्थी (तुल्य ई. सन् 1941) को विधिवत् अभिषेक किया गया । ये अविच्छिन्न आचार्य परम्परा के 52वें शङ्कराचार्य थे । अतएव यह कहना कि श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती स्वयंभू शङ्कराचार्य बने, महामण्डलेश्वर जी की अल्पज्ञता अथवा कुत्सित मानसिकता का ही द्योतक है । धोलका की आचार्य परम्परा के 9 आचार्यों के नामों को कल्पित कहना सफेद झूठ ही कहा जायेगा । शाङ्करभाष्य की टीकात्रय समेत वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित ग्रन्थ की भूमिका में तत्कालीन शङ्कराचार्य श्री राजराजेश्वरानन्द गिरि की विरुदावली मुद्रित है जिसमें उनके गुरु अच्युतानन्द गिरि का नाम भी है । ये दोनों धोलका मठ के पाँचवें व छठवें आचार्य थे । 1988 ई. में प्रकाशित हिंमतलाल उमिया शंकर दवे की पुस्तक 'उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठ' में भी धोलका मठ के नौ आचार्यों का विस्तृत विवरण दिया गया

है । [218क]धोलका मठ के आठवें आचार्य श्री विजयानन्द सागर के साथ श्री गोवर्द्धन मठ-पुरी के शङ्कराचार्य श्री मधुसूदन तीर्थ का प्रगाढ़ सम्बन्ध था । उनके साथ उनका पत्र व्यवहार होता रहता था । वे दोनों साथ-साथ धर्म प्रचार में भी जाते थे । इस मठ के 9वें आचार्य श्री अद्वैतानन्द सागर के अभिषेक के समय श्री गोवर्द्धनमठ पुरी के तत्कालीन शङ्कराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ स्वयं उपस्थित थे ।

महामण्डलेश्वर जी का यह कहना कि ज्योतिष्पीठ के 51 पीठाधीश्वर पर्यन्त श्री नारायण तीर्थ व श्री रामकृष्ण के सिवाय किसी का नाम तीर्थआश्रमवनारण्यादि नामान्त नहीं है, असत्य है । 44वें आचार्य से 48वें आचार्य तक की उपाधियाँ गिरि, 49वें आचार्य की पर्वत तथा 50 व 51वें आचार्यों की उपाधियाँ सागर थी । अन्य आचार्यों के नामों के उपाधि विहीन उल्लेख के आधार पर पूर्वपक्षी उन्हें कल्पित व्यक्ति नहीं सिद्ध कर सकते । तोटकाचार्य के नाम के साथ भी तो किसी उपाधि का प्रयोग कहीं भी नहीं संप्राप्त है परन्तु उनके अस्तित्व को तो पूर्वपक्षी नहीं नकारते तब फिर अन्यों के अस्तित्त्व को इस आधार पर उनके द्वारा नकारना कैसे मान्य हो सकता है? पूर्वपक्षी के लिये प्रमाणभूत शृङ्गेरी मठ की अर्वाचीन सूची में भी वहाँ के प्रथम 6 आचार्यों की उपाधियाँ नहीं लिखी गई हैं । उक्त मठ के आधिकारिक ग्रन्थ 'गुरुवंश काव्यम्' (जो लगभग 1735 ई. में लिखा गया है) में भी उपर्युक्त 6 आचार्यों की उपाधियाँ नहीं लिखी गई हैं ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी इन आचार्यों को भी कल्पित क्यों नहीं कहते ? मापदण्ड तो एक ही होता है, महामण्डलेश्वर जी यह दुहरा मापदण्ड क्यों?

आपका यह कहना कि -'मंत्र रहस्य परिशिष्ट में तोटकाचार्य से उमापति तक को चिरजीवी योगी लिखा है, तो क्या इनके बाद वाले सब भोगी हो गये थे'? - शङ्कराचार्यों के प्रति आपके विद्वेष व सामान्य छल का प्रदर्शन मात्र है । सम्बन्धित श्लोक निम्न है -

एते ज्योतिर्मठाधीशाः आचार्याश्चिरजीविनः ।
य एतान् संस्मरेन्नित्यं योगसिद्धिं स विन्दति ॥

अर्थात् ये सभी पूवोक्त ज्योतिर्मठाधीश आचार्य दीर्घजीवी हुए हैं इनका नित्य स्मरण करने से योगसिद्धि प्राप्त होती है ।

इस श्लोक में यह कहाँ कहा गया है कि ये आचार्य योगी हैं ? और यदि कहा भी गया होता तो इसमें दोष क्या होता ? उस समय तक के आचार्यों को यदि योगी कहा

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और पार्थ धनुर्धर हैं वहीं जय होगी -

[218ख]**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।**
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

तो क्या कोई यह कह सकता है कि तब तो उस समय श्री कृष्ण के अतिरिक्त व्यास आदि सभी भोगेश्वर और अर्जुन के अतिरिक्त भीष्मादि सभी अधनुर्धर थे ? यदि वह ऐसा कहता है तो उसकी संज्ञा 'महामूर्ख' अथवा स्वामी दयानन्द जी की भाषा में 'कुत्सित विचारों वाला पोप' ही होगी ।

पूर्वपक्ष-२१

हमारे संन्यासी परमहंसों में टोकरानन्द, झाडूआनन्द, कच्चरानन्द आदि नाम नहीं होते । अनपढ़ गुरु-चेलावाले नागा संन्यासियों में इलायचगिरि आयतवारगिरि आदि नाम मिलते हैं ।

पहले समय में नागा संन्यासियों का संन्यास संस्कार शंकराचार्य पीठासीन ही करते थे । शंकराचार्य पीठ के टूटने से ही निर्वाणी, निरंजनी आदि अखाड़े वालों ने मण्डलेश्वरों को शंकराचार्यस्थानापन्न मान कर उनसे संस्कार कराना शुरू किया और उन्हें अपना आचार्यगुरु माना ।

वर्तमान द्वारिकापीठासीन श्री स्वरूपानन्द सरस्वती और स्वयं मैं लुधियाना में एक इलायचगिरि मंदिर में एक साथ ठहरे थे । उनसे पूछिये कोई इलायची आनन्दतीर्थ शंकराचार्य पीठ पर आया है ?

उत्तरपक्ष-२१

महामण्डलेश्वर जी ! अब तो आपने कृतघ्नता की पराकाष्ठा कर दी । जिन नागा सन्यासियों ने महामण्डलेश्वरों को बनाया, उन्हें सम्मान दिया उन्हें ही अनपढ़ गुरु-चेला

वाले झाडूआनन्द, कच्चरानन्द, इलायचगिरि, आयतवार गिरि आदि नामों वाला कह कर आपने उनका घोर अपमान किया है । दशनामी अखाड़ों में 7 मुख्य अखाड़े हैं । 1. पंचायती (महानिर्वाणी) अखाड़ा प्रयाग, 2. पंचायती (निरंजनी) अखाड़ा प्रयाग, 3. अखाड़ा अटल, 4. भैरव (जूना) अखाड़ा, 5. आनन्द अखाड़ा, 6. अग्नि अखाड़ा तथा 7. आवाहन अखाड़ा । [219]मुसलमानों के समय में अटल अखाड़े के साथ तीन लाख मूर्तियाँ रहती थी । तात्पर्य यह कि जिस किसी को भी देवमूर्ति को किसी मुसलमान द्वारा भङ्ग किये जाने की आशङ्का होती थी वह इसकी सूचना अटल अखाड़े को दे देता था वे उन मूर्तियों को अपनी अभिरक्षा में ले लेते थे जिसके कारण उनके पास उस समय बहुत अधिक मूर्तियाँ हो गयी थीं । जोधपुर क्षेत्र में इनका विशेष प्रभाव था । मुसलमानों द्वारा जोधपुर पर किये गये आक्रमण के समय इस अखाड़े के वीर तथा धर्मनिष्ठ महात्माओं ने उनकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया था । अखाड़ा सम्प्रदाय का एक महान् उद्देश्य था । इन अखाड़ों ने वैदिक धर्म की रक्षा की। विधर्मियों का सामना किया तथा आपत्ति-काल में इन महान् अखाड़ों ने देश व धर्म की रक्षा के लिये युद्ध किया, विशेषकर राजस्थान तथा मध्य-प्रदेश में । गुप्तकाल में यह परिव्राजक राजा के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके अनेकों शिलालेख भी उपलब्ध हैं । कालान्तर में इनकी प्रसिद्धि अखाड़ों के रूप में हुई । मध्यकाल में इनकी विशेष प्रभुसत्ता थी । 'हिम्मत बहादुर गिरि' ऐसे ही लड़ाकू योद्धा थे जिनके युद्ध का वर्णन महाकवि पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में किया है । शस्त्रधारी नागा सम्प्रदाय इसी वर्ग का है । इनके महन्त व्याकरण, षड्दर्शन आदि विषयों के दिग्गज तथा योग्यतम विद्वान् होते हैं । ये वैदिक मत का प्रचार करते हैं । [220]स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज भिक्षु, तपोवन हरिद्वार के शिष्य डॉ. किरण जग्गी सम्प्रति विवेक ज्योति ने पुष्ट प्रमाणों के साथ लिखा है कि आवाहन अखाड़े की स्थापना 547 ई. सन् में, अटल अखाड़े की स्थापना 647 ई. सन् में, महानिर्वाणी अखाड़े की स्थापना 749 ई0 सन् में, आनन्द अखाड़े की स्थापना 799 ई. सन् (वि. सं. 856) में, निरंजनी अखाड़े की स्थापना 904 ई. में तथा पंचअग्नि अखाड़े की स्थापना 1145 ई. सन् में हुई थी । जूना अखाड़ा भी प्राचीन अखाड़ा है ।

सम्भवतः इन अखाड़ों के गौरवशाली इतिहास को नकारने की दृष्टि से महामहामण्डलेश्वर जी ने इन्हें अनपढ़ गुरुचेला वाले कह दिया क्योंकि इन अखाड़ों के

इतिहास से स्पष्ट है कि तथाकथित आचार्य शङ्कर के आविर्भाव काल 788 ई. के पूर्व 547 ई. में आवाहन, 647 ई. में अटल तथा 749 ई. में महानिर्वाणी अखाड़े की स्थापना हो चुकी थी । ये सभी अखाड़े दशनामी सम्प्रदाय के हैं और अपना उद्गम स्रोत आदि शङ्कराचार्य को ही मानते हैं, बताइये महामण्डलेश्वर जी क्या शृङ्गेरी मठ की प्रतिष्ठा गिराने हेतु अन्य तीन आम्नाय मठों के शङ्कराचार्यों से मिलकर इन गौरवशाली परम्परा वाले अखाड़ों ने भी कूट इतिहास का सृजन किया?

यह कहना कि शंकराचार्य पीठ टूटने से निर्वाणी, निरंजनी आदि अखाड़े वालों ने मण्डलेश्वरों को शंकराचार्यस्थानापन्न मानकर उनसे संस्कार कराना शुरू किया और उन्हें अपना आचार्य गुरु माना, पूर्वपक्षी की तुच्छ महत्वाकांक्षा का प्रतीक है । यद्यपि ज्योतिष्पीठ के मूल स्थान पर लगभग 165 वर्ष (1776 ई. से 1941 ई.) तक कोई शङ्कराचार्य नहीं रहते थे । परन्तु स्थानापन्न ज्योतिष्पीठ धोलका, शारदापीठ द्वारका, गोवर्धनपीठ-पुरी तथा शृङ्गेरी मठ में तो शङ्कराचार्य थे ही । ऐसी स्थिति में शंकराचार्य पीठ कहाँ टूटे ?

कोई अल्पबुद्धि शास्त्रानभिज्ञ व्यक्ति ही माण्डलिक को सार्वभौम का स्थानापन्न कह सकता है । 'माधवीय शङ्कर दिग्विजय', शृंगेरी मठ के आधिकारिक ग्रन्थ 'गुरुवंश काव्यम्' आदि में शङ्कराचार्य के लिये 'यति सार्वभौमः' का प्रयोग किया गया है । 'गुरुवंश काव्यम्' में शृंगेरी के परवर्ती शङ्कराचार्यों के लिये भी 'यति सार्वभौमः' का प्रयोग किया गया है । शारदामठ-द्वारका, गोवर्द्धन मठ-पुरी, स्थानापन्न ज्योतिष्पीठ (धोलका) तथा शृंगेरी मठ की लगभग 100 वर्ष पूर्व प्रकाशित वहाँ के शङ्कराचार्यों की विरुदावलियों में उन्हें 'श्रीमंद्राजाधिराज गुरुभूमण्डलाचार्य' कहा गया है । ऐसी स्थिति में यदि अखाड़े वाले पूर्वपक्षी को शङ्कराचार्य स्थानापन्न बनाते तब तो उन्हें महामण्डलेश्वर न कहकर 'श्रीमद्राजाधिराज गुरुभूमण्डलाचार्य' कहते परन्तु अखाड़ों के विद्वान् श्री महन्तों, पदाधिकारियों आदि ने 'महामण्डलेश्वर' कहकर अपनी अद्भुत शास्त्रज्ञता का परिचय दिया है ।

शुक्रनीति में कहा गया है - [221]जिस राजा को वार्षिक राजस्व एक लाख कर्ष से तीन लाख कर्ष प्राप्त होता है उसे 'सामन्त' तथा उससे अधिक दस लाख कर्ष तक वार्षिक राजस्व प्राप्त करने वाला राजा 'माण्डलिक' कहलाता है । दस लाख से ऊपर 20 लाख कर्ष तक वार्षिक राजस्व प्राप्त करने वाला राजा तथा 20 लाख से ऊपर 50 लाख कर्ष तक वार्षिक राजस्व प्राप्त करने वाला 'महाराज' कहलाता है । इसके ऊपर एक करोड़

कर्ष तक वार्षिक राजस्व पाने वाला प्रशासक 'स्वराट्' कहलाता है । एक करोड़ से ऊपर दस करोड़ कर्ष जो वार्षिक राजस्व पाता है वह 'सम्राट्' होता है । दस करोड़ से ऊपर पचास करोड़ कर्ष तक राजस्व प्राप्त करने वाला 'विराट्' तथा इससे अधिक राजस्व प्राप्त करने वाला राजा 'सार्वभौम' होता है ।

उपर्युक्त मानदण्ड के आधार पर 1. पचास करोड़ से अधिक मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य यति-सार्वभौम, गुरुभूमण्डलाचार्य, अखण्डभूमण्डलाचार्य अथवा जगद्गुरु; 2. पचास करोड़ मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, धर्मविराट्; 3. दस करोड़ मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, धर्मसम्राट्; 4. एक करोड़ मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, धर्मस्वराट्; 5. पचास लाख मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य; महाराज अथवा श्रीमहाराज; 6. बीस लाख मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, धर्मात्मा या धर्मराज, 7. दस लाख मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, माण्डलिकाचार्य अथवा महामण्डलेश्वर तथा 8. तीन लाख मनुष्यों के मार्गदर्शन हेतु नियुक्त आचार्य, सामन्ताचार्य या श्रीमहन्त कहलाता है । शङ्कराचार्य स्थानापन्न होने का दिवास्वप्न देखने वाले महामण्डलेश्वर जी अब तो आपको अपनी औकात मालूम हो गयी होगी कि अखाड़ों के परम विद्वान् श्रीमहन्तों, महन्तों आदि ने आपको शङ्कराचार्यों से 7 सीढ़ी नीचे का स्थान दिया है न कि शङ्कराचार्यों के बराबर का स्थान । वर्तमान काल में भी सुविधा की दृष्टि से एक जनपदाधीश अथवा मण्डलाधीश अपने जनपद या मण्डल में राज्यसरकार का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य सरकार के सारे दायित्वों का निर्वहन करता है तो क्या उसे पूर्वपक्षी राज्य सरकार का स्थानापन्न कह सकते हैं ?

ऐसा प्रतीत होता है कि जब ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य धोलका चले गये तब उन्होंने नागा सन्यासियों से विमर्श कर उनकी अनुशंसा पर प्रत्येक अखाड़ों के लिये एक-एक आचार्य महामण्डलेश्वर नियुक्त करने की मान्यता प्रदान कर दी जिससे कि दीक्षा-संस्कार आदि कार्यों में कठिनाई न हो । तब से आचार्य महामण्डलेश्वर शङ्कराचार्यों के प्रतिनिधि स्वरूप यह सब कार्य कुशलता पूर्वक सम्पादित करने लगे । पश्चात् अखाड़े वालों ने महामण्डलेश्वर की 'मानद उपाधि' देना आरम्भ किया परन्तु उन्होंने इन मानद महामण्डलेश्वरों को नागा संन्यासियों को दीक्षा-संस्कार आदि करने का अधिकार नहीं दिया, यह अधिकार केवल आचार्य महामण्डलेश्वरों को प्रदत्त है ।

महामण्डलेश्वर जी के शब्दों में (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृ. 9) तो यही कहा

जा सकता है कि - "महामण्डलेश्वर जी की अन्तर्ज्वाला सीमा पार कर गयी थी तब पागलों जैसे बकवास शुरु किया, ऐसा लगता है ।" आचार्य और विद्वान् होने में बढ़िया और घटिया नाम होने से क्या मतलब ?

[222]श्रीरामकृष्ण परमहंस के गुरु का नाम तोतापुरी था । श्रीमद्दण्डी संन्यासी स्वामी शिवबोधाश्रम द्वारा चार खण्डों में रचित महाग्रन्थ गुरुवंश पुराण में रोटी बाबा, खटखटा बाबा, बर्फानी बाबा, आलू बाबा, मूर्खानन्द, गन्धा बाबा, न्याण्टा बाबा, रसानन्द, मस्तराम, मगनानन्द, बैलोन दण्डी स्वामी, फलहारी बाबा, काली कमली वाले बाबा आदि अनेकों परम विद्वान् सिद्ध महात्माओं, परमहंसों का विस्तृत वर्णन किया गया है । उसी महाग्रन्थ में परम विद्वान् श्री भयंकराचार्य नागा बाबा का भी वर्णन है । उक्त महाग्रन्थ को लेकर महामण्डलेश्वर जी पढ़ लीजिएगा आपकी बुद्धि में इस तथ्य का प्रकाश हो जायेगा कि मात्र 'नाम' से कोई विद्वान् और मूर्ख नहीं होता तथा परमहंसों में भी मूर्खानन्द जैसे नाम वाले परम विद्वान् परिव्राजक हुये हैं ।

आपने नागा सन्यासियों को अनपढ़ गुरुचेला वाले तथा घटिया नाम वाला कहकर पराक्रमी, वैदिक धर्म-रक्षक, शाङ्कर सम्प्रदाय के सैन्य बल नागाओं का घोर अपमान किया है इसके लिये आपको सम्बन्धित अखाड़ों एवं नागा सन्यासियों से अविलम्ब सार्वजनिक क्षमा याचना करनी चाहिए ।

अन्त में जो कम महत्वपूर्ण नहीं है, अनन्त श्री महामण्डलेश्वर जी ने मुझे वर्तमान द्वारका-शारदा पीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज से यह पूछने के लिये कहा था कि क्या कोई इलायचीआनन्दतीर्थ शङ्कराचार्य पीठ पर आया है ? लगता है बाबाजी भाँग सेवन थोड़ा ज्यादा कर गये होंगे इसलिये ऐसा लिख दिया । (ये शब्द मेरे लिये आलोच्य पुस्तक के पृ. 50 पर प्रयुक्त हैं) क्योंकि जब सभी मठों के शङ्कराचार्यों द्वारा प्रामाणिक सूचियाँ मैंने 'अमिट काल रेखा में' प्रकाशित कर दी हैं तब यह प्रश्न एक शंकराचार्य से करने का क्या औचित्य है? आपकी आलोच्य पुस्तक 6 मार्च 2001ई. सन् को मुझे प्राप्त हुई और संयोगवश 10 मार्च 2001 ई.सन् को द्वारका-शारदापीठाधीश्वर महाराज भी कलकत्ता पधारे । सत्यता की जाँच हेतु मैं उनसे समय लेकर मिला और प्रश्न किया - 'क्या आप महामण्डलेश्वर काशिकानन्द गिरि के साथ लुधियाना में किसी इलायचगिरि मन्दिर में ठहरे थे ? इस पर उनका उत्तर था 'मैं लुधियाना कभी गया ही नहीं ऐसे में किसी इलायचगिरि मन्दिर

में वहाँ किसी महामण्डलेश्वर काशिकानन्द जी के साथ ठहरने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, वाराणसी में एक बार गीता मन्दिर के महामण्डलेश्वर जी मुझे गीता मन्दिर में निमंत्रित कर ले गये थे वहाँ पर एक काशिकानन्द नामक व्यक्ति मुझसे बड़ी शिष्टता के साथ मिले थे यथोचित दण्ड-प्रणाम आदि उन्होंने अन्य लोगों के साथ किया था । उस समय वे वहाँ पर सम्भवतः अध्ययन कर रहे थे । तत्पश्चात् उन काशिकानन्द जी से अब तक मेरी कभी भेंट नहीं हुई ।'

अधिवक्ताओं (आपके शब्दों में वाक्कीलकों) को झूठ बोलने वाला कहने वाले महामण्डलेश्वर आपने द्वारका-शारदापीठाधीश्वर के साथ लुधियाना में इलायचगिरि मन्दिर में अपने ठहरने की मिथ्या कहानी गढ़कर क्या स्वयं को झूठा प्रमाणित नहीं कर दिया?

नागाओं को एक ओर आप महामण्डलेश्वरों का निर्माता कहते हैं और वहीं दूसरी ओर आप उन्हें अनपढ़ गुरुचेला वाले कहकर क्या गोस्वामी तुलसीदास जी रचित चौपाई -

[223]**जेहि ते नीच बड़ाई पावा । सो प्रथमहिं हठि ताहि नसावा ।**

को चरितार्थ नहीं कर रहें हैं ?

पूर्वपक्ष-२२

श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती ने ज्योतिष्पीठ के मूलस्थान के पास एक मठ बनाकर वहाँ के वे स्वयंभू शंकराचार्य बने । वे संप्रदायानुसारी पीठस्थ नहीं थे । उन के निर्वाणोत्तर श्री शान्तानन्द जी गद्दी पर आये । श्रीकरपात्री जी ने श्री कृष्णबोधाश्रम को शंकराचार्य बनाया अर्थात् कौन शंकराचार्य बनाता है यह भी विज्ञों के सामने प्रश्नचिह्न पर आ गया । दोनों में मुकदमा चला और कोर्ट ने भी शान्तानन्द जी के पक्ष में फैसला दिया अर्थात् श्रीकृष्णबोधाश्रमजी अवैध शंकराचार्य हुए जिन के स्थानापन्न वर्तमान पीठाधिपति हुए । वे कैसे पीठाध्यक्ष हो सकते हैं यह वाक्कीलकों को बताने की जरूरत नहीं है ।

उत्तरपक्ष-२२

श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती काश्मीर, उदयपुर, नेपाल आदि राज्यों के राजाओं तथा शेष तीनों आम्नाय मठों के शङ्कराचार्यों, काशी विद्वत्परिषद्, भारत धर्म महामण्डल एवं उसके संस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द जी द्वारा 1 अप्रैल 1941 ई. को ज्योतिष्पीठ के मूल मठ का पुनरुद्धार करने के पश्चात् वहाँ के शङ्कराचार्य बनाये गये । [224]उन्होंने शृङ्गेरी के शंकराचार्य के प्रशिष्य तथा श्री स्वामी अनिरुद्धानन्द जी के शिष्य परम तपस्वी बाल ब्रह्मचारी, योगिराज स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती से प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर विक्रम संवत् 1964 तुल्य ई. सन् 1907 में विधि पूर्वक दण्ड ग्रहण कर सन्यास लिया था। तत्कालीन तीनों शंकराचार्यों के द्वारा ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य के रूप में उन्हें मान्यता दी गई थी ऐसी स्थिति में कोई महामूर्ख ही उन्हें स्वयंभू व असम्प्रदायानुसारी शङ्कराचार्य कह सकता है ।

[225]श्री ब्रह्मानन्द जी सरस्वती को शङ्कराचार्य बनाये जाने के पश्चात् भारत धर्म महामण्डल द्वारा न्यास की उद्घोषणा के विलेख दिनांकित 11.5.1941 ई. द्वारा पौड़ी गढ़वाल में स्थित ज्योतिष्पीठ की सभी भूमि एवं स्थल जो अधिग्रहीत की गयी थी एवं बनारस स्थित आश्रम तथा उसकी भूमि उनको ज्योतिष्पीठ के लाभ हेतु न्यास में उल्लिखित शर्तों के अधीन दे दी गयी । स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती दिनांक 20.5.1953ई. को ब्रह्मलीन हो गये । तत्पश्चात् उनके द्वारा निष्पादित कथित वसीयत विलेख दिनांकित 18.12.1952ई. के आधार पर श्री रामजी त्रिपाठी (कालान्तर में श्री शान्तानन्द सरस्वती नाम से ज्ञेय) ने स्वयं को ज्योतिष्पीठ का शङ्कराचार्य घोषित कर दिया । उक्त वसीयत में 1. श्रीरामजी त्रिपाठी, 2. श्रीद्वारिका प्रसाद शास्त्री, 3. स्वामी विष्णुदेवानन्द सरस्वती तथा 4. स्वामी परमानन्द सरस्वती को क्रमशः एक के बाद एक उत्तराधिकारी बनाया गया था । श्री रामजी त्रिपाठी अपरनाम श्री शान्तानन्द सरस्वती शङ्कराचार्य की दावेदारी करने के कुछ समय पूर्व तक गीता प्रेस गोरखपुर में बुक बाइन्डर (जिल्दसाज) के रूप में कार्य करते थे । उन्हें संस्कृत भाषा का भी ज्ञान नहीं था इस कारण वे वैदिक दर्शन एवं अन्य शास्त्रों का विवेचन एवं उनका विश्लेषण करने में सक्षम नहीं थे ।

मठाम्नाय महानुशासनम् में आदि शङ्कराचार्य द्वारा कहा गया है कि- 'जो पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदाङ्गादि एवम् सभी शास्त्रों में पारंगत हो तथा परमात्मज्ञानी हो वह

(परिव्राजक) मेरे पीठ का अधिकारी हो । उपर्युक्त लक्षणों से युक्त व्यक्ति ही मेरे पीठ का अधिपति हो सकता है, अन्यथा पीठारूढ़ होने पर भी मनीषियों के द्वारा उसे हटा दिया जाना चाहिए' । यथा -

शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादि विशारदः ।
योगज्ञः सर्वशास्त्राणां स मदास्थानमाप्नुयात् ॥
उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत् ।
अन्यथारूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥

अतएव मठाम्नाय महानुशासनम् के उपर्युक्त वचन के अनुपालन में श्री रामजी त्रिपाठी अपरनाम शान्तानन्द सरस्वती का दावा अयोग्यता के आधार पर तीनों शङ्कराचार्यों, विद्वानों, संन्यासियों एवं शाङ्कर सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। अन्त में तीनों शङ्कराचार्यों व अन्याय धार्मिक संस्थाओं की सहमति से 'भारत धर्म महामण्डल' ने श्री कृष्णबोधाश्रम को ज्योतिष्पीठ का शङ्कराचार्य घोषित किया । ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी वि. सं. 2010 तु. ई. सन् 25 जून 1953 को उनका ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य पद पर अभिषेक तत्कालीन द्वारका-शारदापीठ के शङ्कराचार्य अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ द्वारा किया गया । स्वामी परमानन्द सरस्वती आदि ने श्री रामजी त्रिपाठी विरुद्ध वाराणसी में वाद सं. 3/54 संस्थित किया जिसमें न्यायालय से यह घोषित करने के लिये कहा गया था कि श्री कृष्णबोधाश्रम ज्योतिष्पीठ के विधिवत स्थापित शङ्कराचार्य हैं वैकल्पिक अनुतोष के रूप में किसी अन्य योग्य व्यक्ति को शङ्कराचार्य नियुक्त करने की भी प्रार्थना की गई थी । श्री रामजी त्रिपाठी को शङ्कराचार्य पद से हटाने की भी प्रार्थना की गई थी । उक्त वाद 20.10.1962ई. को अपर जनपद न्यायमूर्ति वाराणसी द्वारा दोनों पक्षों का साक्ष्य अङ्कित करने के पश्चात् सभी बिन्दुओं पर निष्कर्ष देते हुए निर्णीत किया गया । इस निर्णय में स्वामी शान्तानन्द जी को मठाम्नाय-महानुशासनम् में वर्णित योग्यता से रहित एवं ज्योतिष्पीठ की माननीय परम्परा को वहन करने हेतु अनुपयुक्त पाया गया । साथ ही यह भी निर्देश दिया गया कि स्वामी कृष्णबोधाश्रम स्वतः पक्षकार बनकर श्री शान्तानन्द जी को हटवाने हेतु प्रार्थना कर सकते हैं चूँकि उक्त वाद सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 92 के अन्तर्गत संस्थित किया गया था इसलिए लोक प्रयोजनार्थ न होने के कारण उक्त धारा के अन्तर्गत पोषणीय न मानकर तकनीकी आधार पर कोई अनुतोष नहीं प्रदान किया गया । उच्च न्यायालय इलाहाबाद

तथा उच्चतम न्यायालय भारत ने भी उक्त वाद को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 92 के अन्तर्गत पोषणीय नहीं माना । 21.8.74ई. को उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्णय दिया गया । इस बीच 10 सितम्बर 1973 ई. को स्वामी कृष्णबोधाश्रम ब्रह्मलीन हो गये थे। उपर्युक्त वाद में श्री कृष्णबोधाश्रम स्वयं पक्षकार ही नहीं थे तब उन्हें हारा हुआ कैसे कहा जा सकता है ?

स्वामी कृष्णबोधाश्रम के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् तीनों शङ्कराचार्यों के अनुमोदन से विद्वत्परिषद्, संन्यासियों तथा 'भारत धर्म महामण्डल' ने अनन्त श्री विभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज का ज्योतिष्पीठ के शंकराचार्य पद के लिये चयन किया । अभिषेक समारोह दिनाङ्क 7.12.73 को हुआ जिसमें द्वारका शारदा पीठ के शङ्कराचार्य श्री अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ तथा गोवर्द्धनमठ पुरी के शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ ने व्यक्तिगत रूप से भाग लिया । शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य श्री अभिनव विद्यातीर्थ ने अपना प्रतिनिधि भेजा जिन्होंने नवाभिषिक्त जगद्गुरु शङ्कराचार्य को उनकी ओर से पट्ट ओढ़ाया । भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम श्री वराह वेंकट गिरि ने उक्त अभिषेक पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपने दिसम्बर 1973ई. के पत्र में जगद्गुरु शङ्कराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने पर अभिनन्दन किया ।

माननीय न्यायालयों के निर्देशों के अनुपालन में अ. श्री. वि. ज. शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी ने स्वयं पक्षकार बनकर सिवनी के जिला न्यायालय में स्वामी शान्तानन्द सरस्वती को शङ्कराचार्य पद से हटाने हेतु एक वाद संस्थित किया जो बाद में स्थानान्तरित होकर इलाहाबाद न्यायालय में आ गया । इसी बीच स्वामी शान्तानन्द सरस्वती ने पद-त्याग कर विष्णुदेवानन्द को शङ्कराचार्य घोषित किया जिसके विरोध में श्री ब्रह्मानन्द की वसीयत में दूसरे क्रम पर नामित स्वामी द्वारिकेशानन्द सरस्वती पूर्व नाम श्री द्वारका प्रसाद शास्त्री ने वाद संस्थित किया । उक्त वादों के लम्बन की अवधि में श्री विष्णुदेवानन्द भी ब्रह्मलीन हो गये और उनके स्थान पर तथाकथित वसीयत के आधार पर स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती जी ने स्वयं को शङ्कराचार्य घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में अ.श्री वि. ज. शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी ने इलाहाबाद न्यायालय में वाद सं.513/89 संस्थित कर श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती जी को वाद निस्तारण तक स्वयं को ज्योतिष्पीठ का शङ्कराचार्य उद्घोषित करने, छत्र, चँवर लगाने एवं पीठ से संबन्धित अन्य कार्यों के सञ्चालन करने से निषिद्ध करने का अनुतोष

चाहा । वाद में कहा गया था कि श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती कुष्ठ रोग ग्रसित होने, विदेश यात्रा करने तथा सन्यास लेने के पश्चात् वेतन भोगी अध्यापक बने रहने के कारण सन्यासोपनिषद्, नारदपरिव्राजकोपनिषद् के अनुसार सन्यासी होने के अयोग्य थे तथा मठाम्नाय महानुशासनम् में वर्णित योग्यता भी उनमें नहीं थी ।

विद्वान् द्वितीय अपर सिविल जज (अवरखण्ड) इलाहाबाद श्री मृदुलेश कुमार सिंह ने अपने 122 पृष्ठीय निर्णय दिनांकित 22 फरवरी 1999 द्वारा अस्थायी निषेधाज्ञा प्रार्थना पत्र स्वीकार करते हुए विपक्षी श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती को अस्थायी निषेधाज्ञा द्वारा वाद सं. 513 सन् 1989 ई. के लम्बन की समयावधि में वाद के अन्तिम निस्तारण तक स्वयं को जगद्गुरु शङ्कराचार्य, ज्योतिष्पीठ बद्रिकाश्रम, हिमालय, उद्घोषित करने एवं तदनुसार कार्य करने से रोक दिया । विद्वान् न्यायाधीश ने अपने निर्णय में कहा- "स्वीकृत रूप से श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती के कथित वसीयत द्वारा किये गये नामांकन को आदिगुरु शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित शेष तीनों मठों के शङ्कराचार्यों का अनुमोदन भी नहीं प्राप्त है । यह स्वीकृत तथ्य है कि ज्योतिष्पीठ का पुनरुद्धार शेष तीनों पीठों के शङ्कराचार्यों की इच्छा, आदेश एवं निर्देश पर ही भारत धर्म महामण्डल द्वारा किया गया जैसा कि निष्पादित किये गये न्यास विलेख में ही अंकित है । अतः नियुक्त किये गये जगतगुरु शङ्कराचार्य का अनुमोदन शेष तीनों पीठों के शङ्कराचार्यों द्वारा किया जाना आवश्यक है । विद्वान् न्यायाधीश ने कहा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा कथित रूप से निष्पादित वसीयत विलेख दिनांकित 18.12.52ई. प्रथम दृष्ट्या स्वेच्छा रहित, अविधिक रूप से निष्पादित हुआ प्रतीत होता है ।

अन्त में विद्वान् न्यायाधीश ने निष्कर्ष दिया कि अ.श्री.वि. स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती प्रथम दृष्ट्या विधिक रूप से अधिष्ठापित ज्योतिष्पीठाधीश्वर हैं एवं श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती का अधिष्ठापन प्रथम दृष्ट्या अवैध है एवं विधि की दृष्टि में शून्य है ।"

उपर्युक्त निर्णय के विरुद्ध श्री स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती ने प्रकीर्ण सिविल अपील सं. 41/1999 संस्थित किया जिसे 91 पृष्ठीय न्यायनिर्णय द्वारा दिनांक 27.4.2000ई. को विद्वान् न्यायाधीश श्री अरविन्द कुमार त्रिपाठी, सप्तम अपर जनपद न्यायाधीश इलाहाबाद द्वारा निरस्त कर दिया गया और 22 फरवरी1999 को द्वितीय अपर सिविल जज (अवरखण्ड) इलाहाबाद द्वारा वाद सं. 513 सन् 1989

में दिये गये न्यायनिर्णयन को वैध ठहराया गया ।

उक्त निर्णय के विरुद्ध स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में अपील किया परन्तु उन्हें वहाँ से भी कोई सकारात्मक आदेश नहीं प्राप्त हुआ । न्यायालय के निर्णय के बावजूद प्रयाग में महाकुम्भ के अवसर पर एवं उसके पूर्व स्वयं को ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य के रूप में उद्घोषित और प्रस्तुत करने के कारण श्री स्वामी वासुदेवानन्द के ऊपर न्यायालय की अवमानना करने का मामला चल रहा है जिसमें वे दण्डित भी हो सकते हैं ।

ऐसी स्थिति में अ.श्री.स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती के ज्योतिष्पीठ के शङ्कराचार्य होने पर प्रश्न चिह्न लगाकर महामण्डलेश्वर जी आप भी अपने को न्यायालय की अवमानना करने वाला बनाकर दण्डनीय बना रहे हैं । यदि आपने अज्ञानतावश ऐसा कहा है तब तो आप एक बार मुक्ति पा सकते हैं? अन्यथा शेष तीनों शङ्कराचार्यों ; भारत धर्म महामण्डल, विद्वत्परिषद् एवं माननीय न्यायालयों द्वारा मान्य ज्योतिष्पीठ के वैधानिक शङ्कराचार्य अ. श्री. विभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी के सम्बन्ध में प्रतिकूल टिप्पणी करने पर महामण्डलेश्वर जी आप स्वयं न्यायनिर्णयाधीन होकर न्यायालय द्वारा दण्डित हो सकते हैं । अब तो आपकी समझ में यह बात आ ही गयी होगी कि शङ्कराचार्यों द्वारा ही शङ्कराचार्य बनाये जाते हैं किसी अन्य के द्वारा नहीं ।

पूर्वपक्ष-२३

वर्तमान् में गोवर्धनपीठ पर भी श्री निश्चलानन्द सरस्वती एवं श्री अधोक्षजानन्दजी तीर्थ में मुकद्दमा चल रहा है ऐसा सुनने में आया है । पहले जमाने में राजा ही न्यायाधीश होते थे । उनको मार्गदर्शन कराने वाले आचार्य लोग आज न्यायाधीशाधीन अस्तित्व पर जी रहे हैं तो "सर्वं कालकृतं मन्ये" कहकर ही समाधान करना पड़ेगा ।

आक्षेपकारी स्वयं लिखते हैं कि महामठाम्नायानुसार जो पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद तदङ्गादि में पारंगत हो और सभी शास्त्रों में समन्वयबुद्धि रखने वाला हो वह मेरे पीठ का अधिकारी होगा । अङ्गादि में आदि पद से –

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

इस प्रकार याज्ञवल्क्यादि ने जो बताया उन में पूर्वानुक्त सब का ग्रहण है । परन्तु एक श्लोक लिखना सभी भूल गये ।

सर्वेषामपि चैतेषामभावे न्यायमन्दिरे ।
न्यायाधीशेन निर्णीतः शांकरं पीठमर्हति ॥

इतना अधिक लिखते तो काफी राहत मिल गयी होती ।

उत्तरपक्ष-२३

स्वयंभू तथाकथित शङ्कराचार्य स्थानापन्न महामण्डलेश्वर जी ! यह सम्भवतः आपने किसी प्रवंचक से सुन लिया होगा कि गोवर्धन पीठ पर अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी व एक अन्य के मध्य मुकदमा चल रहा है। सत्य तो यह है कि गोवर्धनमठ के शङ्कराचार्य पद से सम्बन्धित कोई भी मामला किसी भी न्यायालय में उद्घोषणा हेतु लम्बित नहीं है ।

वास्तविकता यह है कि श्री गोवर्धनमठ पुरी के 144वें शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ ने उक्त मठ के शङ्कराचार्य पद पर अनन्त श्री विभूषित स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी का 9 फरवरी 1992 ई. को अभिषेक कर स्वयं पद-त्याग कर दिया । माननीय विन्यास आयुक्त, उड़ीसा, भुवनेश्वर न्यायालय ने अपने आदेश दिनांकित 1 जुलाई 1995 के द्वारा 'उड़ीसा हिन्दू धार्मिक विन्यास अधिनियम 1951' की धारा 39 के साथ पठित धारा 36 के अन्तर्गत अनन्त श्री विभूषित स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी को गोवर्धन मठ के (144 वें) शङ्कराचार्य श्री निरञ्जन देव तीर्थ के उत्तराधिकारी के रूप में श्रीगोवर्द्धन मठ पुरी के (145वें) शङ्कराचार्य के रूप में मान्यता प्रदान कर दी । उस समय श्री निरञ्जनदेव तीर्थ जीवित थे और शङ्कराचार्य पद का त्याग करने के बाद काशी-निवास कर रहे थे । श्री निरञ्जनदेव तीर्थ 13.9.1996 ई. के दिन काशी में ब्रह्मलीन हुए ।

[226]जुलाई 2000 ई. में अधोक्षजानन्द तीर्थ नामक एक प्रवंचक, प्रतिरूपक पुरी

पहुँचकर अपने को वहाँ का शङ्कराचार्य कहने लगा । जनपद प्रशासन ने उसके ऊपर दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अन्तर्गत उसकी पुरी नगर में उपस्थिति तथा गतिविधि के सम्बन्ध में निषेधाज्ञा जारी कर दी । अधोक्षजानन्द तीर्थ ने निषेधाज्ञा सम्बन्धी आदेश के क्रियान्वयन में बाधा डाली, जिसके कारण उसके विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 188/186/172/204 व 506 के अन्तर्गत आपराधिक मुकदमा दर्ज कर उक्त धाराओं के अन्तर्गत गिरफ्तार कर उसे न्यायालय में उपस्थित किया गया जहाँ न्यायालय ने 5000रु. की जमानत और उतने के ही मुचलके पर इस शर्त पर छोड़ा कि वह पुरी नगर के बाहर चला जायेगा । जमानत पर छूटने के बाद अधोक्षजानन्द तीर्थ पुरी से बाहर खदेड़ दिया गया । उसके विरुद्ध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 419 व 420 के अन्तर्गत स्थानीय पुलिस थाने में कुछ लोगों द्वारा प्राथमिकी भी दर्ज करायी गई ।

पुरी नगर से निष्कासन के विरुद्ध अधोक्षजानन्द तीर्थ ने माननीय उड़ीसा उच्च न्यायालय, कटक में एक समादेश याचिका ओ.जे.सी. संख्या 6833 वर्ष 2000 संस्थित कर न्यायालय से पुरी नगर में चातुर्मास व्रत करने तथा भगवान् जगन्नाथ जी के दर्शन आदि हेतु अनुतोष माँगा । उक्त समादेश याचिका का अन्तिम रूप से निस्तारण माननीय उच्च न्यायालय उड़ीसा, कटक ने उपने निर्णय एवं आदेश दिनांकित 4.9.2000ई. द्वारा किया ।

अपने उक्त निर्णय में माननीय उच्च न्यायालय ने निष्कर्ष दिया कि 'स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती गोवर्द्धनमठ पुरी के मान्यता प्राप्त शङ्कराचार्य हैं इसलिये उनके पास सम्माननीय शङ्कराचार्य पद से युक्त सभी वैधानिक अधिकारों, विशेषाधिकारों (सुविधाओं) तथा प्रतिष्ठा का उपभोग करने का मान्यता प्राप्त अधिकार है।' तत्पश्चात् निम्नलिखित शर्तों के अध्यधीन अधोक्षजानन्द तीर्थ को पुरी नगर में प्रवेश की अनुमति दिया ।

"1. शङ्कराचार्य, पुरी के पवित्र पीठ की 1000मीटर परिधि में जाने से अधोक्षजानन्द तीर्थ को निषिद्ध किया जाता है ।

2. अपने पुरी प्रवास के दौरान अधोक्षजानन्द तीर्थ न तो कोई सार्वजनिक सभा करेगा और न ही कोई शोभा यात्रा निकालेगा ।

3. अपने पुरी प्रवास के दौरान अधोक्षजानन्द तीर्थ पुरी के शङ्कराचार्य के रूप में किसी अधिकार या विशेषाधिकार का दावा नहीं करेगा ।

4. अधोक्षजानन्द तीर्थ, वर्तमान मान्यता प्राप्त पुरी के शङ्कराचार्य पर अपमानजनक कथन से युक्त या लांछन लगाने वाला कोई वक्तव्य जारी नहीं करेगा ।

5. जब कभी भी अधोक्षजानन्द तीर्थ अपने पुरी निवास स्थल से निषिद्ध क्षेत्र से बाहर निकलना चाहेगा तो वह इसकी अग्रिम सूचना स्थानीय पुलिस को देगा" ।

उक्त समादेश याचिका के लम्बन की अवधि में उड़ीसा विधान सभा में वहाँ के विधि मन्त्री ने यह घोषणा की कि अनन्त श्री विभूषित स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी के उड़ीसा सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त शङ्कराचार्य हैं ।

आपको यह ज्ञात हो कि प्रवंचक, प्रतिरूपक अधोक्षजानन्द तीर्थ के विरुद्ध उपर्युक्त सभी कार्यवाहियाँ जनपद प्रशासन तथा उड़ीसा सरकार की ओर से की गई थी एवं प्रवंचक अधोक्षजानन्द तीर्थ ने भी जनपद प्रशासन, प्रशासनिक अधिकारियों तथा उड़ीसा सरकार के विरुद्ध समादेश याचिका संस्थित किया था । अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी उक्त मामलों में किसी के भी द्वारा पक्षकार नहीं बनाये गये थे । और यदि कोई शङ्कराचार्य अपने अधिकारों की रक्षा हेतु भारत के संविधान एवं उसके अन्तर्गत बनाये गये अधिनियमों तथा नियमों की मर्यादा के अन्तर्गत न्यायालय जाते हैं तो इसमें दोष क्या है? प्राचीन काल में भी विश्वामित्र ऋषि ने तत्कालीन नरेश दशरथ से याचना कर राम और लक्ष्मण को प्राप्त कर अपने यज्ञ की रक्षा करवायी थी ।

महोदय शास्त्रों का पुनरावलोकन करिये ।[227]महाभारत में लिखा गया है कि 'केशिनी' नामक कन्या को वरण करने हेतु ऋषि अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वा तथा राजा प्रह्लाद पुत्र विरोचन के मध्य हुए विवाद में निर्णय करवाने हेतु वे दोनों राजा प्रह्लाद के ही पास गये, ऋषि अङ्गिरा के पास नहीं । राजा प्रह्लाद ने न्याय करते हुए कहा - 'विरोचन! सुधन्वा के पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी माता से श्रेष्ठ है, अतः तुम आज सुधन्वा के द्वारा जीते गये' । [228]इसी प्रकार महाभारत में ही शङ्ख और लिखित से सम्बन्धित एक उल्लेख है । कहा गया है कि एक बार लिखित ने अपने भाई शङ्ख की अनुपस्थिति में बिना उनकी आज्ञा के उनके वृक्षों से फल तोड़कर खा लिया । इस पर शङ्ख ने कहा - 'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है । अतः तुम राजा के पास जाओ और उनसे कहो - नृपश्रेष्ठ मैंने बिना दिये हुए फल लिया है इसलिए मुझे चोर समझ कर चोर के लिये नियत दण्ड दीजिये ।'

लिखित ने राजा सुद्युम्न के पास जाकर ऐसा ही कहा, इस पर राजा ने कहा- 'ब्राह्मण शिरोमणे ! यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जाने की आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है । आप पवित्र कर्म करने वाले और महान् व्रतधारी हैं । मैंने अपराध को क्षमा कर आप को जाने की आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनायें आपके मन में हो तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा । महामना राजा सुद्युम्न के बारम्बार आग्रह करने पर भी ब्रह्मर्षि लिखित ने उस दण्ड के सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा । तब उन भूपाल ने महामना लिखित के दोनों हाथ कटवा दिये । दण्ड पाकर वे चले गये ।' [229]अनुशासन पर्व में कहा गया है - मनुपुत्र राजा सुद्युम्न महात्मा लिखित को धर्मतः दण्ड देकर परम उत्तम लोकों में गये।

[230]मनुस्मृति में राजा को ही न्याय कार्य करने के लिये अधिकृत किया गया है तथा यह भी कहा गया है कि राजा को यह अधिकार है कि यदि वह ऐसा आवश्यक समझे तो स्वयं मामलों का निरीक्षण न कर न्यायाधीशों की नियुक्ति कर उनके द्वारा निर्णय करवाये ।

ऐसी स्थिति में जब कि वैदिक मंत्रों के द्रष्टा एवं स्मृतिकार ऋषि अङ्गिरा के पुत्र को तथा स्मृतिकार लिखित ऋषि को राजाओं के पास जाकर न्याय माँगना पड़ा तब यदि शङ्कराचार्य न्यायालयों में पद, परम्परा, धर्म और मर्यादा की रक्षा हेतु जायँ तो दोष क्या है? ऋषि सर्वदा मर्यादा का पालन करते हैं। शास्त्रों के द्वारा धर्म के क्षेत्र में महात्मा, राजाओं का मार्गदर्शन करते हैं परन्तु वे राजसत्ता के शास्त्र प्रदत्त न्याय करने के अधिकार का भी अतिक्रमण नहीं करते ।

जहाँ तक प्रवंचकों एवं नक्कालों की बात है वहाँ बस यही कहा जा सकता है कि इन प्रवंचकों और नक्कालों का भी प्राचीन इतिहास है । [231]श्रीमद्भागवत महापुराण में करुष देश के पौण्ड्रक नामक एक राजा का वर्णन है । वहाँ लिखा गया है कि उसने "श्रीकृष्ण के पास एक दूत भेजकर यह कहलाया कि 'भगवान् वासुदेव मैं हूँ' । मूर्ख लोग उसे बहकाया करते थे कि 'आप ही भगवान् वासुदेव हैं और जगत् की रक्षा के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं' । इसका फल यह हुआ कि वह मूर्ख अपने को ही भगवान् मान बैठा।" पश्चात् युद्ध में भगवान कृष्ण ने उसका वध कर दिया ।

ऐसी स्थिति में यदि कुछ मूर्खों के बहकाने से प्रवंचक प्रतिरूपक अधोक्षजानन्द

अपने को शङ्कराचार्य कहते हुए पुरी पहुँच गया था तो इसमें आश्चर्य क्या है? जो पौण्ड्रक की गति हुई वही गति माननीय उड़ीसा उच्चन्यायालय और पुरी नगर प्रशासन तथा उड़ीसा राज्य ने प्रवंचक प्रतिरूपक अधोक्षजानन्द का किया । उसे कारारुद्ध किया, पुलिस अभिरक्षा में न्यायालय में प्रस्तुत किया, जमानत पत्र प्रस्तुत करने पर उसकी सशर्त मुक्ति कर उसे पुरी से बाहर निकाल दिया गया । माननीय उड़ीसा उच्च न्यायालय ने उसको शङ्कराचार्य के रूप में प्रतिरूपण करने से निषिद्ध कर दिया । इसके बावजूद भी यदि वह देश के किसी कोने में अपने को पुरी के शङ्कराचार्य के रूप में प्रतिरूपित कर प्रवंचना द्वारा भोली-भाली जनता से भेंट आदि प्राप्त करता है तो वह भारतीय दण्ड संहिता की धारा 420 के अन्तर्गत ठगी करने वाला कहलायेगा और दण्डनीय होगा । इतना ही नहीं धारा 34 के साथ पठित भारतीय दण्ड संहिता की धारा 420 के अन्तर्गत उसके सहयोगी भी दण्डनीय होंगे ।

महामण्डलेश्वर जी ! आपकी उपर्युक्त पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि आप व्यामोहवश स्वयं को तथाकथित स्वयंभू शङ्कराचार्य स्थानापन्न महामण्डलेश्वर मान बैठे हैं जो कि किसी को स्वीकार्य नहीं है । फलस्वरूप आप हीनताबोध ग्रन्थि से ग्रस्त होकर हिन्दुओं के परम-पूज्य, सर्वश्रेष्ठ धर्माचार्यो, शङ्कराचार्यों के विरुद्ध अनर्गल प्रलाप कर विष वमन कर रहे हैं अन्यथा आपके द्वारा लिखित उपर्युक्त पंक्तियों का भला काल निर्धारण से क्या सम्बन्ध है ? वे तो मोहोत्पन्न राग-द्वेष जनित द्वन्द्वों का परिणाम ही प्रतीत होती हैं ?

जहाँ तक न्याय निर्णय से सम्बन्धित आपके उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध है आपको मात्र यही सुझाव दिया जा सकता है कि स्मरण रखिये अपना श्लोक ! आत्मा तो अजर, अमर, अविनाशी है, सम्भवतः इस पार्थिव शरीर के त्याग के पश्चात् आपकी आत्मा का याज्ञवल्क्य की आत्मा से साक्षात्कार हो जाय तब उन्हें यह श्लोक सुना दीजिएगा । हो सकता है वे आपके श्लोक को अङ्गीकार कर अगले कल्प में इसे अपनी स्मृति में स्थान दे दें । भूल सुधार हेतु सुझाव प्रस्तुत करने के लिये शायद वे आपको पुरस्कृत भी कर दें ।

पूर्वपक्ष-२४

आक्षेप्ता का कहना है कि यदि द्वादशशताब्दीलेखक मूल भागवत पढ़े होते तो शुंगों का सौ वर्ष नहीं एक सौ बारह वर्ष लिखते । परन्तु यह बात विपरीत है । आक्षेप्ता ने ही भागवत पढ़ा नहीं, देखा भी नहीं ।

शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ।

इस मूल में वर्षशत ही लिखा है । एकाध वर्ष ज्यादा होने पर भी वर्षशताधिक कहा जा सकता है । यद्यपि श्रीधरी में द्वादशवर्षाधिक वर्षशतं ऐसी व्याख्या की है । किन्तु उसको चिन्त्य बताते हुए सिद्धान्त प्रदीपकार का मत दिखाया है - कतिपय-वर्षाधिकम् । द्वादश निश्चित होता तो -

'शुङ्गा भुवं वर्षशतं भोक्ष्यन्ति द्वादशाधिकम्'

ऐसा सीधा लिखा जा सकता था । इस विवाद से दूर रहने के लिये सौ से कुछ अधिक ऐसी व्याख्या पूर्व भाग में लिखकर भी योग करते समय सौ ही लिखा । क्योंकि आगे प्रतिवंश नियत कालनिर्देश न होने से दस बारह तो क्या सौ दो सौ वर्षों के भी फरक की उत्पत्ति हो सकती है ।

उत्तरपक्ष-२४

महामण्डलेश्वर जी ! यह तो 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे' वाली उक्ति आप चरितार्थ कर रहे हैं । जब श्रीधरजी ने अपनी व्याख्या में 'द्वादशवर्षाधिकं वर्षशतं' अर्थात् '112 वर्ष' ऐसा लिखा है तब आपने क्यों 100 वर्ष लिखा? झूठ बोलने की पराकाष्ठा मत करिये । आपके द्वारा ऊपर प्रस्तुत मूल पाठ में भी 'वर्षशताधिकम् ' लिखा गया है जिसका तात्पर्य है 'एक सौ वर्ष से अधिक', फिर भी आप मिथ्याभाषण करते हैं कि 'इस मूल में वर्षशत ही लिखा है ।' द्वादश वर्ष निश्चित है यह यदि आप 'श्रीधरीटीका और श्री विष्णु-पुराण पढ़ते तब तो आपको ज्ञात होता । वहाँ लिखा है -[232]इत्येते शुङ्गा द्वादशोत्तरं वर्षशतं पृथिवीं भोक्ष्यन्ति' अर्थात् ये शुङ्ग एक सौ बारह वर्ष पृथिवी का भोग करेंगे । [233]आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है - मत्स्य पुराण (मोर संस्करण) 272/31 में तथा वायुपुराण (मोर संस्करण) में सम्बन्धित श्लोक का संशोधित पाठ, जिसके

कई भ्रष्ट पाठ पुराणों में मिलते हैं; निम्न दिया गया है ।

दशैते क्षुद्र राजानो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम् ।
शतं पूर्णं दश द्वे च ततः शुङ्गान् गमिष्यति ॥

इससे यह निश्चित हुआ कि मत्स्य तथा वायुपुराण के भी शुद्ध पाठों में शुङ्गों का राजत्व काल 112 वर्ष ही लिखा है । आधुनिक इतिहासविद् डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार, डॉ. विद्याधर महाजन, डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय आदि भी शुङ्गों का राजत्व काल 112 वर्ष ही मानते हैं यही काल श्रीमद्भागवत महापुराण एवं विष्णु पुराण के टीकाकार श्रीधर स्वामी को भी अभीष्ट है जैसा कि महामण्डलेश्वर जी ने स्वयं स्वीकार किया है ।

ऐसी स्थिति में यदि आपने चौदह पृष्ठीय लेख लिखते समय श्रीमद्भागवत महापुराण के सम्बन्धित श्लोक पर की गई श्रीधर स्वामी की टीका को तथा श्री विष्णु-पुराण के सम्बन्धित श्लोक को, मत्स्यपुराण (मोर संस्करण) व वायुपुराण (मोर संस्करण) के सम्बन्धित श्लोकों एवं आधुनिक इतिहासविदों के ग्रन्थों को पढ़ा होता तो शुङ्गों के राजत्व काल को 100वर्ष कैसे लिखते? श्रीमद्भागवत महापुराण पर श्रीधर स्वामी की टीका तथा श्री विष्णु पुराण में शुङ्ग वंश का नियत काल निर्देश 112 वर्ष होने से अन्तर की उपपत्ति कैसे हो सकती है? मिथ्योक्ति द्वारा मुँह पीटकर लाल करने से अब क्या लाभ ? विद्वानों के समक्ष अब तो यह तथ्य उजागर हो ही चुका है कि अपने 14पृष्ठीय लेख लिखते समय आपने श्रीमद्भागवत महापुराण के सम्बन्धित श्लोक की श्रीधरी टीका तथा विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण (मोर संस्करण) वायु पुराण (मोर संस्करण) एवं आधुनिक इतिहासविदों के ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन नहीं किया था । अब किसने भागवत पढ़ा नहीं, देखा नहीं इसका निर्णय विद्वत्जन स्वयं ही कर लेवेंगे । इसमें हम क्या कहें ?

पूर्वपक्ष-२५

अब काण्वायनों के ४५ वर्ष की बात रही । भागवत का यह श्लोक थोड़ा देखिये-

काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे ।।

'चत्वारिंशच्च पञ्च च वर्षाणां त्रीणि शतानि च' ऐसे तीन चकार हैं ।

४०+५+३००=३४५ । अब भागवत मूल किस ने पढ़ा किसने नहीं पढ़ा यह विज्ञजन स्वयं देख लें । और संकोच के साथ आक्षेप्ता को किसके प्रति 'पढ़ा नहीं' कहना पड़ेगा यह भी विज्ञजन ही समझ लें ।

"शुङ्गं हत्वा देवभूतिं काण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् ।

स्वयं करिष्यति राज्यं वसुदेवो महामतिः ।

तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः काण्वायना इमे"

ऐसा पाठ है । काण्व को बड़ा दिमागदार समझकर शुंग ने उसे अमात्य बनाया । आजकल भी डेढ़ सौ वर्ष तक जीने वालों के नाम अखबारों में कभी-कभी आते हैं । काण्व १५० वर्ष जिया तो १३० वर्ष राज्य किया । उस के पुत्र और पौत्र मर गये । प्रपौत्र बीस वर्ष का ही राजा हुआ । वह सवा सौ वर्ष भी जीये तो शासन काल १०५ वर्ष होगा । फिर उसके पुत्र-पौत्र मर गये प्रपौत्र एक सौ दस वर्ष राज्य करे तो १३०+१०५+११०=३४५ वर्ष हो जाते हैं । श्रीधरी में -

"काण्वानां चतुर्थः सुशर्मा ज्ञेयः" लिखा है । उसे जोड़ने पर अस्सी, पचासी, नब्बे, नब्बे वर्ष राज्य करें तो भी ३४५ वर्ष होते हैं । आप की शारदा मठावली में योगरूढ़ाचार्य १०१ वर्ष पीठ पर बैठे हैं तो क्या हम उसे असंभव कहें? **"अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि सर्ववेदब्रह्मचर्य"** अन्य अंगादि अध्ययन भी जोड़ें तो वे दो सौ वर्ष के करीब हो जायेंगे । क्योंकि अष्टवर्षोपनयनन्तर ४८ वर्ष वेदाध्यनायनार्थ चाहिये तब तक छप्पन वर्ष हो जाते हैं । द्वादशवर्षेण व्याकरणं श्रूयते । शिक्षाकल्पादि का पृथक् । सब जोड़ने पर फिर १०१ वर्ष पीठासीनताकाल के साथ कितने वर्ष हो जायेंगे यह अंदाजा लगाया जा सकता है ।

श्रीमद्भागवत एवं विष्णुपुराणादि पर प्रामाणिक महती टीका लिखने वाले गौड़ीय तथा अद्वैत दोनों ही संप्रदायवाले समान रूप से जिनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं ऐसे श्री श्रीधर स्वामी को अप्रामाणिक अशुद्धपाठ व्याख्याता बोलने का दुःसाहस कोई महाधृष्ट ही करेगा । जो कार्य आक्षेपकर्ता के लेख में ध्वनित होता है ।

उत्तरपक्ष-२५

वितण्डावलम्बी अनन्त श्री महामण्डलेश्वर जी मैंने कहाँ लिखा है कि 'श्रीधर स्वामी अशुद्ध पाठ व्याख्याता हैं' । मेरी पूर्व लिखित पुस्तक का सम्बन्धित अंश निम्न प्रकार है- "इतना ही नहीं उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण के अशुद्ध पाठ के आधार पर 4 कण्ववंशी राजाओं का राजत्व काल 345 वर्ष लिख दिया जो कि प्रथम दृष्ट्या ही असंभव प्रतीत होता है । पूर्व पक्षी ने यदि मूल विष्णु पुराण का अध्ययन किया होता तो वे ऐसी भूल कदापि न करते और उन 4 राजाओं का राजत्वकाल मात्र 45 वर्ष लिखते न कि 345 वर्ष ।"

अब आइये थोड़ा श्री विष्णु पुराण के सम्बन्धित मूल पाठ का अवलोकन करे- [234]'एते काण्वायनाश्चत्वारः पञ्चचत्वारिंशद्वर्षाणि भूपतयोभविष्यन्ति' अर्थात् - ये चार कण्व भूपतिगण पैंतालीस वर्ष पृथिवी के अधिपति रहेंगे ।

यही नहीं मत्स्यपुराण (मोर संस्करण) के सम्बन्धित श्लोक 271/34-35 में भी कण्व राजाओं का राजत्वकाल 45 वर्ष ही लिखा है । यथा -

[235]इत्येते शुङ्गभृत्यास्तु स्मृताः काण्वायना नृपाः ।
चत्वारिंशत्पञ्च चैव भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम् ॥

आधुनिक युग के इतिहासकार डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी, डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार, डॉ. विद्याधर महाजन आदि भी कण्व राजाओं का राजत्व काल 45 वर्ष ही मानते हैं ।

आदिशङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में श्री विष्णुपुराण के श्लोकों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है जबकि श्रीमद्भागवत महापुराण के श्लोकों का उद्धरण उन्होंने नहीं दिया है ऐसी अब तक विद्वानों की मान्यता है । ऐसी स्थिति में यदि श्री विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत महापुराण के वचनों में विरोधाभास की स्थिति में कम से कम शाङ्कर मतावलम्बियों के लिये तो श्री विष्णु पुराण का वचन ही प्रमाण होगा ।

पूर्व पुस्तक में मेरा स्पष्ट कथन था कि महामण्डलेश्वर जी ने यदि मूल विष्णुपुराण का अध्ययन किया होता तो वे चार कण्व राजाओं का राजत्वकाल मात्र 45 वर्ष लिखते न कि 345 वर्ष । परन्तु महामण्डलेश्वर अपनी विष्णुपुराणानध्ययन की वास्तविक कमजोरी को छिपाने के लिये विषयान्तर कर कहता है कि श्रीमद्भागवत एवं विष्णुपुराणादि पर महती टीका लिखने वाले श्रीधर स्वामी को अशुद्धपाठ व्याख्याता बोलने का दुःसाहस

कोई महाधृष्ट ही करेगा । अब विज्ञजन ही निर्णय करें जब मैंने अपनी पूर्व पुस्तक में श्रीधर स्वामी का कहीं नाम ही नहीं लिया था तब मेरे लेख से यह कैसे प्रतिध्वनित हो गया कि वे अशुद्धपाठ व्याख्याता हैं ? परन्तु अपना मानसिक सन्तुलन खो चुके महामण्डलेश्वर जी ने यह कह कर कि श्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत और श्रीविष्णुपुराण दोनों पर ही महती टीकायें लिखी हैं उन्हें अशुद्धपाठ-व्याख्याता अवश्य प्रमाणित करने का ~~महामण्डलेश्वर जी ने~~ सफल प्रयास किया है क्योंकि - श्रीमद्भागवत का मूल पाठ है;

काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च ।
शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौयुगे ॥

तथा श्री विष्णु-पुराण का मूलपाठ है,

'एते काण्वायनाश्चत्वारः पञ्चचत्वारिंशद्वर्षाणि भूपतयो भविष्यन्ति' ऐसी स्थिति में यह तो निश्चित है कि दो में से एक पुराण का पाठ भ्रष्ट है । अतएव इन दोनों पुराणों पर टीका लिखने वाले ने निश्चित रूप से दो में से एक टीका में भ्रष्ट पाठ को व्याख्यायित किया ही है । परन्तु महामण्डलेश्वर जी ने यह नहीं बताया कि श्रीधर स्वामी ने अपनी टीकाओं में इन दोनों पाठों की सम व्याख्या की है या भिन्न? उन्होंने किसी एक पाठ को भ्रष्ट बताया है या नहीं ?

विज्ञजन यह समझ लें ऐसा महामण्डलेश्वर जी ने जानबूझकर नहीं किया क्योंकि इससे उनकी पोल खुल जाती । अतएव यह स्पष्ट हो गया कि महामण्डलेश्वर जी ने श्रीविष्णुपुराण, श्री मत्स्य-पुराण एवं आधुनिक इतिहासकारों के ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन नहीं किया है अन्यथा वे अब भी चार कण्वों के शासनकाल को 345 वर्ष कहने का दुःसाहस कर अपनी महाधृष्टता का प्रदर्शन न करते जैसा कि उनकी पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत पंक्तियों से प्रतिध्वनित होता है।

पूर्वपक्ष-२६

कनिष्क का काल ४०० ई. से लेकर ई.पू. डेढ़ सौ तक संभव हमने लिखा उसके बाद ही दिङ्नाग धर्मकीर्ति एवं तत्पश्चात् आचार्यकाल आता है यह हमने बताया । उसमें उलट-फेर करके अन्त में आक्षेपकर्ता लिखता है कि प्रथम गणनानुसार अर्थात् ई.४२५ में कनिष्क राजा हुआ तो बुद्धजन्म ई.पू. १३०५ वर्ष और दूसरी गणना में ई.पू.१५२६ वर्ष सिद्ध होता है । श्रीमान् जी! ई. ४२५ और ई.पू.५६१

जोड़ने पर ९८६ कनिष्क काल से पूर्व बुद्ध जन्म सिद्ध होता है । द्वितीय गणना में ई.पू. प्रथम शताब्दी सौ वर्ष रखो तो निर्वाण तिथि ४८१ से सौ घटाने पर ३२१ होता है अर्थात् कनिष्क से ३८१ वर्ष पूर्व बुद्ध ने शरीर त्यागा । एतदनुसार धर्मकीर्ति दिङ्नाग आदि का समय किधर खसकाना पड़ेगा यह आप स्कूल में तीसरी-चौथी क्लास में जोयंट कर लीजिये समझ में आ जायेगा । यहाँ कागज में काली रेखा जोड़ने से शायद बराबर समझ में नहीं आयेगा । श्रीमान् जी कल्हण के राजवंश वर्णन राजतरङ्गिणी के साथ खिचड़ी बनाकर यह सब लिख रहे हैं ।

कल्हण ब्रह्मा की सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त देखने वाला कोई प्रत्यक्षदर्शी द्वितीय ब्रह्मा नहीं था । जैसे उसने सुना या कहीं बांचा तदनुसार लिखा । उस में शास्त्र अविरुद्ध अंश अवश्य ग्राह्य है, यदि आवश्यक हो । इस का अर्थ यह नहीं है कि कल्हण ने जो कुछ लिखा सब अक्षरशः सत्य है । शायद इसी के आधार पर आक्षेपकर्ता ने स्वीय गणनानुसार गौतम बुद्ध का निर्वाण ई.पू. १७०५ प्राप्त होता है लिखकर सब दुनिया को मूर्ख बनाने की करतूत मात्र की । अतएव धर्मकीर्ति का काल बुद्धपूर्व १२२४ वर्ष इत्यादि पूरा प्रकरण मिथ्या प्रलापमात्र है ।

उत्तरपक्ष-२६

विद्वान् पाठकों की सुविधा के लिये सर्वप्रथम हम यहाँ पर पूर्वपक्षी के 14 पृष्ठीय लेख के सम्बन्धित अंश को यथावत् प्रस्तुत कर रहे हैं जो कि अशुद्धियों से भरपूर है इसे विज्ञजन मुद्रण की अथवा अन्य अशुद्धि न समझें यह उनके उक्त अंश का वास्तविक प्रस्तुतीकरण है - सम्बन्धित अंश है -

"इस प्रकार जरासन्ध के पुत्र सहदेव (राजा परीक्षित समकालीन)से उपक्रमकर भावी राजाओं का सहस्त्रवर्षपर्यन्त राज्य बताया । अन्तिम श्लोक है -

सुनिथः सत्यजिदथ विश्वजिद् यद् रिपुञ्जयः ।
बार्हद्रधाश्च भूपाला भाव्याः साहस्त्रवत्सरम् ॥

इसके अनुसंधान में फिर द्वादशस्कन्ध में पुरञ्जय को, जिसको श्रीधरी टीका में पूर्वोक्त रिपुञ्जय बताया, उठाकर उसके अमात्य शुनक द्वारा उनकी हत्या करने और

अपने पुत्र प्रद्योत को राजा बनाने की बात बतायी । तदन्तर प्रद्योतवंश के पाँच राजा 138 वर्ष राज्य करते हैं । फिर शिशु नागवंश के दन्त राजा 360 वर्ष नन्दवंश के नौ राजा 100 वर्ष मौर्यवंश के दन्तराजा 137 वर्ष, शुंगवंशी दस राजा 100 वर्ष से कुछ अधिक, कण्ववंशी 345 वर्ष, आंध्रजातीय तीस राजा 456 वर्ष राज्य करते हैं । श्री कृष्ण के उत्तर 30 वर्ष बाद यह कथा चलती है तो उसे भी मिलाने पर (30 + 1000 + 138 + 360 + 100 + 134 + 100 + 345 + 456 -) 2666 कलि वर्ष होते हैं । इसके बाद 7 अभीर, 10 गर्दभी, 16 कङ्क, 8 यवन और 14 तुरुष्क 55 राजा 1099 वर्ष राज्य करते हैं । एक एक का समय सम भाग करने से प्रायः बीस बीस वर्ष निकलता है । कल्हण के अनुसार हुष्क-जुष्क के बाद कनिष्क आता है । अर्थात् 44वाँ राजा कनिष्क है । फलतः 860 वर्ष बाद । इस हिसाब से 2666, 860, 3526 कलिसंवत् में कनिष्क आया अर्थात् 425 ई. में। परन्तु सबने बीस-बीस वर्ष राज किया हो ऐसा नहीं हो सकता । अतः सौ दो सौ वर्ष का फरक भी आ सकता है। सर्वथापि कनिष्क का काल दूसरी या तीसरी शती आता है । जो बहुत से आधुनिक गवेषकों को इष्ट है । फिर जो कुछ कम बेसी करना है वह इसी 1099 में ही करना पड़ेगा । माना जाय कि सात अभीर परस्पर भाई थे एवं दस गदर्भ, सोलह कङ्क तथा आठ यवन भी थे । फिर चतुर्दश तुरुष्क को पृथक् मानना होगा । तब एक-एक के पीछे (18.1099'61) इकसठ-इकसठ वर्ष पड़ते हैं । जो बहुत ज्यादा है । फिर भी छह राजाओं के बाद कनिष्क माना जाता है तो भी न्यूनतम 366, वर्ष बाद ही मानना होगा। तब 2666· 366 = 3032 कलिसंवत् में कनिष्क का राज्य मान्य होगा । अर्थात् आज से (5089-3032=2057) वर्ष पूर्व । अर्थात् ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी या अधिक से अधिक ई. पू. 5 द्वितीय शताब्दी का अन्त । ऐसी स्थिति में कल्हण का यह कहना है कि कनिष्क से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण हुआ यह हिसाब या किंवदन्ती की गड़बड़ी ही लगती है । कम से कम तीन सौ साढ़े तीन सौ वर्ष कहना चाहिए था। सर्वथापि कनिष्क कालीन अश्वघोष के बाद ही दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि का काल आता है जो ईस्वी पूर्व हो ही नहीं सकता ।"

अब पूर्वपक्षी के उपर्युक्त पौराणिक प्रमाण के अनुसार मैं गणितीय आकलन प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

प्रथम गणना

अपनी आलोच्य पुस्तक में पृष्ठ 20 पर महामण्डलेश्वर जी ने लिखा है - 'बुद्ध के बाद ही **बौद्ध** धर्म पनपा, अशोक जैसे चक्रवर्ती राजा हुए जिन्होंने कुछ बचे वर्णाश्रम धर्म को भी ध्वस्त प्राय किया । राजा ने स्वयं **बौद्ध** धर्म ग्रहण किया तो **यथा राजा तथा प्रजा** होना ही था' । इससे यह निश्चित हुआ कि महामण्डलेश्वर जी मौर्य सम्राट् अशोक को बौद्ध मतावलम्बी स्वीकार करते हैं । ऐसी स्थिति में गौतम बुद्ध को कम से कम सम्राट् अशोक का समकालीन तो उनके अनुसार मानना ही पड़ेगा ।

अब पुराणों के आधार पर की गई महामण्डलेश्वर जी की गणना के अनुसार हम मौर्य वंश का राज्यारम्भ काल प्राप्त करेंगे -

1. भागवत् कथा का आरम्भ श्री कृष्ण के तीस वर्ष पश्चात् अर्थात् कलियुग के 30 वर्ष व्यतीत होने पर ।
2. बृहद्रथ वंश के राजाओं का राजत्वकाल 1000 वर्ष
3. प्रद्योत वंश के राजाओं का राजत्वकाल 138 वर्ष
4. शिशुनाग वंश के राजाओं का राजत्वकाल 360 वर्ष
5. नन्द वंश के राजाओं का राजत्वकाल 100 वर्ष

कुल गतकलि संवत् के 1628 वर्ष

इस प्रकार गतकलि संवत् 1628 तु. ई. पूर्व 1473 में नन्दवंश का राज्यारम्भ हुआ । तत्पश्चात् महामण्डलेश्वर जी ने लिखा है कि 137 वर्ष मौर्यवंश के 10 राजाओं ने राज्य किया । इस आधार पर मौर्यवंश का राज्यारम्भ गतकलि संवत् 1628 तुल्य ई. पूर्व 1473 व राज्यान्त उसके 137 वर्ष पश्चात् अर्थात् गत कलि संवत् 1765 तु. ईसवी पूर्व 1336 में हुआ । मौर्यवंश के दश राजाओं के कुल राजत्व काल 137 वर्ष का औसत 13 वर्ष 8 माह 10 दिन प्राप्त होता है । श्री विष्णु पुराण के अनुसार अशोक मौर्यवंश का तीसरा राजा था अतएव मौर्यवंश के प्रथम दो राजाओं के राजत्व काल (13 वर्ष 8 माह 10 दिन गुणे 2 =) 27 वर्ष 4 माह 20 दिन का मौर्यराज्यारम्भ काल गत कलि संवत् 1628 तु. ई. पू. 1473 में योग करने पर गतकलिसंवत् 1655 तुल्य ई.पू. 1446 वर्ष सम्राट् अशोक का राज्यारम्भ वर्ष प्राप्त होता है । इस प्रकार महामण्डलेश्वर जी की गणना के अनुसार बौद्धधर्मानुयायी सम्राट् अशोक मौर्य ईसवी सन् पूर्व की 15वीं सदी के सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म प्रवर्तक गौतम बुद्ध भी

कम से कम ई.पू. 15वीं सदी के स्वतः सिद्ध हो जाते हैं ।

द्वितीय गणना

महामण्डलेश्वर जी की एक गणना के अनुसार कनिष्क गत कलि संवत् 3526 तुल्य ई. सन् 425 में हुए थे । उनके पूर्व 860 वर्ष आभीर आदि 44 राजाओं ने, 456 वर्ष आंध्रजातीय राजाओं ने, 345 वर्ष कण्वजातीय राजाओं ने, 100 वर्ष शुङ्गवंशी राजाओं ने, 137 वर्ष मौर्यवंशी राजाओं ने राज्य किया अर्थात् कनिष्क से 860 + 456 + 345 + 100 + 137 = 1898 वर्ष पूर्व मौर्य वंश का राज्यारम्भ गतकलि संवत् (3526-1898=)1628 तुल्य ईसवी सन् पूर्व 1473 में हुआ था। इसी वंश के तीसरे राजा चक्रवर्ती सम्राट् अशोक थे जिन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया था। अतएव गौतम बुद्ध का काल पूर्व पक्षी की इस गणना के अनुसार भी कम से कम ईसवी सन् पूर्व की 15वीं सदी निश्चित हुआ ।

तृतीय गणना

महामण्डलेश्वर जी ने इस गणना में सात आभीरों को एक पीढ़ी का, दस गर्दभियों को एक पीढ़ी का, सोलह कङ्कों को एक पीढ़ी का, आठ यवनों को एक पीढ़ी का तथा चौदह तुरुष्कों को 14 पीढ़ी का राजा मानकर इन 55 राजाओं को 18 पीढ़ी में समेट कर इनके कुल राजत्व काल 1099 वर्ष का पीढ़ी औसत 61 वर्ष प्राप्त किया । इन 18 पीढ़ी के राजाओं में 7वें क्रम पर कनिष्क को मानकर उसका काल गत कलि संवत 3032 तुल्य ई. सन् पूर्व 69 निर्धारित किया । अब हम महामण्डलेश्वर जी की इस गणना के आधार पर मौर्यवंश का राज्यारम्भ काल प्राप्त करेंगे -

कनिष्क के राज्यारम्भ काल गतकलि संवत् 3032 तुल्य ई. पू. 69 से पूर्व आभीर आदि 6 पीढ़ी के राजाओं ने (61×6=) 366 वर्ष, आंध्रजातीय राजाओं ने 456 वर्ष, कण्ववंशी राजाओं ने 345 वर्ष, शुङ्गवंशी राजाओं ने 100 वर्ष, मौर्यवंशी राजाओं ने 137 वर्ष अर्थात् कुल 366 वर्ष + 456 वर्ष + 345 वर्ष + 100 वर्ष + 137 वर्ष =1404 वर्ष । इस आधार पर मौर्यवंश का राज्यारम्भ कनिष्क काल गत कलि 3032 से 1404 वर्ष पूर्व अर्थात् (3032 कलि संवत् - 1404 वर्ष =) गत कलि संवत् 1628 तुल्य ई.पू. 1473 प्राप्त होता है । जिससे सिद्ध होता है कि सम्राट्

अशोक और गौतम बुद्ध कम से कम ईसवी सन् पूर्व की 15वीं सदी में हुए थे ।

अब विज्ञजन मेरी पूर्व पुस्तक में सार संक्षेप में लिखित मेरे द्वारा की गई काल गणना देखें -

प्रथम गणना

महामण्डलेश्वर जी की प्रथम गणना के अनुसार कनिष्क का अभिषेक 425 ई. में हुआ था। उसके पूर्व 860 वर्ष आभीर आदि राजाओं ने, 456 वर्ष आंध्रजातीय राजाओं ने, 345 वर्ष कण्व राजाओं ने, 100 वर्ष शुङ्ग राजाओं ने, 137 वर्ष मौर्य राजाओं ने, 100 वर्ष नन्द राजाओं ने तथा 360 वर्ष शिशुनाग वंशी राजाओं ने राज्य किया । इस प्रकार ई. सन् 425 से (860 + 456 + 345 + 100 + 137 + 100 + 360 =) 2358 वर्ष पूर्व अर्थात् (2358-425 ई. =) ई. पू. 1933 में शिशुनाग वंश का राज्यारम्भ हुआ । इस वंश का छठवाँ राजा अजातशत्रु था । इस वंश के 10 राजाओं के राजत्व काल 360 वर्ष के आधार पर इस वंश के राजाओं का औसत 36 वर्ष प्राप्त होता है । अजातशत्रु 5 राजाओं के पश्चात् हुआ इसलिये शिशुनाग वंश के राज्यारम्भ ई. पू. 1933 में से (36×5 =) 180 वर्ष घटाने पर ई. पू. 1753 अजातशत्रु का राज्यारोहण वर्ष प्राप्त होता है । [236]बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश' के अनुसार अजात शत्रु के शासन के 8 वें वर्ष में गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था । अतएव ई. पूर्व 1753 में से 8 वर्ष का वियोग करने पर ई. पू. 1745 गौतम बुद्ध का निर्वाण वर्ष प्राप्त होता है जो कि मुद्रण की अशुद्धिवश पूर्व पुस्तक में ई.पू. 1705 मुद्रित हो गया है ।

द्वितीय गणना

महामण्डलेश्वर जी की द्वितीय गणना के अनुसार कनिष्क का अभिषेक ई.पू. 70 में हुआ था । उनकी इस गणना के अनुसार कनिष्क के पूर्ववर्ती आभीर आदि राजाओं ने 366 वर्ष, आंध्र जातीय राजाओं ने 456 वर्ष, कण्व वंशी राजाओं ने 345 वर्ष, शुङ्गवंशी राजाओं ने 100 वर्ष, मौर्य वंशी राजाओं ने 137 वर्ष, नन्दवंशी राजाओं ने 100 वर्ष तथा शिशुनाग वंशी राजाओं ने 360 वर्ष राज्य किया ।

इस आधार पर ई.पू. 70 से (366+456+345+100+137+100+360=) 1864 वर्ष पूर्व अर्थात् ई.पू. 1934 में हुआ था । ऊपर बताया जा चुका है कि शिशुनाग वंश के राज्यारम्भ के 180 वर्ष पश्चात् अजातशत्रु का राज्याभिषेक हुआ था

तथा उसके शासन के 8वें वर्ष में गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था । इस प्रकार शिशुनाग वंश के राज्यारम्भ काल ई.पू. 1934 में से 188 वर्ष का वियोग करने पर ई.पू. 1746 गौतम बुद्ध का निर्वाण वर्ष प्राप्त होता है जो कि मुद्रण की अशुद्धिवश मेरी पूर्व पुस्तक में ई.पू. 1926 मुद्रित हो गया है ।

चीनी यात्री ह्वेनसांग जिसके विवरण को महामण्डलेश्वर जी पत्थर की लकीर मानते हैं वह लिखता है कि [237]गौतम बुद्ध के निर्वाण के 400 वर्ष पश्चात् कनिष्क राजा हुआ । इस आधार पर कनिष्क का राज्यारोहण वर्ष महामण्डलेश्वर जी की प्रथम गणना के अनुसार ई.पू. 1745-400 = 1345 ई. पू. व द्वितीय गणना के अनुसार 1746-400 = 1346 ई.पू. सिद्ध होता है । पूर्व लेख में महामण्डलेश्वर जी गौतम बुद्ध का निर्वाण काल ई.पू. 481 मान आये हैं जबकि उनकी उपर्युक्त दोनों गणनाओं के आधार पर गौतम बुद्ध का निर्वाण काल इस तिथि से क्रमशः 1264 व 1265 वर्ष पूर्व सिद्ध होता है ।

ऐसी स्थिति में धर्मकीर्त्ति, दिङ्नाग आदि का समय किधर खसकाना पड़ेगा महामण्डलेश्वर जी मुझको सलाह देने की अपेक्षा आप स्वयं अपनी सलाह पर अमल करें तो बेहतर होगा, किसी स्कूल में तीसरी, चौथी कक्षा में ज्वाइन (आपकी भाषा में जोयंट) कर लीजियेगा समझ में आ जायेगा । अब आपकी गणितज्ञानानभिज्ञता तो प्रकट हो ही चुकी है, झिझक किस बात की । जिस तरह से आपने इंग्लिश शब्दों 'जोयंट' 'बेनर' आदि का प्रयोग अपनी आलोच्य पुस्तक में किया है तथा उच्चारण लिखा है उससे प्रतीत होता है कि आप आङ्ल भाषा के ज्ञान से रहित हैं । क्या ही अच्छा हो यदि आप किसी आङ्ग्ल माध्यम से शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालय में प्रथम कक्षा में प्रविष्ट (आपकी भाषा में जोयंट) हो जायँ ।

पूर्वपक्ष-२७

कश्मीर का राजा कोई कनिष्क जिस का राजतंरगिणी में उल्लेख है वह कश्मीर का होगा । भागवत में मगध राज्य वर्णन चल रहा था । यहाँ का कनिष्क मगध का राजा है । दोनों को एक बनाने का आक्षेप्ता का व्यर्थ प्रयास है । क्या वह कश्मीर से छलांग मारकर रोज मगध आता जाता था? कश्मीर का राजा बोलने से ही पंजाब आदि

मगध तक का वह राजा नहीं था यह सिद्ध होता है और मगधादि सभी बुद्ध के प्रभाव क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध होने से अश्वघोष का भी वही निवास स्थान सिद्ध होता है । आन्ध्र जातियों के बाद आभीरों से लेकर तुरुष्कवंशपर्यन्त ५५ राजा राज्य करते हैं । तुरुष्कों में ही चौथा राजा कनिष्क आता है । ५२ राजाओं में प्रत्येक का नाम और शासन कालमान भागवत में नहीं लिखा है । कुल मिलाकर १०९९ वर्ष दिये हैं । आभीर ७, गर्दभी १०, कङ्क १६, यवन ८ और १४ तुरुष्क हैं । औसत बीस-बीस वर्ष पड़ते हैं । तदनुसार ई. पंचम या कुछ आगे-पीछे होने पर चतुर्थशती कनिष्क का काल आता है जो बहुत से इतिहासविदों को मान्य है ।

उत्तरपक्ष-२७

ऐसा प्रतीत होता है कि महामण्डलेश्वर जी बुद्धि दौर्बल्य के शिकार हो गये हैं जिसके कारण उनकी स्मृति ठीक से काम नहीं कर रही है । आपके 14 पृष्ठीय लेख का सम्बन्धित अंश पूर्वगामी उत्तरपक्ष में उद्धृत किया जा चुका है, आपके स्मृति-दौर्बल्य को ध्यान में रखकर कुछ पंक्तियाँ पुनः प्रस्तुत कर रहा हूँ । यथा -

"श्रीकृष्ण के उत्तर 30 वर्ष बाद यह कथा चलती है तो उसको मिलाने पर (30 + 1000 + 138 + 360 + 100 + 134 + 100 + 345 + 456) 2666 कलि वर्ष होते हैं । इसके बाद 7 अभीर, 10 गर्दभी , 16 कङ्क, 8 यवन और 14 तुरुष्क 55 राजा 1099 वर्ष राज्य करते हैं । एक एक का सम भाग करने से प्रायः बीस-बीस वर्ष निकलता है । कल्हण के अनुसार हुष्क जुष्क के बाद कनिष्क आता है । अर्थात् 44वाँ राजा कनिष्क है । फलतः 860 वर्ष बाद ।

इस हिसाब से 2666-860 = 3526 कलि संवत् में कनिष्क आया अर्थात् 425 ई. में ।"

अब बोलिये महामण्डलेश्वर जी, जब भागवत में मगध राजवंश का वर्णन चल रहा था तब कल्हण के द्वारा राजतरङ्गिणी में वर्णित कनिष्क को आपने मगध के तथाकथित कनिष्क के साथ एकीकृत क्यों किया ? किस पुराण में मगध पर राज्य करने वाले राजा का नाम कनिष्क लिखा है? महोदय ! यह कनिष्क नाम तो आपने कल्हण से ही ग्रहण किया है, क्यों एक झूठ को छिपाने के लिये झूठ पर झूठ बोले जा रहे हैं ।

वह कश्मीर से किस प्रकार छलांग मारकर रोज मगध आता जाता था इस प्रश्न का उत्तर तो अब आपको ही देना पड़ेगा? क्योंकि अब भी आप कह रहे हैं कि कनिष्क तुरुष्क वंश का चौथा राजा था जबकि पुराणों में तुरुष्क वंशी किसी राजा का नाम ही नहीं दिया गया है, हुष्क, जुष्क और कनिष्क नामक तीन तुरुष्क वंशी राजाओं का नामोल्लेख कश्मीर के राजा के रूप में केवल कल्हण ने ही किया है ।

आगे आप लिखते हैं कि -'कनिष्क का काल पंचम या कुछ आगे पीछे होने पर चतुर्थशती कनिष्क का काल आता है जो बहुत से इतिहास विदों को मान्य है।' यह आपने नामोल्लेख सहित नहीं बताया कि किस इतिहासविद् को कनिष्क का काल ईसा की चौथी सदी मान्य है? कैसे बताते, उस समय तो अर्थात् ईसवी सन् की चौथी पाँचवीं सदियों में मगध पर गुप्तवंशी राजाओं का राज्य था ऐसा डॉ. रमेश चन्द्र मजुमदार, डॉ. विद्याधर महाजन, डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन आदि इतिहासविदों के ग्रन्थों से एवं गुप्त-सम्राटों के अभिलेखों, मुद्राओं आदि से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है ।

ऐसी स्थिति में सम्यक् इतिहास ज्ञान से शून्य महामण्डलेश्वर जी ! क्यों अनर्गल प्रलाप कर अपने को उपहास का पात्र बना रहे हैं? कहा गया है विद्वानों की सभा में मूर्ख का चुप रहना ही श्रेयस्कर होता है ।

पूर्वपक्ष-२८

सर्वथानुपपत्तेश्च (ब्र. सू. २.२.३१)

सूत्र की व्याख्या पढ़ो, वहाँ लिखा है -

अपि च बाह्यार्थ - विज्ञान - शून्यवादत्रयमित-
रेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृ-
तमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा
प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमाः प्रजा इति ।

भाष्य में बाह्यार्थ से वैभाषिक सौत्रान्तिक दोनों ग्राह्य हैं । वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्ष मानते हैं, सौत्रान्तिक बाह्यार्थानुमान मानते हैं इतना ही मतभेद है । बाह्यार्थास्तित्व

उभयमतसंमत है । विज्ञानवाद से योगाचारों का और शून्यवाद से माध्यमिकों का ग्रहण है । इन चारों के उपदेष्टा सुगत (गौतम बुद्ध) एक ही व्यक्ति है यह 'सुगतेन' इस एकवचन से स्फुट है । बुद्ध ने कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं लिखा । जिज्ञासु जैसे-जैसे प्रश्न करते थे वैसे-वैसे उत्तर देते थे । केवल शिष्य लोग लिख रखते थे । बाद में उपदेशानुरूप तत्त्वनिरूपण स्व-स्व बुद्धि अनुसार क्रमशः हुआ । उसमें नागार्जुन ने शून्यवाद निरूपण किया और जनसाधारण बनाया । अतः नागार्जुन को ही हम ने मुख्य प्रवर्तक लिखा । इसी प्रकार योगाचार के मुख्य प्रवर्तक के रूप में मैत्रेयनाथ को बताया । सौत्रान्तिक के मुख्य प्रवर्तक कुमारलात को कहा और वैभाषिक मत के मुख्य प्रवर्तक कात्यायनीपुत्र कहा । मुख्य शब्द इसलिये लिखा कि बुद्ध ने चारों मतों का उपदेश किया, उस को दार्शनिक रूप देकर जनता में प्रवर्त्तन करने वाले पूर्वोक्त चार हैं । तुम्हारे अन्य पचीस-पचास बुद्ध पोपलीलाकला से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं । बचपन में पढ़ते समय बौद्धों के चौबीस बुद्ध, हिन्दुओं के चौबीस अवतार और जैनों के चौबीस तीर्थङ्कर सुना था । इसमें एक दूसरे के अनुकरण की गंध आने लगी तो बौद्धों ने उनतीस-तीस बुद्धों की कल्पना कर अनुकरण से बचने का उपाय ढूँढ़ निकाला ।

अस्मदीय कालनिर्णय तक भी इन पचीसों बुद्धों का प्रकट प्रचार नहीं हुआ था । वे पोपलीला रचना के तरीके में ही लगे रहे । अतएव इनके स्तूपनिर्माण अभिलेखादि इस दरमियान धीरे-धीरे अस्तित्त्व में आये । जो पोपाधीशों का ही काम रहा ।

ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।

इस प्रकार पुराणों में एक ही बुद्ध का जन्मवर्णन है । '**केशवधृतबुद्ध शरीर**'' इत्यादि दशावतार विस्तार कर जयदेव कवि ने भी ''**कारुण्यमातन्वते**'' ऐसा तदनुवाद एकवचन से किया । इस प्रकार शास्त्रों में बुद्ध का वर्णन चाहे पूज्यत्वेन हो चाहे निन्द्यत्वेन हो, येन केनापि रूपेण किया हो सर्वत्र एक ही बुद्ध का वर्णन मिलता है । क्या इन सबको अल्पज्ञ या अज्ञ मानेंगे ? अतः बहुबुद्ध कल्पना केवल पोपलीलाप्रकरण है । सो भी जयदेवादि समय बारहवीं शती तक जनसाधारण नहीं हो पाया था । एतदर्थ बुद्धमुख से कुछ पूर्वजातबुद्धों का वर्णन करवाना भी कौन सी बड़ी

बात थी। न भी कहा हो, स्वयं बुद्ध लिखते नहीं थे, चेलों ने लिख मारा होगा। कलम हाथ में है, "मुखमस्तीति वक्तव्यं" न्याय सामने है।

उत्तरपक्ष-२८

अपने 14 पृष्ठीय पूर्व लेख में महामण्डलेश्वर जी का यह मानना था कि गौतम बुद्ध का निर्वाण ई.पू. 481 में हुआ और उनके पश्चात् ही बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार हुआ। यहाँ उनका मानना है कि गौतम बुद्ध ने चारों मतों - शून्यवाद, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक का उपदेश किया था जिसका प्रचार-प्रसार क्रमशः नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, कुमार लात्त (कुमार लब्ध) एवं कात्यायनीपुत्र ने किया। अपने पूर्व लेख में महामण्डलेश्वर जी ने इन चार सिद्धान्तों का प्रतिपादक पूर्वकथित नागार्जुनादि को ही माना था। खैर, देर आये दुरुस्त आये।

महामण्डलेश्वर जी ने ब्रह्मसूत्र भाष्य का उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि 'सर्वथानुपपत्तेश्च' सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने बौद्धधर्म के चारों सम्प्रदायों का खण्डन किया है। ब्रह्मसूत्र के [238]'नाभाव उपलब्धे' के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने बौद्धमत तथा [239]'नैकस्मिन्नसंभवात्' के भाष्य में जैन मत का खण्डन किया है। याद रहे आचार्य शङ्कर भाष्यकार हैं न कि सूत्रकार। उन्होंने महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन रचित सूत्रों का भाष्य किया है। सुधन्वा के द्वारा सार्वभौम लिखे जाने पर महामण्डलेश्वर जी ने स्वयं सुधन्वा का 'भाष्यकार के भक्त के रूप में भाष्य के विरुद्ध बोलने वाला सुधन्वा धूर्त तथा सुधन्वा भाष्यकार का अनुगामी नहीं भाष्य विरुद्ध मत वाला है' इत्यादि प्रत्यनुमान उपस्थित किया था।

अतएव यहाँ तो महामण्डलेश्वर जी को यह मानना ही होगा कि भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्रकार महर्षि व्यास के भक्त एवं अनुगामी होने के कारण उनके सूत्रों का भाष्य तदनुकूल ही किया है। यदि महामण्डलेश्वर जी ऐसा नहीं मानते हैं तब उन्हें सुधन्वा के लिये उपस्थित किये गये प्रत्यनुमान को आचार्य शङ्कर के लिये भी उपस्थित कर शाङ्कर भाष्य का खण्डन करना पड़ेगा, जो कि एक शाङ्कर सम्प्रदायी कथमपि नहीं कर सकता। उपर्युक्त तीन सूत्रों के प्रमाण से यह निःसंदेह सिद्ध हो जाता है कि महर्षि व्यास के पूर्व भी जैन व बौद्धमतों का अस्तित्व था जिनका खण्डन व्यास जी ने अपने

सूत्रों में किया था अन्यथा ऐसा भाष्य आचार्य शङ्कर क्यों करते ? महाभारत युद्ध के मध्य श्रीमद्भगवद्गीता का उपेश दिया गया था जिसमें ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया गया है ।

यथा -

[240]ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ भागवत् गीता 13/4

ब्रह्मसूत्र [241]'स्मृतेश्च' के भाष्य में आचार्य ने कहा है कि उक्त सूत्र में श्रीमद्भगवद्गीता 18/61 का कथन है । इससे ज्ञात होता है कि 'ब्रह्मसूत्र' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' व्यास जी द्वारा एक ही अवधि में लिपिबद्ध की गई रचनायें हैं । महाभारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर शककाल का आरम्भ हुआ ई.पू. 3138 में । अतएव यह निश्चित हुआ कि ब्रह्मसूत्र की रचना ई.पू. 32वीं सदी में हुई थी ।

श्री विष्णु-पुराण में कहा गया है कि - [242]महात्मा वशिष्ठ ने भीष्म को बताया था कि पूर्व काल में किसी समय सौ दिव्य वर्ष तक देवता और असुरों का युद्ध हुआ । उसमें ह्राद प्रभृति दैत्यों द्वारा देवगण पराजित हुए । पश्चात् देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने 'माया मोह' नामक व्यक्ति को उत्पन्न किया जिसने दिगम्बर जैन मत, श्वेताम्बर जैनमत तथा बौद्ध धर्म का प्रचार कर दैत्यगणों को वैदिक मार्ग से भ्रष्ट कर दिया । वहाँ पर जैन-बौद्ध मत के उपदेशों को लिपिबद्ध भी किया गया है ।(विष्णु पु. 3/17,18)

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है -

[243]'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत'

अर्थात् - उसी के विषय में किन्हीं ने ऐसा भी कहा कि आरम्भ में यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था । उस असत् से सत् की उत्पत्ति होती है ।

अपने भाष्य में आचार्य शङ्कर ने इसे बौद्ध मत बताकर इसका खण्डन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि बौद्धग्रन्थों में अनेक कल्पों में हुए अनेक बुद्धों का वर्णन बिल्कुल सत्य है क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद्, श्री विष्णुपुराण, ब्रह्मसूत्र आदि में बौद्ध मत का उल्लेख संप्राप्त है ।

वस्तुतः हमारे विष्णु अवतार बुद्ध, गौतम बुद्ध से भिन्न हैं । [244]आनन्द रामायण के मनोहर काण्ड के तीसरे सर्ग में लिखा है कि विष्णु अवतार बुद्ध का जन्म पौष शुक्ल सप्तमी को हुआ था । जबकि गौतम बुद्ध का जन्म वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को हुआ था

श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय का 24वाँ श्लोक

महामण्डलेश्वर जी ने उद्धृत किया है जिसका अर्थ है - 'उसके पश्चात् कलियुग आ जाने पर कीकट में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिये बुद्ध नामक अजन पुत्र के रूप में अवतार होगा ।' गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित उक्त पुराण के हिन्दी अनुवाद में कीकट को 'मगध (बिहार)' बताया गया है । श्रीधर स्वामी ने अपनी टीका में 'कीकट' को 'गया प्रदेश' बताया है । वंशीधरी टीका में कीकट को 'मगध' बताया गया है । वस्तुतः मगध के ही दो विभाग थे - गयाप्रदेश दक्षिणी मगध तथा पाटलिपुत्र क्षेत्र उत्तरी मगध कहलाता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि अवतार बुद्ध का जन्म बिहार में हुआ था । उनका बचपन से ही नाम बुद्ध था । अजन उनके पिता का नाम था ।[245] पं. राहुल सांकृत्यायन प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर लिखते हैं कि गौतम बुद्ध का जन्म कपिल वस्तु (तिलौराकोट तोलिहवा से दो मील उत्तर नयपाल (नेपाल) तराई) तथा देवदह नगरों के मध्य स्थित 'लुम्बिनी वन' (रुम्मिन् देई, नौतनवा स्टेशन से प्रायः 8 मील पश्चिम, नेपाल तराई) में हुआ था । उनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था । शुद्धोदन उनके पिता का तथा महामाया देवी उनकी माता का नाम था ।

ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के महाकवि अश्वघोष के दो श्लोक यहाँ पर प्रासंगिक हैं-

[246]अहोरगा धर्मविशेषतर्षाद् बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दार पुष्पैः समवाकिरँश्च ॥

अर्थात् - अतीत बुद्धों में जिनका अधिकार था ऐसे बड़े-बड़े सर्पों ने धर्म-विशेष की लालसा से उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्ति-युक्त नेत्रों से देखते हुए मन्दार फूल बरसाये ।

[247]दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति ।
निधिर्गुणानां समये स गन्ता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥

अर्थात् - दीप के समान प्रकाशवान्, स्वर्ण की भाँति उज्ज्वल कान्ति वाला (यह बालक) जिन शुभ लक्षणों से युक्त है, (उनसे) वह समय पर गुणों का निधान होगा और बुद्धों में ऋषि होगा अथवा अत्यन्त (राज्य) श्री प्राप्त करेगा ।

उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि अतीत में भी अनेक बुद्ध हो चुके थे तथा कालान्तर में सिद्धार्थ गौतम बुद्धों में अत्यधिक ख्याति प्राप्त करने वाले हुए ।

अब हम अवतार बुद्ध से सम्बन्धित श्रीमद्भागवत महापुराण के कुछ अन्य श्लोकों

को उद्धृत करेंगे -

[248]**द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद् बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात्।** (भागवत पु.)
कल्किः कलेः कालमलात् प्रपातुः धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥ 6/8/19

अर्थात् - भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन जी अज्ञान से तथा बुद्ध देव पाखण्डियों से और प्रमाद से मेरी रक्षा करें । धर्म रक्षा के लिये महान् अवतार धारण करने वाले भगवान् कल्कि पाप बहुल कलिकाल के दोषों से मेरी रक्षा करें ।

[249]**नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।**
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥ (10/40/22 भागवत पु.)

अर्थात् - दैत्य और दानवों को मोहित करने के लिये शुद्ध बुद्ध का रूप ग्रहण करेंगे। मैं आपको नमस्कार करता हूँ । पृथ्वी के क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय हो जायेंगे तब उनका नाश करने के लिये आप ही कल्किरूप में अवतीर्ण होंगे । मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।

उपर्युक्त श्लोकों में अवतार बुद्ध की स्तुति की गई है । श्रीशङ्कर दिग्विजय में आचार्य शङ्कर द्वारा बुद्ध की स्तुति करने के संदर्भ में निम्न श्लोक पठित है -

[250]**पाठीनकेतोर्जयिने प्रतीतसर्वज्ञभावाय दयैकसीम्ने ।** माधवाचार्य शंकर दिग्विजय
प्रायः क्रतुद्वेषकृतादराय बोधैकधाम्ने स्पृहयामि भूम्ने ॥ ॥2/14

अर्थात् - आपने मीनकेतु कामदेव को जीत लिया है । आपकी सर्वज्ञता सब जगह प्रसिद्ध है । आप दया की सीमा हैं । मैं यज्ञ से द्वेष करने वाले पुरुषों को आदर देने वाले बोध के धाम यानी बुद्ध, आपका दर्शन चाहता हूँ ।

आचार्य शङ्कर अवतारों के मतों का खण्डन नहीं करते । उन्होंने ब्रह्मसूत्र- [251]'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्' के भाष्य में सांख्य मत का खण्डन करते हुए कहा है कि 'श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/2 में वर्णित कपिल सांख्य के कर्ता नहीं हैं, उस सांख्य कर्ता से अन्य सगर पुत्रों के प्रदाहक वासुदेव नामक कपिल का स्मृति में वर्णन है, उन्हीं के ही ज्ञानातिशय को श्रुति में भी प्रदर्शित किया गया है, सांख्य कर्ता कपिल का नहीं'। अतएव यह निश्चित हुआ कि जिन बुद्ध की पुराणों में स्तुति की गई है तथा जिनकी स्तुति स्वयं आचार्य शङ्कर ने की है उन अवतार बुद्ध के मत का नहीं वरन् बुद्ध पदवीधारी बुद्धों के मतो का आचार्य शंकर ने खण्डन किया है । जो कि 'माया मोह' के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के पक्षधर थे । अग्नि पुराण से स्पष्ट हो

जाता है कि शुद्धोदन का पुत्र माया मोह (=महामोह) स्वरूप अर्थात् - उसका अवतार था । यथा -

[252]**महामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ।**
मोहयामास दैत्यांस्तान् त्याजिता वेदधर्मकम् ॥

अर्थात् - महामोह शुद्धोदन के पुत्र के रूप में अवतीर्ण हुआ तथा दैत्यों को वैदिक धर्म छोड़ने के लिये मोहित किया। अब यह स्पष्ट हो गया कि विष्णु अवतार बुद्ध अजन के पुत्र थे और कीकट में हुए थे तथा गौतम सिद्धार्थ बुद्ध महामोह (=माया मोह) के अवतार व शुद्धोदन के पुत्र थे और उनका जन्म लुम्बिनी (नेपाल) में हुआ था ।

अश्वघोष ने ई.पू. प्रथम शताब्दी में लिखा है -

[253]**अन्ये ये चापि सम्बुद्धा लोकं विद्योत्यधीत्त्विषा ।**
दीपा इव गतस्नेहा निर्वाणं समुपागताः ॥
भविष्यन्ति च ये बुद्धा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
ज्वलित्वाऽन्तं प्रयास्यन्ति दग्धेन्धनकृशानुवत् ॥

अर्थात् - दूसरे जो बुद्ध हुए हैं वे बुद्धि के प्रकाश से संसार को प्रकाशित कर, तैल समाप्त हुए दीपक की तरह सर्वथा बुझ गये । और भविष्य में जो बुद्ध तपस्वी होंगे वे अन्ततः प्रज्वलित होकर लकड़ी जल जाने पर अग्नि की तरह शान्त हो जायेंगे । इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जब यश नामक कुलपुत्र गौतम बुद्ध के पास गया तब उन्होंने कहा -

[254]**'मोक्षस्य समयापेक्षा नास्ति सौगत्यमाप्नुहि'**

अर्थात् - 'मोक्ष का कोई विशेष अवसर नहीं होता अतः तुम सुगत को प्राप्त होओ'। तत्पश्चात् -

[255]**पूर्वाभ्यासेन क्षिप्रं गृहस्थोऽपि कुलात्मजः ।**
वपुषा चार्हतां शुद्धं बुद्धत्वं मनसाप्यगात् ॥

अर्थात् - 'वह कुलपुत्र गृहस्थ होने पर भी पहले के अभ्यास के कारण शीघ्र ही शरीर से अर्हता को और मन से शुद्ध बुद्धत्व को प्राप्त हुआ । ललितविस्तरम् नामक बौद्ध-ग्रन्थ में लिखा है - [256]"बुद्ध लोग वैश्य या शूद्र कुल में उत्पन्न नहीं होते, लोकमान्य क्षत्रिय या ब्राह्मण इन्हीं दो कुलों में होते हैं ।" [257]महावंश में 25 बुद्धों का नाम दिया गया है । आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने ग्रन्थ 'बौद्ध-धर्म दर्शन' में अनेक बुद्धों

के नामों का उल्लेख किया है । 'अमिट कालरेखा-अर्वाचीन मत खण्डन' में मेरे द्वारा फाहियान के यात्रा विवरण, अनेक प्राचीन अभिलेखों तथा अन्यान्य प्रमाणों के द्वारा अनेकों बुद्धों के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा चुका है ।

बौद्धग्रन्थ ललितविस्तरम् (अपरनाम वैपुल्य सूत्र, महानिदान, महाव्यूह), बुद्धचरितम्, महावंश, दीपवंश, स्तूपवंश, बुद्धवंश आदि ई. पू. पंचम सदी से ई. सन् पंचम सदी के मध्य की कृतियां हैं । फहियान का यात्रा विवरण ई. सन् पञ्चम सदी के प्रथम दशक का है । हरिस्वामिनी का सांची प्रस्तर अभिलेख गुप्त संवत् 131 तुल्य ईसवी सन् 450-51 का तथा सम्राट् अशोक का निगलिहवा स्तम्भाभिलेख उसके राज्याभिषेक के 14वें वर्ष अर्थात् ई. पू. 256 का है । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'बुद्धचर्या' का प्रथम संस्करण 1931ई. सन् में प्रकाशित हुआ था । 'द इकोनोग्राफी ऑफ तिब्बतन लामाइज्म' 1939 ई. में न्यूयार्क से प्रकाशित हुआ थी । आचार्य नरेद्रदेव कृत 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' का प्रथम संस्करण 1956 ई. में तथा 'द आदि बुद्ध' नामक पुस्तक दिल्ली से 1986 ई. में प्रकाशित हुई थीं । उपर्युक्त सभी ग्रन्थों एवं अभिलेखों में पूर्ववर्ती बुद्धों के नामोल्लेख सहित विवरण संप्राप्त हैं । ऐसी स्थिति में महामण्डलेश्वर जी द्वारा यह कहना कि - "अस्मदीय काल निर्णय (ई.सन् 1988) तक भी इन पच्चीस बुद्धों का प्रकट प्रचार नहीं हुआ था । वे पोपलीला रचना के तरीके में ही लगे रहे । अतएव इनके स्तूप निर्माण अभिलेखादि इस दरमियान धीरे-धीरे अस्तित्व में आये । जो पोपाधीशों का ही काम रहा" महामण्डलेश्वर जी द्वारा स्वयं को पोपाधीश ही सिद्ध करना है । ऐसा अभिकथन या तो कोई असंतुलित मस्तिष्क वाला व्यक्ति या धूर्त अथवा निहित स्वार्थ से प्रेरित दोषदृष्टि, दूषित दुराग्रही ही कर सकता है । महामण्डलेश्वर जी ने जिस वाराणसी में स्वयं के अध्ययन करने की बात लिखी है उसी वाराणसी के पास 'सारनाथ' में गौतम बुद्ध के काल के अनेक स्तूप अब भी वर्तमान् हैं। आर्य समाजी स्वामी दयानन्द जी की परिभाषानुसार - छली-कपटी-स्वार्थी-लोगों को सत्य का ज्ञान न होने देने वाला, लोगों को अच्छे पुरुषों का सङ्ग न करने देने वाला, रात-दिन लोगों को बहकाने के सिवा अन्य काम न करने वाला, कुत्सित व्यवहार करने वाला तथा छल-कपट से दूसरे को ठग कर अपना प्रयोजन साधने वाला पोप कहलाता है । अब विज्ञजन स्वयं ही निर्णय करें कि कौन पोपलीला विस्तारक पोप है ?

शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि जैन-बौद्ध मत का प्रर्वतक

मायामोह अति प्राचीन काल में हुआ था गौतम बुद्ध के नाम से ज्ञेय सिद्धार्थ महामोह के अवतार थे न कि भगवान् विष्णु के । सिद्धार्थ के पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम महामाया देवी था । सिद्धार्थ का जन्म 'लुम्बिनीवन' में नेपाल की तराई में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन हुआ था, ये जाति से क्षत्रिय थे । बुद्ध के नाम से श्रीमद्भागवत महापुराण, आनन्द रामायण आदि में ज्ञेय भगवान् विष्णु के अवतार के पिता का नाम अजन था । भगवान् बुद्ध का जन्म 'कीकट' प्रदेश में पौष शुक्ल सप्तमी के दिन हुआ था । ये जाति से ब्राह्मण थे जो कि भविष्य पुराण प्रति सर्ग पर्व 1/12/26-27 व 4/12/27 तथा सन्त-परम्परा में प्रचलित निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है -

बौद्धरूपस्स्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके ।
अजिनस्य द्विजस्येव सुतो भूत्वा जनार्दनः ।
वेदधर्मपरान्विप्रान्मोहयामास वीर्यवान् ॥

तथा

दो वनचर दो वारिचर चार विप्र दो भूप ।
प्रातः जे सुमिरन करे ते न परे भवकूप ॥

अर्थात् - भगवान् विष्णु के - दो अवतार वनचर (नृसिंह व वराह), दो वारिचर (मत्स्य व कच्छप), चार विप्र (वामन, परशुराम, बुद्ध व कल्कि) तथा दो भूप (श्रीरामचन्द्र व श्रीकृष्ण) हैं इनका प्रातः जो स्मरण करता है वह भवकूप में नहीं पड़ता।

महामण्डलेश्वर जी का यह कहना कि (गौतम) 'बुद्ध' ने कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं लिखा, जिज्ञासु जैसे-जैसे प्रश्न करते थे वैसे -वैसे उत्तर देते थे, केवल शिष्य लोग लिख रखते थे' सकल प्रमाण-विरुद्ध, असाम्प्रदायिक तथा महामण्डलेश्वर जी की अल्पज्ञता और अज्ञता का द्योतक है । ईसवी सन् पूर्व प्रथम शताब्दी के अपने ग्रन्थ 'बुद्धचरितम्' में बौद्ध विद्वान् महाकवि अश्वघोष ने लिखा है -

[258]न निबद्धं तु यत्सूत्रे विनये यन्न दृश्यते ।
मद्विरुद्धं तु तज्ज्ञेयं न मन्तव्यं कदाचन ॥

अर्थात् - (गौतम बुद्ध ने कहा) मैंने जो सूत्र नहीं लिखा है तथा विनय में जो नहीं आता है उसे मेरे मत के विरुद्ध जानना चाहिए तथा कभी भी नहीं मानना चाहिए । इससे प्रमाणित होता है कि सभी मूल बौद्ध दर्शन ग्रन्थ गौतम बुद्ध लिखित हैं ।

ब्रह्मसूत्र, छान्दोग्य उपनिषद्, श्रीमद्भागवत महापुराण, श्रीविष्णु-पुराण, अग्निपुराण,

शाङ्कर-भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता, आनन्द रामायण, ललित-विस्तरम्, बुद्धचरितम्, महावंश, दीपवंश, बुद्धवंश, स्तूपवंश, बुद्धचर्या, लंकावतार-सूत्रम्, द इकोनोग्राफी ऑफ तिब्बतन लामाइज्म, बौद्ध-धर्म-दर्शन, द आदि बुद्ध, भविष्य पुराण, फाहियान का यात्रा विवरण, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, द वे ऑफ दि बुद्ध, अजन्ता का वैभव आदि ग्रन्थों को श्रीमान् महामण्डलेश्वर बार-बार पढ़ो तुम्हें यह ज्ञान हो जायेगा कि 25 से भी अधिक पूर्ववर्ती बुद्धों का अस्तित्त्व, उनके स्तूप तथा मूर्तियाँ तुम्हारे काल निर्णय वर्ष 1988 ई. से सहस्रों वर्ष पूर्व से मान्य तथा विद्यमान है । यहाँ पूर्वपक्ष में आपने मेरे लिए तुम का प्रयोग किया है, इसलिए बाध्य होकर मुझे भी आपके ही शब्दों को दोहराना पड़ रहा है ।

16 सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन अजन्ता की गुफा सं. 2 में कम से कम 53 बुद्धों का भित्ति चित्र अंकित है। इतनी ही पुरानी यन कांग (चीन) की गुफा नं. 10 में शाक्यमुनि सहित कुल सात बुद्धों की मूर्तियां संप्राप्त हैं । यदि महामण्डलेश्वर जी वहाँ जाकर न देख सकें तो भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 'द वे ऑफ द बुद्ध' तथा 'अजन्ता का वैभव' में घर बैठे देख सकते हैं । सारी दुनिया को मूर्ख बनाने का प्रयास मत करो तुम्हारे शास्त्रीय एवं ऐतिह्य ज्ञान की कलई अब खुल चुकी है ऐसी स्थिति में और अधिक वितण्डा कर विद्वानों की सभा में उपहास का पात्र मत बनो । बहुबुद्ध वास्तविकता को नकारना पोपलीला प्रकरण मात्र है । "मुखमस्तीति वक्तव्यं" न्याय सामने है, कलम हाथ में है, इस कारण मनमाना मत लिख मारो; स्वयं को परमहंस परिव्राजक कहते हो, कम से कम अपने आश्रम की मर्यादा का तो ध्यान रखकर मिथ्या प्रलाप मत करो, अन्यथा लोक और परलोक दोनों बिगड़ेंगे ।

पूर्वपक्ष-२९

बुद्ध कोई पदवी नहीं है गौतम का ही नामान्तर है । अमरकोश में पर्याय दिये हैं।

"**सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः**" इत्यादि ।

कोश को शक्तिग्राहक माना जाता है ।

"**शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च**"

इत्यादि सुप्रसिद्ध हैं । सर्वज्ञ इत्यादि कुछ शब्द यौगिक एवं रूढ़ उभयात्मक हैं । सब जानने वाला यह यौगि के अर्थ है । बुद्ध में रूढ़ है । सुगत इत्यादि रूढ़ ही हैं । पर्याय शब्द है और बुद्ध भी रूढ़ शब्द है ।

उत्तरपक्ष-२९

'बुद्ध' रूढ़ शब्द है यह तो कोई शाङ्करभाष्यानभिज्ञ अज्ञ ही कह सकता है । माण्डूक्य उपनिषद् पर लिखित गौड़पादीय करिका [259]'जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ' के भाष्य में आचार्य शङ्कर लिखते हैं - 'यापि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा' अर्थात् - 'तथा बुद्ध यानी अद्वैतवादी विद्वानों ने जो जाति (जगत् की उत्पत्ति) का उपदेश दिया है' । यहाँ पर आचार्य ने 'बुद्ध' का अर्थ अद्वैतवादी विद्वान् किया है ऐसी स्थिति में 'बुद्ध' रूढ़ शब्द कैसे माना जा सकता है? इतना ही नहीं, [260]'एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता' के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने 'बुद्ध' का अर्थ 'पण्डित' किया है यथा -

'परिदीपिता प्रकाशितान्योन्य पक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः अर्थात् - 'एक दूसरे के पक्ष का दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी पण्डितों' यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आचार्य ने प्रतिपक्षी के लिये 'वादि' शब्द का प्रयोग किया है जैसा कि सम्राट् सुधन्वा के ताम्रपत्र में किया गया है ।

[261]'विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्' के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने 'बुद्धों' का अर्थ 'परमार्थदर्शी ज्ञानियों' किया है यथा - 'स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनाम् बुद्धानां तस्यात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयम् च' । अर्थात् वह क्योंकि परमार्थदर्शी ज्ञानियों का विषयगोचर है इसलिये, परमसाम्यनिर्विशेष अज और अद्वय है । गौडपाद ने लिखा है -

[262]दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥

अर्थात् - दुर्दर्श, अत्यन्त गम्भीर, अज, निर्विशेष बुद्धपद को भेद रहित जानकर हम उसे यथा शक्ति नमस्कार करते हैं ।

[263]**क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।**
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥

इस कारिका में प्रथम 'बुद्ध' का अर्थ आचार्य शङ्कर ने 'आकाश सदृश पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध - परमार्थदर्शी' तथा दूसरे बुद्ध का अर्थ 'बुद्ध' उपदेशक किया है । वहाँ उन्होंने स्पष्ट किया है कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित अद्वय परमार्थ तत्त्व का बुद्ध ने निरूपण नहीं किया । यद्यपि उसने बाह्यवस्तु का निराकरण तथा केवल ज्ञान की ही कल्पना ये अद्वय वस्तु के समीपवर्ती कहे हैं । तात्पर्य यह है कि इस अद्वैत परमार्थतत्त्व को तो वेदान्त का ही विषय जानना चाहिए ।

जहाँ तक अमरकोश का प्रमाण है उसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उसमें भी आपका ज्ञान अधकचरा है । अमरकोश ठीक से पढ़िये वहाँ भी दोनों बुद्धों का विभाग पूर्वक उल्लेख है । इसी पुस्तक में अन्यत्र उद्धरण दिया जा चुका है । श्रीमान् जी ! यदि आपने शाङ्करभाष्य का सम्यक् अवगाहन किया होता तो बुद्ध को रूढ़ शब्द कहकर अपनी अल्पज्ञता न प्रकाशित करते ।

पूर्वपक्ष-३०

अब धर्मकीर्त्ति आदि के बारे में कुछ और भी विशेष बात उपस्थित करते हैं जिनके आधार पर आचार्य को अष्टम शती के मानना पड़ रहा है । आक्षेप्ता का कहना है मूलोच्छेद किया जाता है । "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" "अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यसितदर्शनैः" इत्यादि सभी श्लोक धर्मकीर्त्तिसागरघोषादि के हैं । केवल उनकी नकल धर्मकीर्त्ति आदि ने किया इत्यादि ।

श्रीमान् महाप्राज्ञ जी ! काश, यदि आप थोड़ा संस्कृत व्याकरण भी पढ़ते तो ऐसी अनाड़ी बातें लिखने का साहस न करते । धर्मकीर्त्ति को ही श्री आनन्दगिरि स्वामी ने एवं परवर्ती बौद्धों ने संक्षेप में कीर्त्ति शब्द से अभिहित किया है । "यथाह कीर्त्तिः", "कीर्त्तिवाक्यमुदाहरति" इत्यादि वहाँ आप देखेंगे । शब्द संक्षेप संस्कृत में मनमाने ढंग से नहीं होता । धर्मकीर्त्तिसागरघोष का संक्षेप कीर्ति नहीं होता त्रिमुनि व्याकरण ही प्रामाणिक है । किस प्रकार शब्द संक्षेप होता है इसके लिए यह भाष्येष्टिरूप श्लोकवार्त्तिक है -

चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च ।

अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च ।।

पूर्वार्ध में प्रत्यय के होने पर लोप बताया । तृतीय पाद – अप्रत्यये तथैवेष्टः की व्याख्या कैयट ने की है –

"प्रत्ययाभावेऽपि पूर्वोत्तरपदयोरन्यतरस्य वा लोपो वाच्य इत्यर्थः" । सत्यभामा के लिये पूर्वोत्तर लोप विकल्प में 'सत्या' भी कह सकते हैं । 'भामा' भी कह सकते हैं । पूर्वपद समास के पूर्वावयव में और उत्तरपद समास के उत्तरावयव में रूढ़ है । तो धर्मकीर्त्तिसागरघोष में उत्तरपद घोष या समस्त सागरघोष मानेंगे और उस का लोप करेंगे तो धर्म कीर्त्तिसागर या धर्मकीर्त्ति रहेगा । कीर्त्तिसागरघोष को कथंचित् एक समस्तपद मानेंगे तो केवल धर्म रहेगा । प्रथम पद में धर्म का लोप करेंगे तो कीर्त्तिसागरघोष कहना पड़ेगा । धर्मकीर्त्ति को एक समस्त पद मानकर पूर्वपद का लोप करेंगे तो सागरघोष कहना पड़ेगा । कीर्त्तिवाक्यं यह धर्मकीर्त्तिसागरघोष का वाक्य इस अर्थ में प्रयोग हो ही नहीं सकता । इधर पूर्वपद धर्म का भी लोप करो और उत्तर में सागरघोष का भी लोप करो तो यह अशक्य है । क्योंकि "अन्यतरस्य" लिखा है । अतः कीर्तिवाक्य का धर्मकीर्तिसागरघोष वाक्य अर्थ करना जिसने व्याकरण को सूंघा भी न हो उस का काम हो सकता है । पढ़िये थोड़ा व्याकरण । 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे' उक्ति चरितार्थ मत करो ।

ऐसी स्थिति में संस्कृत से दूर से भी जिस का सम्बन्ध नहीं है ऐसा कोई मूर्ख धर्मकीर्त्तिसागरघोष को कीर्त्तिशब्द से बताया आदि कहें वह संस्कृत एवं इतिहास के साथ खिलवाड़ कर रहा है और इतिहास को चौपट कर रहा है, या अपनी मूर्खता प्रगट कर रहा है । ऐसे-ऐसे मूर्ख यदि मुझे यह कहें कि आपने भागवत मूल नहीं पढ़ा, विष्णुपुराण नहीं पढ़ा और हमें बड़े संकोच से कहना पड़ रहा है, इत्यादि बोलें तो उसे सुनकर क्रोध या आवेग नहीं, उसकी मूर्खता पर हंसी आती है । और एक कथा याद आती है कि – समुद्र किनारे एक पंगु अपनी कटि तक बालू में छिपाकर बालू में धँसते-धँसते धीरे चलने वाले की हंसी उड़ा रहा है – देखो-देखो लगड़ा जा रहा है, हे हे हे हे !

उत्तरपक्ष-३०

महामण्डलेश्वर जी ! यदि आप स्वयं 'अमिट काल रेखा' पढ़े होते तो ऐसी अनाड़ी बातें न लिखते । आपने स्वयं अपनी आलोच्य पुस्तक में लिखा है कि एक पाठिका 'अमिट काल रेखा' आपको पढ़कर सुनायी । महोदय मेरी उक्त पुस्तक में पृष्ठ 27 पर बिन्दु-16 के नीचे निम्न शीर्षक मोटे अक्षरों में प्रकाशित है -

'सुरेश्वराचार्य व धर्मकीर्त्ति सागरघोष बुद्ध' वहाँ 'धर्मकीर्त्ति' उन बुद्ध का नाम है और 'सागरघोष' विद्या पराक्रमजन्य उपाधि, यह पृथक्-पृथक् लेखन से स्वतः स्पष्ट है। सागरसूरि, सागर महामेरु आदि जैनों एवं सागरघोष आदि उपाधियाँ बौद्धों में प्रचलित हैं । 'सागर' तो दशनामियों में भी प्रचलित एक उपाधि है । हाँ, देखिये घोष का भी निकृष्ट अर्थ मत कर लीजिएगा, [264]शतपथ ब्राह्मण में इसका अर्थ 'पराक्रम' किया गया है ।

व्याकरण में आपने बहुत श्रम किया है इसलिये आपके श्रम को व्यर्थ न जाने देने के लिये व्याकरण की दृष्टि से भी धर्मकीर्त्ति सागर घोष नामक किसी व्यक्ति का 'धर्मकीर्त्ति' व 'कीर्त्ति' शब्द संक्षेप कैसे हो सकता है यह देखिये । आपके अनुसार धर्मकीर्त्ति सागरघोष में सागरघोष को उत्तरपद मानकर उसका लोप करने से 'धर्मकीर्त्ति' बचा जिसका उल्लेख सुरेश्वराचार्य ने अपने भाष्यवार्त्तिक में किया । इस 'धर्मकीर्त्ति' का भी शब्द संक्षेप आनन्द गिरि स्वामी एवं परवर्ती बौद्धों ने 'कीर्त्ति' कर दिया क्योंकि उनके समक्ष सुरेश्वराचार्य का 'धर्मकीर्त्ति' नामोल्लेख था । धर्मकीर्त्ति में पूर्वपद 'धर्म' का लोप करने पर 'कीर्त्ति' शब्द प्राप्त होता है । ऐसी स्थिति में यदि कोई पराश्रित व्यक्ति जो स्वयं बिना पढ़े एक पाठिका के द्वारा सुनकर व्याकरण का दुरुपयोग कर इतिहास के साथ खिलवाड़ कर रहा है, इतिहास को चौपट कर रहा है एवम् बिना विष्णुपुराण आदि को पढ़े अब भी उनको पढ़ने की बात कर महाधृष्टता कर रहा है ऐसे ऐसे मूर्ख यदि मुझे यह कहें कि 'संस्कृत से दूर से भी जिसका सम्बन्ध नहीं है ऐसा कोई मूर्ख धर्मकीर्त्तिसागरघोष को कीर्त्ति शब्द बताया' तो उसे सुनकर न तो क्रोध, न आवेग और न ही उसकी मूर्खता पर हँसी आती है अपितु सनातनधर्म को अपकर्ष की पराकाष्ठा तक ले जाने वाले तथा स्वयं को महामण्डलेश्वर कहने वाले के अज्ञान को देखकर सनातनधर्म की दुर्दशा पर ग्लानि होती है ।

महामण्डलेश्वर जी ! जो कथा आपको याद आई है वह ठीक ही याद आई है वह आप पर सर्वथा लागू होती है । संभवतः यह आपकी आत्मकथा का एक अंश हो ।

पूर्वपक्ष-३१

दूसरी बात, पहले यह बताया कि क्रमशः संप्रदायप्रवर्तक वैभाषिक मत का कश्यप, सौत्रान्तिक मत का कोणायन, योगाचार मत का क्रकुच्छन्द और माध्यमिक मत का स्वयं गौतम बुद्ध बताया । अस्तु । धर्मकीर्त्ति योगाचार मत के ही उद्भट विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध है । उन का मूल तो क्रकुच्छन्द हो गया । यह धर्मकीर्त्तिसागरघोष बीच में कहाँ से कैसे टपक पड़ा? लगता है साहेब भांग सेवन थोड़ा ज्यादा कर गये होंगे । अब जो लिख लिया वह अमिट हो गया । अत: बोल दीजिये कि क्रकुच्छन्द का ही नामान्तर धर्मकीर्त्तिसागर है । कागज सामने है, कलम पकड़े हैं । इतना लिखने में क्या जाता है । कोई क्रकुच्छन्द के पास जाकर पूछने वाला नहीं कि आप का नाम धर्मकीर्त्तिसागर भी है क्या? या लिख दो रावलपिण्डी से उत्तर एक गाँव में शिलालेख मिल गया है । वहाँ क्रकुच्छन्द लिखकर ब्रेकेट में धर्मकीर्त्तिसागरघोष लिखा है । अब कौन जायेगा पाकिस्तान मरने । और वहाँ से बच कर आये तो भी कह सकते हैं पाकिस्तानी शासकों ने उसे नष्ट किया होगा ।

उत्तरपक्ष-३१

महोदय ! आपने नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, कुमारलात एवं कात्यायनीपुत्र को अपने 14 पृष्ठीय पूर्व लेख में क्रमशः माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक मतों का प्रवर्तक बताया था जिसका स्पष्टीकरण अपनी आलोच्य पुस्तक में यह कह कर दिया कि ये चारों उन मतों के प्रवर्तक नहीं परन्तु उनको दार्शनिक रूप देकर जनप्रिय बनाने वाले थे । उसी प्रकार कश्यप, कोणागमन, क्रकुच्छन्द तथा गौतम बुद्ध भी उपर्युक्त चार बुद्ध मतों के जनक नहीं बल्कि प्रधान उपदेशक और प्रचारक थे ।

क्रकुच्छन्द आदि सुरेश्वराचार्यादि के तुल्य थे अर्थात् वे जिस प्रकार सुरेश्वराचार्यादि शाङ्कर पीठपर विराजमान शङ्कराचार्य पद को धारण करते थे उसी तरह क्रकुच्छन्द आदि

परम्परागत बुद्धासन पर विराजमान बुद्ध पद धारण करते थे । नागार्जुनादि बौद्ध सम्प्रदाय के उस श्रेणी के विद्वान् थे शङ्कर सम्प्रदाय के वाचस्पतिमिश्रादि विद्वान् ।

बौद्धमत तो श्रुतिकाल से विद्यमान है जिसको पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । ऐसे में यदि आचार्य शङ्कर से पूर्व धर्मकीर्ति बुद्ध ने योगाचार मत का वर्णन किया था तो इसमें शङ्का का अवकाश कहाँ है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि महाराज जी भांग का सेवन थोड़ा ज्यादा कर गये होंगे जिसके कारण वे मुझको क्रकुच्छन्द का ही नामान्तर धर्मकीर्तिसागर बताने के लिये कह रहे हैं । अथवा वे स्वयं ऐसा करते होंगे इसलिये मुझे ऐसा उपदेश कर रहे हैं क्योंकि महामण्डलेश्वर जी का स्वयं ही कहना है कि 'अपने ही चश्मे से तो लोग देखेंगे' ।

धर्मकीर्ति नामक कई विद्वान् हुए हैं । महामण्डलेश्वर जी के धर्मकीर्ति के सम्बन्ध में डॉ. श्रीधर भाष्कर वर्णेकर ने संस्कृत वाङ्मय कोष में लिखा है [265]"प्रमाणवार्तिक के अतिरिक्त न्यायबिन्दु हेतु, हेतु बिन्दु, प्रमाण विनिश्चय, वादन्याय, सम्बन्धपरीक्षा और समान्तरसिद्धि नामक अन्य छः ग्रन्थ भी उनके नाम पर है । इनमें से प्रमाण वार्तिक, न्यायबिन्दु एवं वादन्याय नामक केवल तीन ग्रन्थ ही मूल संस्कृतरूप में उपलब्ध है । शेष ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद प्राप्त हुए हैं । .... महापण्डित डॉ. राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से इनके ग्रन्थ खोज निकाले हैं । उसके पूर्व ब्राह्मण नैयायिकों के ग्रन्थों में के नामोल्लेख के अतिरिक्त इनके बारे कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं थी" [266]डॉ. वाचस्पति गैरोला ने अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में लिखा है - "कुछ दिन पूर्व राहुल जी ने तिब्बत से 'प्रमाणवार्तिक' का पता लगाकर धर्मकीर्ति के पाण्डित्य को पूर्णतः प्रकाशित कर दिया है" । इससे सिद्ध है कि इन धर्मकीर्ति का कोई भी ग्रन्थ आज से लगभग 70 वर्ष पूर्व भारतवर्ष में नहीं उपलब्ध था और न ही इनके बारे में किसी को कोई विशेष जानकारी ही थी । इनके कथित ग्रन्थ की प्राप्ति भी तिब्बत से एक बौद्ध मतावलम्बी को हुई अतएव इन सबकी प्रामाणिकता पर अनुसन्धान आवश्यक है । बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस तिब्बत से 'प्रमाणवार्तिक' के प्राप्त होने की बात कही गयी है उसी तिब्बत में धर्मकीर्ति नामक बुद्ध की मूर्तियाँ भी सम्प्राप्त है जिनकी गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध के रूप में तिब्बत के लामा लोग पूजा करते है । ऐसी स्थिति में इस बात की पूरी सम्भावना हो जाती है कि धर्मकीर्ति बुद्ध के उपदेश संस्कृत भाषा में तिब्बत में उपलब्ध थे जिनका अध्ययन महामण्डलेश्वर जी के धर्मकीर्ति ने कर उनके सिद्धान्तों को

संग्रहीत कर पुनः प्रमाण वार्तिक की रचना की ।

उपर्युक्त निष्कर्ष को चीनी परम्परा से बल मिला है । डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ भारतीय दर्शन में लिखा है- [267]"ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य सम्प्रदाय की सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक प्रचलित पाठ्य ग्रन्थ है इसके नाम से स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन का यह पहला ग्रन्थ नहीं है । चीनी परम्परा के अनुसार, विन्ध्यवास ने वार्षगण के ग्रन्थ को फिर से लिखा । यदि विन्ध्यवास वही है जो कारिका का रचयिता है तो परिणाम यह निकलता है कि कारिका एक अन्य पूर्वलिखित ग्रन्थ पर आधारित थी, जिसके विषय में हमें कुछ पता नहीं है । तकाकुसु का विचार है कि विन्ध्यवासी ईश्वर कृष्ण की उपाधि थी । गुण रत्न से भिन्न-भिन्न मान्यता है । गौडपाद ने कारिका पर एक भाष्य लिखा । बौद्ध भिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) ने चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया और इस पर टीका भी लिखा । चीनी परम्परा के अनुसार विन्ध्यवास को वसुबन्धु से पूर्व हुआ बताया जाता है जो कारिका से दूसरी कारिका को उद्धृत करता है । 'माठरवृत्ति' का संक्षिप्त रूप ही गौड़पाद कृत भाष्य कहा जाता है, किन्तु वृत्तियाँ साधारणतः भाष्यों के पीछे आती हैं, और इस तथ्य के आधार पर कि माठर वृत्ति में सांख्यकारिका की अन्तिम तीन कारिकाओं पर टीका की गई है, इसका निर्माणकाल (गौड़पादीय भाष्य) से पीछे का प्रतीत होता है ।" [268]उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'सांख्यदर्शन का इतिहास' में लिखा है- "आचार्य माठर विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हुए । परमार्थ ने ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं की जिस टीका का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, वह वर्तमान 'माठरवृत्ति' ही है।" [269]डॉ. दामोदर सिंहल के अनुसार - छठी शती में समुद्रीमार्ग से चीन जाने वाले भारतीय भिक्षुओं में परमार्थ (प्रायः 498-569) का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है । लियांग राजवंश के चीनी सम्राट् वू-टी के आमन्त्रण पर परमार्थ 546 में कैंटन पहुँचा, जहाँ से एक चीनी मार्गरक्षक के साथ वह नानकिंग गया । उसने बहुत से मौलिक ग्रन्थ लिखे और सत्तर बौद्ध पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें केवल 32 अब प्राप्त हैं ।

ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यकारिका को गौड़पाद द्वारा लिखित भाष्य पर विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में माठर ने वृत्ति लिखी थी । इस भाष्य सह वृत्ति का चीनी अनुवाद परमार्थ ने 546 ई. से 569 ई. के मध्य किसी समय किया ऐसी स्थिति में गौड़पाद के प्रशिष्य आचार्य शङ्कर द्वारा ई. सन् की सातवीं सदी के किसी

धर्मकीर्ति के वाक्यों को उद्धृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इस आधार पर गौड़पाद को किसी भी प्रकार से 500 ई. के पश्चात् नहीं लाया जा सकता तथा उनका जन्मकाल 450 ई. के लगभग कल्पित करना पड़ता है ऐसी स्थिति में गौड़पाद के जन्म एवं आचार्य के कथित भाष्य रचनाकाल के मध्य लगभग 350 वर्ष का अन्तर आ जायेगा जोकि सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है । बल्कि यह सम्भावना कि महामण्डलेश्वर जी के धर्मकीर्ति ने धर्मकीर्ति बुद्ध के ग्रन्थों के वाक्यों एवं उद्धरणों का संग्रह कर उन्हें पुनः लिखकर प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थ को उसी प्रकार से वर्तमान रूप दिया जिस प्रकार से विन्ध्यवास ने वार्षगण के ग्रन्थ को पुनः लिखकर वर्तमान सांख्यकारिका को उपलब्ध करवाया ।

(तथाकथित) [270]न्यायबिन्दुकार धर्मकीर्ति से भिन्न एक बौद्ध पण्डित थे प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों में सबसे प्राचीन, रूपावतार के रचयिता धर्मकीर्ति जो विक्रम संवत् 1140 तु. ई. सन् 1083 के लगभग हुये थे ऐसा डॉ. वर्णेकर ने लिखा है ।

1947 ई. सन् में प्रकाशित अपनी पुस्तक में डॉ. विमल चरन ला ने लिखा है- [271]'धम्मकीत्ति (धर्मकीर्ति) ने महावंश में खिल भाग जोड़ा । वह पालि इतिवृत्त दाथवंश का लेखक था । उसने अनेक टीकाग्रन्थों की रचना की । यथा - विनय भाष्य समन्तपासादिका पर सारत्थदीपनी टीका, अंगुत्तर भाष्य (मनोरथपूरणी) पर टीका, चन्द्रपञ्चिका नामक चान्द्र व्याकरण पर टीका, चन्द्रगोमिन के संस्कृत व्याकरण पर पाणिनि पद्धतीय निबन्ध (प्रबंध) लिखा तथा 'विनय संग्रह' के नाम से विनय सार संग्रह किया । उनकी प्रशस्ति महानतम पाण्डित्यपूर्ण विद्वानों में से एक ऐसे विद्वान् के रूप में की जाती है जो कि तर्कशास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञाता तथा बुद्ध के सिद्धान्तों के प्रकाण्ड पण्डित थे । सिलौन के शासक पराक्रम बाहु (1197ई. से 1200ई.) ने अपनी रानी लीलावती के कहने से इन्हें राजगुरु के स्पृहणीय पद पर नियुक्त किया । पराक्रम बाहु की मृत्यु के पश्चात् रानी लीलावती सिंहासनारूढ़ हुई ।' इन्होंने अन्य ग्रन्थ लिखे थे ।

संस्कृत वाङ्मय कोष में लिखा है - [272]धर्मकीर्ति नाम के अनेक विद्वान् भट्टारक परम्परा में हुए उनमें ललितकीर्ति के शिष्य आचार्य धर्मकीर्ति (ई. 17वीं शती) की दो संस्कृत रचानाएँ मिलती है- पद्मपुराण और हरिवंशपुराण ।

इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न धर्मकीर्तियों के भिन्न-भिन्न काल में स्वेच्छाचारी सुरेश्वराचार्य को टान कर उन्हें ई. सन् 17वीं शदी तक का बता सकते हैं ? महामण्डलेश्वर जी के

धर्मकीर्ति के बारे में 70 वर्ष पूर्व कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं था परन्तु सिलोन जाने वाले धर्मकीर्ति का विवरण बहुत पहले से उपलब्ध है । उन्हें तर्कशास्त्र का महान् पण्डित कहा गया है । प्रमाण वार्तिक आदि को उन्हीं का लिखा कहकर महामण्डलेश्वर जी सुरेश्वराचार्य को ई. सन् की 12-13वीं सदी का भी बता सकते हैं ?

आजकल वेदान्त दर्शन सम्प्रदाय (अद्वैतवादी) का पर्याय शाङ्कर सम्प्रदाय बन गया है तथा शङ्कराचार्य शाङ्कर सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु वास्तविकता तो यह है कि अद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदाय की शिक्षायें तो उनके पूर्व भी ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों, एवं अन्यान्य अनेकों ग्रन्थों में निहित थी । उसी प्रकार से चार सम्प्रदाय प्रवर्तक बुद्धों के कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि उनके पूर्व उनके द्वारा उपदेशित बौद्ध सिद्धान्त एवं शिक्षाओं का अस्तित्त्व ही नहीं था । वे तो आदि शङ्कराचार्य की तरह उन मतों के प्रसिद्ध आचार्य थे ।

श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं । हे राजन् इस समय केवल मनुष्य श्रेष्ठ का सा व्यवहार करते हुए अध्ययन कर रहे थे । यथा -

[273]**सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ । सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृहतुर्नृप ॥**

तो क्या इसका मतलब यह है कि श्री कृष्ण-बलराम के पूर्व वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, धर्म-शास्त्र, धनुर्वेद, मीमांसा, आन्वीक्षिकी, राजनीतिशास्त्र आदि विद्यायें थीं ही नहीं ? यदि थीं नहीं तो यह सब सान्दीपनि जी ने उन्हें पढ़ाया कैसे ? महोदय कुतर्क का परित्याग कर वास्तविक तात्पर्य समझने का प्रयास करिये ।

यदि मैं मिथ्या लिख दूँगा कि रावल पिण्डी से उत्तर एक गाँव में शिलालेख मिल गया है तो क्या आप सत्य की खोज के लिये पाकिस्तान नहीं पहुँच जायेंगे ? जब 1988 ई. में आप अटक (पाकिस्तान) में आचार्य शङ्कर की तथाकथित द्वादश सदी के उपलक्ष्य में अद्वैत का भेरीनाद गुञ्जित कर वापस लौट आये तब अब क्यों कह रहे हैं कि कौन जायेगा पाकिस्तान मरने? ऐसा प्रतीत होता है कि महामण्डलेश्वर जी स्वयं इसी प्रकार मिथ्या लेखन करते हैं क्योंकि 'चोर की नजर में सब चोर' यह उनकी अपनी ही उक्ति है?

पूर्वपक्ष-३२

यही स्थिति कार्षापण शब्द की भी है । बल्कि वह शब्द स्रुघ्न से भी अधिक लोकाङ्गीकृत है । अमरकोश में लिखा है -

कार्षापणः कार्षिकः स्यात्कार्षिके ताम्रिके पणः ।

ये सब शब्द तथा अर्थ अनादिकालसिद्ध है ऐसा दार्शनिक मत है ।

तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ निर्धारण सृष्टि काल में ही हुआ । फिर उत्सर्गापवादन्यायात्मक लघु उपाय से समस्त शब्दों को समझाया । अतएव आज विस्मरण प्रयुक्त या अल्पज्ञतावश बहुतर शब्द हमसे दूर होते गये हों, फिर भी कोश-व्याकरणादि से बहुत कुछ समझा जाता है । अतएव कार्षापणादि शब्द किसी के निर्मित नहीं है और परिभाषिक अर्थ में भी नहीं हैं । अन्य सब अज्ञानियों का जालप्रसारणमात्र है।

सर्वथापि कोशाद्युक्त अर्थ कालानवच्छिन्न होकर यथार्थ ही है । अतः कार्षापण शब्द से आचार्य का कालनिर्णय करना दिवास्वप्नमात्र है । श्री सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती लिखते हैं- यथा हि कार्षापणं स्वर्णनाणकं महार्घमिति न सकलेनैव सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशत इति व्यवहार प्राचुर्याय तस्मिन् पादविभागः क्रियते एवमिहापि प्रतिपत्तिसौकर्यायात्मा चतुष्पात् कल्प्यते । इससे मालूम पड़ता है कि कार्षापणादि आज भी दक्षिण में व्यवहार्य हैं । याज्ञवाल्कय स्मृति में आया है -

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च ।

एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ।।

नाणक शब्द का व्यवहार आज भी गुजरात में और दक्षिण में चलता है वही स्वर्णनाणक कार्षापण है । खैर, ये सभी शब्द अनादि व्यवहारविषय होने पर भी धीरे-धीरे लोग भूलते भी गये । इस का अर्थ यह नहीं है कि कार्षापणशब्द ईसा पूर्व में ही था । रुपये में भी चार चवन्नी होती है । सपादरूप्यकं मूल्यं ऐसा पुस्तकों पर लिखा भी मिलेगा । तो एक रूपये के नोट के चार टुकड़े कर एक टुकड़े से चार आने का सामान खरीदा नहीं जा सकता है । इतनी छोटी बात को लेकर आचार्य को ढाई हजार वर्ष पूर्व सिद्ध करने की कोशिश जूगनू पर सवार होकर चन्द्रमा को पकड़ने जाने की जैसी है ।

"दशार्धगुञ्जं प्रवदन्ति माषं; माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम्" ऐसा लीलावती में कहा है । अस्सी रत्ती परिमाण का और उतने सुवर्ण का भी नाम कर्ष है । ऐसा पण अर्थात् धन कार्षापण है। "पणो द्युतादिषूत्सृष्टे भृतौ मूल्ये धनेऽपि च" ऐसा अमरकोश है । "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" सूत्र से दीर्घ हुआ । दक्षिण में धनार्थ में पण शब्द चालू है।

उत्तरपक्ष-३२

महामण्डलेश्वर जी ने अज्ञानतावश अथवा लोगों को पथभ्रष्ट करने की नीयत से उपर्युक्त कथन किया है । यहाँ पर हम सर्व प्रथम 'कार्षापण' मुद्रा का उल्लेख आदि शंकराचार्य द्वारा अपने भाष्य में किस प्रकार एवं किस प्रयोजन से किया गया है तथा कार्षापण मुद्रा के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विवरण प्रस्तुत करते हैं ।

आदि शंकराचार्य ने अपने माण्डूक्य-उपनिषद् भाष्य में कार्षापण नामक मुद्रा का उल्लेख तत् समय प्रचलित एक अखिल भारतीय मुद्रा के रूप में किया है यथा -

[274]**'सोऽमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन**
व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति'

'ओंकार नाम से कहा जाने वाला पर और अपर रूप से व्यवस्थित वह यह आत्मा कार्षापण के समान चार पाद (अंश) वाला है, गौ के समान नहीं' ।

कार्षापण एक संक्षिप्त परिचय

[275]कार्षापण प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रचलित एक मुद्रा थी । कार्षापण दो प्रकार के होते थे- रजत कार्षापण तथा ताम्र कार्षापण । रजत कार्षापण चाँदी की चपटी चादर से काटकर बनाये जाते थे । रजत कार्षापण का वजन 16 माष तुल्य 32 रत्ती तुल्य 3.79 ग्राम होता था । ताम्रकार्षापण ताँबे की छड़ से टुकड़े काटकर बनाये जाते थे । ताम्रकार्षापण का वजन 40 माषातुल्य 80 रत्ती तुल्य 9.48 ग्राम होता था । इन कार्षापणों पर उत्तरदायी अधिकारियों के चिह्न छेनी (पंच) द्वारा लगा दिये जाते थे जिसके कारण ये आहत सिक्कों (पंच मार्क्ड क्वाइन) के नाम से प्रसिद्ध हैं । [276]राजा विम्बिसार के समय में 20 माषातुल्य 40 रत्ती वजन के भी रजत कार्षापण होते थे । बुद्धघोष कृत समंत-पासादिका टीका में लिखा है - 'तदा राजगहे वीसति मासको कहापणो होति तस्मा

पंच मासको पादो' । समंतपासादिका पर सारिपुत्र थेर की सारत्थदीपनी टीका से भी इसकी पुष्टि होती है यथा - 'इमिना व सब्ब जनपदेषु कहापणत्स बीसतिमो भागो मासको ति। इस प्रकार के कार्षापण को विंशतिक तथा इसके चतुर्थांश को पाद कहा जाता था। प्राचीन कार्षापण [277]विनय पिटक में 'विंशतिमासको कहापणो' अर्थात् बीस मासा के बराबर कार्षापण का उल्लेख मिलता है । वशिष्ठ तथा गौतम धर्मशास्त्रों में भी 'पंचमासा तु विंशत्या' व 'मासो विंशतिमो भागो ज्ञेयः कार्षापणस्य तु' आदि वाक्यों से यही आशय निकलता है कि बीस मासा तुल्य 100 रत्ती के बराबर के तौल के सिक्के तैयार किये जाते थे । बहुत प्राचीन काल में (ईसा-पूर्व 800) शतमान (100 रत्ती) तथा पाद (25 रत्ती) सिक्कों का प्रचलन था । इस माप तौल के सिक्के तक्षशिला के खण्डहरों से मिले हैं । नंद वंश के शासन काल (ई.पूर्व. 500) में प्राचीन तौल को हटाकर नयी तौल का समावेश किया गया । काशिका के वर्णन 'नन्दो क्रमाणि मानानि (2/4/21, 6/2/14 काशिका) से पता चलता है कि 100 रत्ती से 80 रत्ती, 20 मासा से 16 मासा अथवा 40 रत्ती से 32 रत्ती का तौल नन्दकाल में ठीक किया गया था ।

पाद कार्षापण

[278]चौथाई कार्षापण का नाम पाद था । यह 4 माष\तुल्य 8 रत्ती चाँदी का बना होता था ।

कार्षापणों की प्रारंभिक तिथि

[279]कनिघम आहत मुद्राओं (कार्षापणों) को लगभग ईसवी सन् पूर्व 1000 वर्ष प्राचीन मानते हैं । डॉ. अनंत सदाशिव अल्तेकर तथा डॉ. एस. के. चक्रवर्ती का मंतव्य है कि आहत मुद्राओं का उद्भव ईसवी सन् पूर्व 800 वर्ष हुआ था । [280]प्रोफेसर डॉ. वासुदेव उपाध्याय के अनुसार भारत में कम से कम ईसा-पूर्व 800 वर्ष में सिक्कों का प्रचलन था जिसके कारण भारत की चिह्नित मुद्रायें (कार्षापण) प्राचीनतम समझी जाती हैं।

पुरातात्त्विक आधार पर कालक्रम निर्धारण

[281]भारत में उत्खनन के आधार पर आहत मुद्राओं (कार्षापणों) की तिथि का निर्णय सम्भव हो पाया है । गंगा की घाटी के अनेक स्थलों के उत्खनन में काले रंग के एक विशेष प्रकार के पात्र मिले हैं जिन्हें काले लेप वाले पात्र (कृष्ण मार्जित मृदभाण्ड) कहते हैं । विद्वान् इस प्रकार के पात्रों की प्रारम्भिक तिथि ईसा-पूर्व 600 वर्ष तक मानते हैं।

उत्खनन में रूपेर, हस्तिनापुर, प्रह्लादपुर, उज्जैन, महेश्वर, कुम्रहार, राजगीर तथा वैशाली से जो पात्र मिले हैं, उनके साथ कार्षापण (आहत मुद्रायें) भी प्राप्त हुई हैं, वैज्ञानिक ढंग से इन पात्रों की तिथि 'कार्वन-14 तिथिकरण' के आधार पर ईसा-पूर्व 600वर्ष के आस-पास आँकी गई है। अतएव इन पात्रों में पाये गये कार्षापणों का तिथिक्रम कम से कम ईसवी सन् पूर्व 600 वर्ष निश्चित होता है।

प्राचीन साहित्य और कार्षापण

पाणिनि के अष्टाध्यायी में कार्षापण, पाद, माष, विंशतिक, शतमान आदि सिक्कों का उल्लेख है, यथा [282]विभाषा कार्षापण सहस्राभ्याम्, [283]पण पाद माषशताद्यत्, [284]शतमान् विंशतिक-सहस्र-वसनादण् । [285]महावंश में चोल देशोत्पन्न एलार नामक द्रविड़ राजा द्वारा जिसने लंका पर बुद्धाब्द 338-382 तक राज्य किया बुद्ध स्तूप के जीर्णोद्धार हेतु 15000 कार्षापण देने का उल्लेख है । पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में कार्षापण व पाद कार्षापण का उल्लेख किया है यथा - [286]पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणम्, [287]अस्मिन् कार्षापणशते समानजाता अधिक इष्यते, [288]अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषं देहि, [289]कर्मकराः कुर्वन्ति पादिक महर्लप्स्यामहे। [290]महावग्ग में कहा गया है कि 'सालवती की नगरबधू के रूप में प्रतिष्ठा आम्रपाली के अनुकरण पर हुई थी, उस समय तक आम्रपाली एक विख्यात रूपवती के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तथा उसका प्रति रात्रि मनोरंजन शुल्क 500 कार्षापण था । यह आम्रपाली गौतम बुद्ध की समकालीन थी तथा इसने गौतम बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण किया था । वात्स्यायन के कामसूत्र में भी कार्षापण का दृष्टान्त पाया जाता है यथा - [291]**वरं सांशयिकान्निष्काद-सांशयिकः कार्षापण इति लोकायतिकाः ।**

दक्षिण-भारतीय अभिलेखों में कार्षापण का उल्लेख

अंध्र-सातवाहन वंश के संस्थापक सिंहमुख (=सिमुक) सात वाहन से उनकी 5वीं पीढ़ी के वंशज राजा सातकर्णि की पत्नी रानी नयनिका के [292]नाणे घाट अभिलेख में विविध यज्ञों में कुल मिलाकर 45,400 कार्षापण दक्षिणा देने का उल्लेख है ।[293]इस राजा सातकर्णि का शासन काल नवीन अनुसंधान एवं अब तक अविज्ञात तथ्यों के आधार पर ई.पू. 481 से ई.पू. 425 निश्चित हुआ है । इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि इसके लिखे जाने के समय तक रानी के पति का स्वर्गवास हो चुका था । अतः

यह अभिलेख ई.पू. 425 से 420 के मध्य का है ।

[294क]शक क्षत्रप नहपान कालीन नासिक-लयण-अभिलेख में नहपान के जामाता द्वारा संघ के भिक्षुओं के लिये कुल 23000 कार्षापण निवेश तथा दान करने का उल्लेख है । इसमें एक पाद प्रतिशत तथा पौन (=3/4) पाद प्रतिशत ब्याज दर पर अक्षयनीवी के रूप में क्रमशः 2000 कार्षापण व 1000 कार्षापण निवेश करने का भी विवरण है, अभिलेख में 1000 कार्षापण के तुल्य 35 सुवर्ण कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन सुवर्ण और कार्षापण का पारस्परिक मान 1 और 28.57 का था । इस अभिलेख में वर्ष 41, 42 व 45 का उल्लेख है । इतिहासकार इन तिथियों को शक संवत् में मानते हैं, इस आधार पर अभिलेख में उल्लिखित वर्ष ईसवी सन् में 119, 120 व 123 प्राप्त होता है ।

[294ख]ईश्वर सेन आभीर के शासन के 9वें वर्ष अंकित नासिक लयण अभिलेख में एक महिला द्वारा 3500 से भी अधिक कार्षापण अक्षय नीवी के रूप में निवेश का उल्लेख है ।

[295]डॉ. भण्डारकर के अनुसार ईश्वर सेन शक संवत् 110-112 के बीच 2 वर्षों तक महाक्षत्रप रहा । यह उपाधि उसने शक महाक्षत्रप रुद्रदमन के पुत्र रुद्रसिंह प्रथम को पराजित करके प्राप्त किया था । ईश्वरदत्त ने 110 शक संवत् तदनुसार ईशवी सन् 188 में राज्य प्राप्त किया । इस आधार पर ईश्वर सेन के विवेच्य अभिलेख की तिथि शक संवत् 110+9=119 ठहरती है जो कि ईसवी सन् में 197 के तुल्य है ।

[296]ईश्वर सेन के महाक्षत्रप काल अर्थात् 2 वर्षों की अवधि के सिक्के भी प्राप्त हुये हैं । शक संवत् 113 तदनुसार ईशवी सन् 191 में रुद्र सिंह इसको परास्त कर पुनः महाक्षत्रप हो गया । और यह मात्र राजा रह गया ।

ईश्वर सेन के ईसवी सन् 197 के पश्चात् वर्ती किसी भी अभिलेख में कार्षापण मुद्रा का उल्लेख प्रसिद्ध मुद्राशास्त्रियों की दृष्टि में नहीं आया । इससे यह ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में भी कार्षापण का प्रचलन ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में बन्द हो गया ।

उत्तर-भारतीय अभिलेखों में उल्लिखित मुद्रायें

[297]सम्राट् अशोक (273 ई.पू. से 232 ई.पू.) के शाहबाज गढ़ी अभिलेख-आठ में हिरण्य; [298]पुविष्क अथवा हुविष्क के मथुरा अभिलेख वर्ष (1) 28 तुल्य ईसवी सन् ~~206 अथवा 268 (क्योंकि कुछ पूर्व तक इतिहासकार 78 ई. में आरम्भ होने वाले~~

206 अथवा 268 (क्योंकि कुछ पूर्व तक इतिहासकार 78 ई. में आरम्भ होने वाले शक सम्वत् को ही कनिष्क का कुषाण सम्वत् मान रहे थे परन्तु वर्तमान नवीन अवधारणा के अनुसार कनिष्क के कुषाण संवत् का आरम्भ 140 ईसवी सन् में हुआ था) के मथुरा अभिलेख में पुराण; [299]समुद्र-गुप्त के शासन वर्ष 9 तुल्य ईसवी सन् 343 के गया ताम्रलेख में हिरण्य ; [300]समुद्र-गुप्त की ही ऐरण प्रशस्ति में सुवर्ण; [301]चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य कालीन गुप्त संवत् वर्ष 93 तुल्य ईसवी सन् 412 के साँची अभिलेख में दीनार, [302]कुमार गुप्त (प्रथम) के गुप्त संवत् वर्ष 96 तुल्य ईसवी सन् 415 के विलसड़ स्तम्भ लेख में हिरण्य, [303]गढ़वा अभिलेख (प्रथम क) में दीनार, [304]गुप्त संवत् वर्ष (9) 9 तुल्य ईसवी सन् 418 के गढ़वा अभिलेख में दीनार व सुवर्ण, [305]गुप्त संवत् वर्ष 120 तुल्य ईसवी सन् 439 के कुलाई कुरै ताम्रलेख में दीनार, [306]गुप्त संवत् वर्ष 124 तुल्य ईसवी सन् 443 के दामोदर पुर ताम्रलेख में दीनार, [307]गुप्त संवत् वर्ष 128 तुल्य ईसवी सन् 447 के दामोदर पुर एवं [308]बैग्राम ताम्र लेखों में दीनार तथा [309]कुमारगुप्त (प्रथम) कालीन गुप्त संवत् वर्ष 131 तुल्य ईसवी सन् 450 के साँची प्रस्तर लेख में दीनार; [310]स्कन्द गुप्त विक्रमादित्य कालीन ([क]ईसवी सन् 455 से 467) भीतरी ग्राम पत्थर प्रशस्ति में हिरण्य; [311]पुरु गुप्त कालीन ([(क)]ईसवी सन् 474) के पटना स्तम्भ लेख में हिरण्य; [312]बुद्ध गुप्त कालीन गुप्त संवत् वर्ष 159 तुल्य ईसवी सन् 478 के पहाड़पुर ताम्रलेख में दीनार, [313]गुप्त सम्वत् वर्ष163 तुल्य ईसवी सन् 482 के दामोदर पुर (तृतीय) ताम्र लेख में हिरण्य व दीनार पर्यायवाची के रूप में तथा [314]दामोदरपुर (चतुर्थ) ताम्र लेख में दीनार; और [315] विष्णुगुप्त कालीन गुप्त संवत् वर्ष 224 ईसवी सन् 543 दामोदरपुर ताम्रलेख (पंचम) में दीनार नामक मुद्रा का उल्लेख है ।

उपर्युक्त अभिलेखों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में कार्षापणों का प्रचलन मौर्य काल के पश्चात् अर्थात् ईसवी सन् पूर्व दूसरी शताब्दी में बन्द हो चुका था।

कार्षापण का सम्पूर्ण भारत में प्रचलन काल

[316] प्रोफेसर डॉ. वासुदेव उपाध्याय के अनुसार ईसा-पूर्व छठी सदी से मौर्य युग तक कार्षापणों (आहत मुद्राओं) का सम्पूर्ण भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलन था । डॉ. उपाध्याय के मत की अभिलेखीय साक्ष्यों से भी पुष्टि होती है । क्योंकि मौर्य काल के पश्चात् कार्षापण

का प्रचलन सम्पूर्ण उत्तर एवं अधिकांशतः दक्षिण भारत के क्षेत्रों में बन्द हो चुका था। ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी तक कार्षापण का प्रचलन दक्षिण भारत के कुछ सीमित क्षेत्रों में ही रहा उसके बाद वहाँ भी इसका प्रचलन बन्द हो गया।

[317]डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त का भी मानना है कि आहत मुद्राओं अर्थात् कार्षापणों का बनना ईसवी पूर्व दूसरी शती में किसी समय बन्द हो गया। [318]पुरातत्वविद् डॉ. रामशरण शर्मा का निष्कर्ष है कि कार्षापण शब्द सामान्यतया आरम्भिक ऐतिहासिक स्रोतों में उल्लिखित है परन्तु इसका उल्लेख आरम्भिक मध्यकालीन भारत के आलेखों में नहीं पाया जाता।

[319]प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय के अनुसार ईसवी सन् की छठी सदी से बारहवीं सदी तक का काल पूर्वमध्यकाल अर्थात् आरम्भिक मध्यकाल कहा गया है।

विवेचन

आदिशङ्कराचार्य ने अपना भाष्य सम्पूर्ण भारतवर्ष के लोगों को ध्यान में रख कर उत्तर भारत में स्थित बद्रीकाश्रम क्षेत्र में बैठ कर लिखा था अतएव यह निश्चित है कि आत्मा के चार पादों की व्याख्या करने हेतु उन्होंने उस समय सर्वत्र भारत में प्रचलित कार्षापण नामक मुद्रा के पाद को चुना जिसके माध्यम से विवेच्य विषय सार्वजनीन सहज-बोधगम्य हो सकता था। यद्यपि मौर्यकाल तक कार्षापण का प्रचलन सर्वत्र बना रहा परन्तु [320]कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यों ने पण नामक ढलवें मिश्रधातु के सिक्के बनाना आरम्भ कर दिया था साथ ही कार्षापणों को भी उन्होंने कोश प्रवेश्य बना रखा था। अतः यदि आदिशङ्कराचार्य कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात्-वर्ती होते तो निश्चय ही वे कार्षापण की जगह पण मुद्रा एवं उसके चतुर्थांश को समझाने हेतु प्रयोग करते क्योंकि उस समय (ईसवी पूर्व चौथी सदी) तक यह स्पष्ट हो चुका था कि कार्षापण मुद्रा प्रचलन के बाहर होने जा रही थी। इससे यह निश्चित हो जाता है कि आदिशङ्कराचार्य ने ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी में माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य का प्रणयन किया था और उस समय कार्षापण सम्पूर्ण भारत वर्ष में चलने वाली एक मात्र मुद्रा थी।

सच्चिदानन्देद्र सरस्वती के प्रमाण की समीक्षा

महामण्डलेश्वर जी ने ऊपर कहा है कि सच्चिदानन्देद्र सरस्वती ने लिखा है -

'यथा हि कार्षापणं स्वर्णनाणकं महार्घमिति न सकलेनैव सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशत इति व्यवहार प्राचुर्याय तस्मिन् पाद विभागः क्रियते एवमिहापि प्रतिपत्तिसौकर्यायात्मा चतुष्पात् कल्प्यते'

अर्थात् - जैसे कि कार्षापण यानी अतिमूल्यवान् स्वर्णमुद्रा पूरी की पूरी सभी लोगों के द्वारा हमेशा लेन देन में प्रयुक्त नहीं की जाती तथा लेन-देन में अधिक प्रयोग के लिये उसके पाद विभाग कर लिये जाते हैं उसी प्रकार से यहाँ भी प्रतिपत्ति के सारल्य हेतु इस आत्मा के चार पाद की कल्पना की गई है ।

महामण्डलेश्वर जी ने 'नाणक' शब्द को कार्षापण सिद्ध करने हेतु [321]याज्ञवल्क्य स्मृति के श्लोक को उद्धृत किया है। यदि वे उक्त श्लोक पर श्री विज्ञानेश्वर प्रणीत ई.सन् की 12वीं सदी की मिताक्षरा टीका पढ़े होते तो शायद ऐसी अज्ञानता न करते। वहाँ लिखा है -

'नाणकं मुद्रादिचिह्नितं द्रम्मनिष्कादि'

अर्थात् - 'नाणक (राज) मुद्रादि चिह्नित द्रम्म, निष्क आदि मुद्राएं' [322]मृच्छकटिकम् में 'नाणक' का अर्थ डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र द्वारा 'बहुमूल्य रत्न आदि' किया गया है। [323]आप्टे के कोश में नाणक (न आणकम् इति) का अर्थ सिक्का (मुद्रा) व मोहर लगी हुई कोई वस्तु बताया गया है ।

सच्चिदानन्देद्र सरस्वती की पंक्तियों को पढ़ने से इस बात में किसी को भी कोई शङ्का नहीं रह जाती कि उन्होंने महामण्डलेश्वर जी द्वारा उद्धृत शाङ्कर भाष्य की टीका में ही इन पंक्तियों को लिखा है। कार्षापण को उन्होंने 'बहुमूल्य स्वर्ण मुद्रा' कह कर समझाने का प्रयत्न किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि सच्चिदानन्देद्र सरस्वती के काल में कार्षापण मुद्रा का प्रचलन नहीं था बल्कि स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन था जिसके आधार पर उन्होंने समझाने का प्रयत्न किया है अथवा अनुमान के आधार पर ऐसा लिखा हो अन्यथा रजत एवं ताम्र से निर्मित कार्षापण मुद्रा को वे अतिमूल्यवान् स्वर्ण मुद्रा क्यों कहते ? श्री सच्चिदानन्द का नाम इन्द्र सरस्वती उपाधि से युक्त होने के कारण यह कहा जा सकता है कि वे कामकोटिपीठ काञ्ची के आचार्य थे । वहाँ की सूची में 33वें क्रम पर आने वाले आचार्य का नाम सच्चिदानन्द (आचार्यत्व काल 672 ई. से 692 ई.)

प्राप्त होता है । अतएव यह उद्धरण पूर्वपक्षी के लिये स्वयं आत्मघाती सिद्ध होता है क्योंकि वे आचार्य ई. सन् की 7सदी में वर्तमान थे, उक्त टीका से स्पष्ट है कि टीकाकार के बहुत काल पूर्व कार्षापण मुद्रा प्रचलन के बाहर हो चुकी थी जिसके कारण उन्हें इस मुद्रा का सम्यक् ज्ञान न था ।

यहाँ हम संक्षेप में यह बता देते हैं कि निष्क नामक एक स्वर्ण मुद्रा प्राचीनकाल में प्रचलित थी जो कार्षापण नामक रजत अथवा ताम्र मुद्रा से भिन्न थी । यह तथ्य मनुस्मृति के दो श्लोकों से प्रकट होता है । यथा -

[324]**ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।**
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुः सौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥

अर्थात् 'उन सोलह रौप्यमाषकों' का एक 'रौप्य धरण' तोल का माप होता है और एक चाँदी की पुराण नामक मुद्रा होती है । ताँबे का कर्षभर अर्थात् 16 माषे वजन का पण कार्षापण मुद्रा समझनी चाहिए । दश रौप्य धरणों का एक चाँदी का शतमान जानें तथा प्रमाणानुसार 'चार सुवर्ण' का एक निष्क जानना चाहिए''। एक सुवर्ण 'कर्ष' भर का सिक्का होता था यह 'निष्क' का पाद कहलाता था । निष्क का मान 4 कर्ष होता था । निष्क अतिप्राचीन मुद्रा थी जिसका प्रचलन वैदिक काल से लेकर पाणिनि के काल तक था । द्रम्म एक पश्चात् कालीन मुद्रा थी जिसका उल्लेख राजपूत कालीन अभिलेखों में पाया जाता है इन सब मुद्राओं के सम्बन्ध में विस्तृत विचार मेरे प्रकाश्य ग्रन्थ में किया गया है ।

लीलावती एक गणित ग्रन्थ है वहाँ पर यह बताया गया है कि '5गुञ्जा का माषा होता है तथा सोलह माषे का कर्ष' वहाँ भारमान बताया गया है न कि कार्षापण मुद्रा का उल्लेख किया गया है । महामण्डलेश्वर ने अमरकोश का जो उद्धरण दिया है उससे स्वतः स्पष्ट है कि उनके समय में प्रचलित मुद्रा का नाम 'पण' था न कि कार्षापण । दक्षिण में पण यदि धन के अर्थ में तथा गुजरात में 'नाणक' धन के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो उसके इस अर्थ का 'कार्षापण मुद्रा' से क्या सम्बन्ध है? आपने लिखा है कि आजकल भी पुस्तकों पर 'सपादरूप्यकं' लिखा जाता है परन्तु यह तो नहीं बताया कि आप जैसे संस्कृतज्ञ 'सपाद कार्षापणं' क्यों नहीं लिखते ? आजकल कागज से निर्मित

रुपया नामक मुद्रा प्रचलन में है तो रुपया लिखा जाता है जब कार्षापण मुद्रा प्रचलित थी तब कार्षापण लिखा जाता था ।

इतने बड़े प्रमाण को जो जुगुनू पर सवार होकर चन्द्रमा पकड़ने के समान कहता है वह निश्चय ही मुद्राशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका से या तो अनभिज्ञ है या महाधृष्ट, कुत्सित विचारों वाला पोपलीलाकार तथा महामिथ्यावादी है जो अब भी अपने निहित स्वार्थ के लिये इतिहास को नष्ट-भ्रष्ट कर लोगों को मूर्ख बनाने का प्रयास कर रहा है और कह रहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में अब भी कार्षापण मुद्रा चल रही है । अरे महामिथ्यावादी, अंग्रेजों के पूर्व से ही भारत में रूपये, पैसे का प्रचलन है । पूर्वकाल में रूपया चाँदी का होता था वर्तमान काल में कागज का। कुछ अल्पमूल्य के रूपये के सिक्के यथा 1 रूपया, 2रूपये, 5रूपये आदि वर्तमान काल में प्रचलित हैं । मुद्रा राजाधिकार से चलती है। अरे महामिथ्यावादी ! निपुण वितण्डावादी! सत्य प्रतिकूल जानबूझ कर मिथ्या निष्कर्ष निकालकर धूर्तता का परिचय देते हुए तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है ? जो कार्षापण मुद्रा लगभग 1800 वर्ष पूर्व ही प्रचलन से बाहर हो गई है उसके सम्बन्ध में सत्य के प्रतिकूल प्रलाप कर भावी पीढ़ी को दिग्भ्रमित करने का प्रयास कर रहे हो जो महापाप एवं घोर अपराध है यह इतिहास को नष्ट करने की एक सोची समझी चाल है, जिसके लिये ईश्वर तथा भावी पीढ़ी तुम्हें कभी माफ नहीं करेगी । आखिर तुम्हारे ये काले अक्षर तुम्हारे बाद भी वर्तमान रहेंगे ही और विज्ञ पाठकों के समक्ष तुम्हारी अज्ञता, कुटिलता, दम्भ कालिमा उजागर करते रहेंगे। सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती कौन थे? कब हुये थे ? उनके किस ग्रन्थ को आपने उद्धृत किया है? यह सब न बताकर वाक् छल कर रहे हो कि उक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि दक्षिण में अब भी 'कार्षापण' मुद्रा चलती है, जबकि उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि उक्त ग्रन्थकार के समय में स्वर्णमुद्रा चलती थी । आजकल की बात होती तो वे कार्षापण को स्वर्णमुद्रा का उदाहरण देकर न समझाते अपितु कागज के रूपये का उदाहरण देकर समझाते । डॉ. वासुदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय मुद्राएँ' में लिखा है - [325]'कोयम्बटूर नामक नगर में रोम के सिक्कों के साथ कार्षापण मिले हैं जिनसे प्रकट होता है कि 200 ई. में दक्षिण भारत में इनका प्रचार समाप्त हो गया था।'

विज्ञजनों के समक्ष अब श्रीमान् का वास्तविक चरित्र प्रकट हो गया है कि वह महामिथ्यावादी, महाधृष्ट व महादुराग्रही है ।

पूर्वपक्ष-३३

भागते भूत की लंगोटी ही सही इस सिद्धान्त से महाप्राज्ञ आक्षेपकर्ता अन्त में सुघ्नशब्द और कार्षापण शब्द पर उतर आया। **"योऽपि सुघ्नात् मथुरां गत्वा"** इत्यादि भाष्यपक्ति में स्रुघ्नशब्द का प्रयोग किया है । स्रुघ्न हरियाणा प्रान्त में आजकल सुघ नाम से प्रसिद्ध है, इस बात को आक्षेपकारी ने स्वयं स्वीकार किया। यद्यपि इस में मतान्तर है किन्तु उस विवाद पर हम नहीं उतरते । कुषाण काल तक स्रुघ्न ह्रासोन्मुख होकर ईसवी सन् तीसरी शताब्दी में नष्ट हो गया था इत्यादि उन का कहना है श्रीमान जी ! लघुसिद्धान्तकौमुदी से लेकर महाभाष्य पर्यन्त सर्वत्र स्रुघ्न शब्द मिलेगा । इस का मतलब आपके मत में ये सभी ग्रन्थ ईस्वी पूर्वकालवर्ती है । स्रुघ्न का अपभ्रंश सुघ हुआ । किन्तु संस्कृत लिखते समय स्रुघ्न ही लिखा जायेगा ।

राजा आदि के अभाव में स्रुघ्न की नगरी नष्टप्राय हुई होगी । किन्तु वहाँ के लोग भी सब मर गये इसमें कोई प्रमाण नहीं मिल सकता ।

उत्तरपक्ष-३३

आदि शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में तत्कालीन दो प्रमुख नगरों स्रुघ्न एवं पाटलिपुत्र का उल्लेख निम्न प्रकारेण किया है ।

[326]**नहि देवदत्तः स्रुघ्ने संनिधीय मानस्तदहरेव पाटलिपुत्रेऽपि संनिधीयते युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्व प्रसङ्गः स्यात् देवदत्त यज्ञदत्तयोरिव स्रुघ्न पाटलिपुत्र निवासिनोः ।**

अर्थात् - स्रुघ्न में वर्तमान देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्र में वर्तमान नहीं रहता है और एक काल में अनेक तन्तु में पट के रहने पर अनेक पट की प्रसक्ति है, जैसे कि स्रुघ्न और पाटलिपुत्र के निवासी देवदत्त व यज्ञदत्त में अनेकता रहती है ।

और भी [327]**योऽपि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम् । तस्मात् 'प्राणस्तेजसी'ति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजः सहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ।**

अर्थात् - जो भी स्रुघ्न से मथुरा जाकर मथुरा से पाटलिपुत्र जाता है वह भी स्रुघ्न

से पाटलिपुत्र जाता है ऐसा कहा जा सकता है । इसलिये 'प्राणस्तेजसि' इससे प्राण सम्बद्ध जीव का भी तेज सहचरित भूतों में यह अवस्थान है ।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्वतः द्योतित होता है कि स्रुघ्न और पाटलिपुत्र आदि शंकराचार्य के समय में दो प्रसिद्ध नगर थे तथा स्रुघ्न से मथुरा होते हुए पाटलिपुत्र जाने वाला मार्ग उनके समय में एक प्रमुख राजपथ था ।

पूर्वोल्लिखित पाटलिपुत्र एवं स्रुघ्न नगरों का समृद्धि काल आदि शंकराचार्य के आविर्भाव काल से सम्यक् सम्बद्ध है । सौभाग्य से उक्त नगरद्वय के समृद्धि तथा पतन कालों के निर्धारण हेतु हमारे पास ठोस साहित्यिक, ऐतिहासिक, यात्रावृत्तान्तिक और उत्खननों पर आधारित पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध हैं ।

प्रथमतः हम पाटलिपुत्र से सम्बन्धित उपर्युक्त उपलब्ध साक्ष्यों के आलोक में इस नगर के अस्तित्वकाल पर विचार करते हैं ।

पाटलिपुत्र

बौद्धग्रन्थ [328]दीपवंश, [329]महावंश एवम् [330]डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार द्वारा लिखित नेपाल से सम्बन्धित विवरण से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र का प्राचीन नाम पुष्पपुर था। [331]गार्गी संहिता के युगपुराण अध्याय में पुष्पपुर का एक अन्य नाम कुसुमपुर भी प्राप्त होता है । यथा - "ततः साकेतमाक्रम्य पंचाला मथुरास्तथ। यवनाश्च सुविक्रान्ता प्राप्स्यति कुसुमध्वजम् " । [332]पाटलिपुत्र के इस नाम का उल्लेख पुरातत्वविद् डॉ. रामशरण शर्मा ने भी किया है। इसकी पुष्टि भारत वर्ष के प्रतिवेशी देश नेपाल की राजधानी काठमाण्डू से पूर्व-दिशा में पाँच किलोमीटर दूर देवपाटण में अवस्थित द्विस्तरीय स्वर्णिम छत एवं रजत कपाटों से युक्त भगवान् पशुपतिनाथ के भव्य मन्दिर के पश्चिमी द्वार पर प्राप्त [333]राजा जयदेव के (विक्रम) संवत् 153 कार्तिक शुक्ल नवमी के दिन लिखित अभिलेख से भी होती है । जिसमें कहा गया है कि नेपाल में सूर्यवंशी लिच्छवि राजवंश का संस्थापक सुपुष्प भारत वर्ष के पुष्पपुर नगर से आया था ।

[334]नेपाल के इतिहास से ज्ञात होता है कि सोमवंश का चतुर्थ राजा पशुप्रेक्षदेव (चालू) कलिसंवत् 1234 तुल्य ईसवी सन् पूर्व 1868 में नेपाल पर राज्य कर रहा था एवम् उसने भारत वर्ष से प्रवासियों को लाकर नेपाल में बसाया । पशुप्रेक्षदेव के बाद उसके पुत्र भास्कर वर्मा ने राज्य किया तत्पश्चात् निःसंतान होने के कारण उसने राजसत्ता

सूर्यवंशी लिच्छवि कुलोत्पन्न राजा को सौंप दिया । इस लिच्छवि कुल का प्रथम सार्वभौम राजा भूमिवर्मा था जिसका अभिषेक गत कलि संवत् 1389 तुल्य ईसवी सन् पूर्व 1712 में हुआ था । राजा जयदेव के अभिलेख में सुपुष्प को नेपाली लिच्छवि राजवंश का संस्थापक माना गया है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुपुष्प पुष्पपुर से राजा पशुप्रेक्षदेव के शासन काल में ईसवी पूर्व 19वीं सदी में नेपाल आया और लगभग 156 वर्ष तक वह और उसके वंशज सोमवंशी राजाओं के अधीनस्थ राजा के रूप में राज्य करते रहे, कालान्तर में ईसवी सन् पूर्व 1712 में उसका वंशज भूमिवर्मा नेपाल का सार्वभौम राजा बन गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पाटलिपुत्र नगर का अस्तित्व अति प्राचीन है परन्तु प्राचीन काल में यह नगर पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर के नाम से जाना जाता था।

[335]कथा सरित्सागर से ज्ञात होता है कि इस नगर का पुनरुद्धार पुत्रक नामक एक ब्राह्मण राजा ने कर अपने एवं अपनी पत्नी पाटलि जो कि एक राजकन्या थी के नाम पर इस नगर का नाम पाटलिपुत्र-क रखा । [336]पाटलिपुत्र में ही पाणिनि ने अपने गुरु वर्ष से शिक्षा ग्रहण की थी जिससे पाणिनि पूर्व पाटलिपुत्र के नाम से इस नगर की प्रसिद्धि असंदिग्ध है ।

[337]महापरिनिब्वाण सुत्त से ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध को पाटलिपुत्र में एक नवनिर्मित अतिथिशाला में ठहराया गया था । वहाँ पर उन्हें पता चला कि मगध के महामात्य सुनीथ और वर्षकार वैशाली वालों (वज्जियों) को रोकने के लिये इस नगर का सुनियोजित विस्तारीकरण एवम् किलेबन्दी कर रहे थे । इस नगर को देखकर गौतम बुद्ध इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यह कह डाला कि भविष्य में यह नगर महा शक्तिशाली राजाओं की राजधानी बनेगा तथा व्यापार मार्गों पर अवस्थित जितने भी नगर हैं उनमें पाटलिपुत्र अग्रणी रहेगा। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध के पाटलिपुत्र गमन के समय अजातशत्रु की राजधानी का राजगृह से पाटलिपुत्र प्रस्थापन आसन्न था एवं यह नगर उस समय प्रमुख व्यापारिक नगर था ।

[338]पाटलिपुत्र का किसी न किसी रूप में पतंजलि ने अपने महाभाष्य में बीस से भी अधिक पंक्तियों में उल्लेख किया है । उनके अनुसार पाटलिपुत्र मथुरा से पूर्व दिशा में वहाँ से पर्याप्त दूर था। महाभाष्यकार ने स्रुघ्न, साकेत तथा पाटलिपुत्र जाने वाले मार्गों का उल्लेख किया है ।

एक चीनी यात्री फाहियान ने अपने भारत भ्रमण काल (400 ई. से 411 ई.)

के यात्रा वृत्तान्त में लिखा है [339]'पुष्पपुर अशोक की राजधानी थी । नगर में अशोक राजा का प्रासाद और सभा भवन है । सब असुरों के बनाये हैं । अब तक वैसे ही हैं । मध्यदेश में इस जनपद का यह नगर सब से बड़ा है । अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्द्धालु हैं ।' इससे यह प्रकट होता है कि ईसवी सन् की 5वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश में पाटलिपुत्र एक समृद्ध नगर था । [340]फाहियान ने पाटलिपुत्र के लिये पाटलिपुत्र एवं पुष्पपुर दोनों ही नामों का प्रयोग किया है ।

एक अन्य चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत भ्रमण काल (630 ई. से 644 ई.) के यात्रा विवरण में लिखा है कि [341]कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र नगर उसकी यात्रा के बहुत पहले ही उजड़ चुका था, केवल दीवारें टिकी हुई थी । विनष्ट संघारामों और देवमंदिरों की संख्या सैकड़ों में थी परन्तु दो या तीन ही अक्षुण्ण थे । [342]अशोक के नगर के खण्डहर बारह से चौदह मील की परिधि में फैले हुए थे । पुरातत्वविद् डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार इस [343]प्राचीन नगर के पतन का बोध महावीर घाट, कुम्रहार एवं एक अन्य स्थान के उत्खनन से प्राप्त विवरणों से होता है । कुम्रहार में मौर्य और मौर्योत्तर संस्कृतियों का अच्छा प्रतिनिधित्व है लेकिन 300 ईसवी से 600 ईसवी के बीच के काल में आबादी के पतन के लक्षण दिखाई देते हैं । 300 ई. से 450 ई. के काल में मुख्यतः ईंटों के रोड़ों के बने जीर्णशीर्ण ढांचे मिलते हैं यद्यपि इसमें 6 रद्दों का एक चूल्हा भी है । 450 ई. से 600 ई. के बीच वाली परत में खुरदुरी बनावट के मिट्टी के लाल बरतन और गुप्त लिपि में अभिलिखित कुछ ठीकरे पाये गये हैं, लेकिन गुप्तकाल की अन्य वस्तुओं का अभाव है । इसके विपरीत कुम्रहार कुषाणकालीन ईंटों के ढांचों और मृण्यमय वस्तुओं से समृद्ध है । यद्यपि बौद्ध ढांचों के लिये 750 वर्ष का लम्बाकाल (150 ई. पू. से 600 ई.) रखा गया है और उस क्षेत्र में मौर्यकाल से प्रायः 600 ईसवी तक आबादी भी पायी गई है, पर अधिकांश ढांचे गुप्त पूर्वकाल और गुप्तकाल के आरम्भ के हैं । कुम्रहार से मिले सिक्कों में आहत मुद्राएं तथा कुषाणों और गुप्तों के सिक्के हैं। कुल मिलाकर इनकी संख्या दो सौ से अधिक है । लेकिन गुप्तोत्तर काल में सिक्कों और मोहरों दोनों का अभाव है । ईसा पूर्व तीसरी सदी से गुप्तकाल तक की मोहरें और सिक्के पाये जाते हैं । निःसन्देह मुगलों के सिक्के मिलते हैं पर उसके पूर्व के सिक्के नहीं मिलते। [344]कमोबेश इसी प्रकार की उत्खनन सामग्री एवं विवरण महावीर घाट के उत्खनन से भी प्राप्त होता है । महावीरघाट के उत्खनन से ईसवी पूर्व

600 से ईसवी सन् 500 तक आबादी के लक्षण पाये जाते हैं ।

[345]अलबरूनी ने अपने ग्रन्थ भारत (रचना काल लगभग 1030 ई.) में पाटलिपुत्र का उल्लेख किया है । उसके उल्लेख तथा मुगल काल के सिक्कों की उपलब्धि से यह ज्ञात होता है कि ईसवी सन् की 11वीं सदी के आरम्भ से पाटलिपुत्र का बसना पुनः प्रारम्भ हो गया था । [346]उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों एवं भू सतहों का गहराई से विश्लेषण करने के पश्चात् पुरातत्वविद् डा. रामशरण शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसवी सन् की छठी शताब्दी के बाद पाटलिपुत्र नगर नहीं रहा । आठवीं शताब्दी अथवा इसके बाद की दो शताब्दियों में पाटलिपुत्र आदि किसी नगर ने सिक्का जारी नहीं किया और न कोई अन्य संकेत है जिससे आरम्भिक मध्यकाल में इसके अस्तित्त्व का पता चलता हो ।

ऐसी स्थिति में ईसवी सन् की 8वीं सदी में जबकि पाटलिपुत्र का अस्तित्त्व ही नहीं था तब उसका प्रमुख नगर के रूप में उल्लेख करने वाले आदिशंङ्कराचार्य का आविर्भाव काल 788 ई. कदापि नहीं माना जा सकता ।

स्रुघ्न

अब हम स्रुघ्न के समृद्धि एवं पतन काल से सम्बन्धित उपलब्ध साक्ष्यों का अवलोकन करते हैं । [347]पतञ्जलि ने बार-बार अपने महाभाष्य में स्रुघ्न का उल्लेख किया है । स्रौघ्न प्रासादों और प्राकारों की भी भाष्य में चर्चा है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय स्रुघ्न बड़ी सम्पन्न नगरी थी । आज सुघ, मण्डलपुर, दयालगढ़ और बुरिया नामक गाँव प्राचीन स्रुघ्न की ही भूमि पर बसे हैं । यह वर्तमान काल में भारतवर्ष के हरियाणा प्रान्त के यमुनानगर जनपद में जगाधरी के निकट पड़ता है । [348]इन स्थानों में दिल्ली के तोमर राजाओं से लेकर बुद्धकाल ईसवी पूर्व 500 वर्ष तक के सिक्के मिले हैं ।

[349]चीनी यात्री ह्वेनसांग लिखता है कि स्रुघ्न नामक क्षेत्र की राजधानी यमुना नदी के पश्चिमी किनारे पर लगभग 20 ली. की परिधि में स्थिति थी और उसका विनाश हो चुका था ।

[350]पुरातत्त्वविद् डा. रामशरण शर्मा के अनुसार स्रुघ्न की आबादी उत्तरी काली पालिशदार मृद्भाण्ड के आगमन से प्रारम्भ हुई । (ईसवी सन् की बीसवीं शताब्दी के)

सातवें दशक के प्रारम्भ में इस स्थल पर किये गये उत्खनन से ज्ञात होता है कि मृण्मय मूर्तियों को छोड़कर शुङ्ग-कुषाण चरण में किसी क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई तथा लगभग 300 ई. में इस नगर का पतन हो चुका था ।

स्रुघ्न की खुदाई में कुछ तोमर कालीन सिक्कों की प्राप्ति से यह प्रमाणित होता है कि ईसवी सन् की 10वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस नगर के ध्वंसावशेषों पर सुघ, दयालपुर, मण्डलगढ़ और बुरिया नामक गाँव बसे । [351]क्योंकि तोमर वंश का राजा सुलक्षणपालदेव (=सुलक्षण वर्मन) इस वंश का सर्व प्रथम सिक्का प्रचलित करने वाला नरेश था । उसका राजत्वकाल 978 ई. से 1000 ई. था । तोमर वंश के तीन अन्य नरेशों - कुमारपाल देव (1019 ई. से 1049 ई.), अनङ्गपाल (1049 ई. से 1079 ई.) एवं महीपाल (1103 ई. से 1128 ई.) ने भी सिक्के प्रचलित किये थे। इससे यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी सन् की चौथी सदी से ईसवी सन् की 10वीं सदी के प्रारम्भ तक स्रुघ्न का अस्तित्त्व नहीं था । [352]डॉ. रामशरण शर्मा का भी अन्तिम निष्कर्ष है कि कुछ भी हो, आरम्भिक ऐतिहासिक काल के बाद ईसा की तीसरी सदी में स्रुघ्न उजड़ गया ।

ऐसी स्थिति में स्रुघ्न का पाटलिपुत्र जैसे एक समृद्ध राजधानीय नगर के समतुल्य एक जीवंत नगर के रूप में उल्लेख करने वाले आदि शङ्कराचार्य ईसवी सन् की तीसरी सदी के पश्चात् के नहीं हो सकते क्योंकि ईसवी सन् की चौथी सदी से लेकर ईसवी सन् की नौंवी सदी तक स्रुघ्न का अस्तित्व ही न था । दूसरी ओर पाणिनि एवं गौतम बुद्ध के काल में पाटलिपुत्र की समृद्धि की इस नगर के उत्खनन से प्राप्त आहत मुद्राओं (=कार्षापण) द्वारा पुष्टि तथा पतञ्जलि और गौतम बुद्ध के काल में स्रुघ्न नगर की समृद्धि का यहाँ के उत्खनन से प्राप्तबुद्धकालीन मुद्राओं (=आहत मुद्राओं) द्वारा संपुष्टि यह निःसन्देह सिद्ध कर देता है कि आदिशङ्कराचार्य का काल परम्परागत मान्य काल ईसवी सन् पूर्व 507 से ईसवी सन् पूर्व 475 ही ध्रुव सत्य है।

पूर्वपक्ष-३४

आक्षेपकर्ता का कहना है कि पङ्क्तिसाम्य से कालनिर्णय करना अवैज्ञानिक है अविश्वसनीय है । माना कि यत्किंचित्पङ्क्तिसाम्य से पौर्वापर्यनिर्णय नहीं होता ।

किन्तु पङ्क्ति की पङ्क्ति, श्लोक का श्लोक पूरा उद्धृत करने की दृष्टि से उद्धृत करने पर भी उससे काल निर्णय नहीं होता यह भी आक्षेप्ता की पूर्वग्रहप्रयुक्त दुर्दृष्टि मात्र है। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो "**तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणदृते**" (वाक्यपदीय) की जगह "**तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते**" (तन्त्रवार्तिक) कहना चाहिये बोलने वाले प्रथमदर्शित अर्धश्लोक का खण्डन उत्तर अर्धश्लोक से नहीं कर रहा है कहें। यह मैंने एक उदाहरण मात्र लिखा। वहाँ बड़े विस्तार के साथ व्याकरण प्रयोजन पर शास्त्रार्थ है। क्या यह सब महर्षि पाणिनि के भी आदरणीय व्याडि का खण्डन किया जा रहा? व्याडि को संग्रहसूत्रकार के रूप में प्रसिद्ध बताया है और क्वचित् कोशकार के रूप में भी। शब्द ब्रह्मवाद के प्रवर्त्तक के रूप में नहीं।

रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः।।

इसे ई. चतुर्थ शती के चन्द्रगुप्त ने लिखा है ऐसा आक्षेपकर्ता का कहना है। उसे यथार्थ भी माना जाये तो भी ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं इस प्रकार उपनिषत् से ही कथित होने से उसका अनुवादक व्याडि हो सकता है, पर उस सिद्धान्त को मानने वाला व्याडि है इतना ही अर्थ शब्दब्रह्मैक यवाक् से अर्थ निकल सकता है। अन्यथा शब्द ब्रह्मैकसाधकः, शब्द ब्रह्मैकबोधकः इत्यादि शब्द लिखते। संतों को ब्रह्मवित् कहते हैं ब्रह्मकृत् नहीं। भले उन्होंने असत् का खण्डन कर ब्रह्म को सिद्ध किया। क्योंकि उपनिषदों में ही "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि बहुधा वर्णित है।

जैसा भी हो लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ में पन्द्रह-बीस सूत्र मिले तो इतने से वाक्य पदीयादि व्यडि वचन है यह सिद्ध नहीं हो सकता। और स्वयं भर्तृहरि ने संग्रहेऽस्तमुपगते लिखा। ऐसी स्थिति में वाक्यपदीय प्रमाणवार्त्तिकादि ढाई तीन हजार वर्ष पहले का बताना योजनाबद्ध परवञ्चना की कुत्सित प्रक्रियामात्र है।

उत्तरपक्ष-३४

महामण्डलेश्वर जी ! सत्य सिर पर चढ़कर बोलता है। संग्रह ग्रन्थ ब्रह्मवादादि रूप था एवं उसके सभी न्यायबीजों का संग्रह कर महाभाष्य में निबद्ध किया गया था।

कालान्तर में दक्षिण से संग्रह के अंशों को लाकर चन्द्राचार्य ने उसका विस्तार किया, फिर वसुरात ने उसमें स्वानुभव जोड़ा तथा बाद में भर्तृहरि ने पुराण, न्याय, मीमांसा आदि बहुत से दर्शनों एवं स्वानुभव का योग कर वाक्य पदीय लिखा ऐसा आप स्वयं लिखते हैं । आपकी पुस्तक का उक्त अंश निम्न है - "श्री भर्तृहरि ने वाक्य पदीय में स्पष्ट लिखा है -

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।
संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबंधने ॥
अलभ्यगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात् ।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयम् ॥
बैजिवैभहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः ।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके ॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः ।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रव्यवस्थितः ॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥

यहाँ वैयाकरणान् इस विशेषण से व्याकरणाध्ययनादि उनका चालू सिद्ध होता है। 'व्याकरणमधीयते विदुर्वा न त्वागमं' ऐसा अर्थ निकलता है । अतएव आगम पद से शब्दब्रह्मवादादिरूप आगम ही ग्राह्य है। संग्रह आगमप्रधान था उसकी अध्ययनाध्यापनपरम्परा लुप्त हो गयी । यही संग्रहेऽस्तमुपागते से मतलब है । पहले समय में अध्ययनादिपरम्परा से ही ग्रन्थ सुरक्षित रहता था । उसके अभाव में संग्रह ग्रन्थ समाप्त ही हो गया । बाद में महर्षि पतञ्जलि ने सभी न्याय बीजों को (आगमों को) महाभाष्य में निबद्ध किया । किन्तु अल्प बुद्धि वालों को उससे कुछ निर्णय लेना मुश्किल पड़ गया । ऊपर से वैजी वैभव एवं हर्यक्षादि तार्किकों ने उन आगमों का खण्डन किया तो सबने आगम का अध्ययनादि छोड़ दिया महाभाष्य में से ही हटा लिया । परन्तु दाक्षिणात्यों ने ग्रन्थ को नष्ट नहीं किया। केवल पठन-पाठन छोड़ा । इसके बाद पर्वत से उस आगम को चन्द्राचार्यादि ने प्राप्त किया । यहाँ व्याख्या में हेलराजादि लिखते हैं - लंका में जो त्रिकूट पर्वत है वही पर्वत

शब्द का अर्थ है । वहाँ रावण ने सभी न्याय बीजों को व्याख्या के साथ पत्थरों पर लिखवा रखा था । किसी ब्रह्मराक्षस ने उसे चन्द्राचार्य वसुरातादि को वहाँ से लाकर दिया और उन्होंने उसका बहुविस्तार किया ।

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥

रावण लिखित आगम में बहुतर न्यायप्रतिष्ठामार्ग दिखाये थे । उन का पूरा अभ्यास गुरुजी ने किया । और स्वं दर्शनं - तपस्वी होने से जो स्वानुभव हुआ उसे भी लेकर यह आगम संग्रह बनाया।

प्रज्ञविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥

पुराण-न्याय-मीमांसादि अन्य आगम दर्शनों से प्रज्ञावैशद्य प्राप्त होता है । केवल अपने ही तर्क से कहाँ तक मनुष्य पहुँच सकता है । अन्य दर्शनों का भी मैंने अभ्यास किया । तृतीयकाण्ड में सविस्तार सभी लिखा जायेगा ।

इस प्रकरण से यह अतिस्पष्ट होता है कि रावणकारित शिलालेख से प्राप्त न्यायबीजों का चन्द्राचार्यादि ने वृक्ष के समान विस्तार किया । फिर भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने उसमें स्वानुभव जोड़कर और विस्तार किया और हमें बताया । फिर हमने भी पुराणन्यायमीमांसादि अन्य दर्शनों से बहुत कुछ प्राप्त कर स्वानुभव को भी जोड़कर यह वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ प्रादुर्भूत किया'' ।

आपके स्वयं के विवरण एवं वाक्यपदीयकार के स्पष्ट कथन से स्पष्ट है कि वाक्यपदीय में व्याडि के संग्रह ग्रन्थ, चन्द्राचार्य एवं वसुरात के द्वारा विस्तारित अंश, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि के अंश सन्निहित हैं । इससे स्पष्ट है कि कुमारिल भट्ट के द्वारा जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं वे स्वयं वाक्यपदीयकार के द्वारा उद्घाटित प्राचीन ग्रन्थों की पंक्तियाँ हैं जिन्हें वाक्यपदीयकार ने भी अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है । [353]संस्कृत वाङ्मय कोश के रचयिता डॉ. श्रीधर वर्णेकर ने लिखा है कि व्याडि का यह अप्राप्य ग्रन्थ यत्र तत्र उद्धृत है तथा इस ग्रन्थ के 21 सूत्र निश्चित रूप में ज्ञात हुए हैं, अनन्तर कालीन वैयाकरणों ने इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । [354]प्राचीन चरित्र कोश के लेखक महामहोपाध्याय सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव ने अपने उक्त ग्रन्थ में लिखा है कि 'शब्दों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त होने पर शब्द ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इस सिद्धान्त

के प्रवर्तक वाक्यपदीयकार भर्तृहरि नहीं बल्कि व्याडि नामक प्राचीन वैय्याकरण थे ।' आपकी आत्मा ने सत्य का उद्‌घाटन स्वयं आप ही से करवाकर इस तथ्य को तोड़ मरोड़ कर वितण्डा करने का प्रयास विफल कर मेरा कार्य आसान कर दिया ।

पंक्ति की पंक्ति साम्य होने पर भी केवल पंक्तियों के आधार पर काल निर्णय नहीं किया जा सकता ।[355]जिनसेन स्वामी का 364 मन्दाक्रान्ता वृत्तों वाला पार्श्वाभ्युदय काव्य है । इसके श्लोकों में मेघदूत के श्लोकों की कहीं एक और कहीं दो पाद पाये जाते हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण मेघदूत इस पार्श्वाभ्युदय काव्य में अन्तर्विलीन है । योगिराट् पण्डिताचार्य नामक किसी विद्वान् ने विक्रम की 15वीं सदी के लगभग इसकी संस्कृत टीका की है। टीका के उपोद्‌घात में उन्होंने लिखा है कि एक बार कालिदास ने राजा अमोघ वर्ष के दरबार में आकर बड़े गर्व से अपना मेघदूत सुनाया । इस पर विनयसेन की प्रेरणा से जिनसेन ने कहा कि यह कालिदास की अपनी रचना नहीं है । चोरी की हुई एक प्राचीन रचना है । राजा ने 8वें दिन प्राचीन रचना प्रस्तुत करने को कहा जिनसेन ने 7 दिन में पार्श्वाभ्युदय की रचना कर आठवें दिन राज दरबार में प्रस्तुत कर दिया जिससे कालिदास का अहंकार नष्ट हो गया ।

अब बताइये महामण्डलेश्वर जी ! यहाँ तो पूरी पुस्तक की पुस्तक साम्य है और टीकाकार द्वारा कालिदास, जिनसेन एवं राजा अमोघ वर्ष को पार्श्वाभ्युदय के रचना काल में वर्तमान बताया गया है । ऐसी स्थिति में बिना अन्य किसी प्रमाण के आप कैसे काल निर्धारण कर देंगे? जिनसेन अद्भुत विद्वान् थे उन्होंने पार्श्वाभ्युदय के अतिरिक्त वर्धमान पुराण, जय धवला टीका (के अवशिष्ट 40 हजार श्लोक), आदिपुराण आदि ग्रन्थ लिखे । दूसरी ओर कालिदास भी विख्यात महाकवि थे । ऐसी स्थिति में किसने किसकी नकल की यह भी कहना कठिन होगा । अब हम अन्य प्रमाणों को देखते हैं । (जैन) हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन (द्वितीय) ने अपने पुराण में लिखा है - [356]'जिनसेन स्वामी ने श्री पार्श्वनाथ भगवान् के गुणों की जो अपरिमित स्तुति बनायी है अर्थात् पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की है वह उनकी कीर्ति का अच्छी तरह कीर्तन कर रही है । और उनके वर्द्धमान पुराण रूपी उदीयमान सूर्य की उक्तिरूपी किरणें विद्वत्पुरुषों के अन्तःकरण रूपी स्फटिक भूमि में प्रकाशमान हो रही हैं।' हरिवंश पुराण के अन्त में जो प्रशस्ति दी गई है उससे इस पुराण की रचना का पूर्णत्वकाल शक संवत् 705 तुल्य ई. सन् 783 निश्चित है। इससे यह निश्चित हुआ कि पार्श्वभ्युदय का रचनाकाल 783 ई. के पहले का

है । अभिलेखों एवं राजा अमोघवर्ष के शासन काल (814 ई. से 884 ई.) के प्रमाणावलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ के टीकाकार की बातें विश्वसनीय नहीं है क्योंकि उस समय अमोघवर्ष राजा था ही नहीं तब कालिदास और जिनसेन की मुलाकात का उसके दरबार में होना असंगत है । दूसरी ओर जिनसेन (प्रथम) ने अकलङ्क का आदिपुराण में उल्लेख किया है, इनका विक्रम संवत् 700 तुल्य ई. सन् 643 में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ होना निश्चित है ।इससे जिनसेन (प्रथम) के 783 ई. में होने की बात पुष्ट हो जाती है । कालिदास को विक्रमादित्य का समकालीन माना जाता है । अन्य स्रोतों से भी कालिदास के काल का निर्धारण करने पर वे किसी भी स्थिति में ई. सन् की 5वीं सदी के पूर्व के सिद्ध होते हैं । इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिनसेन (प्रथम) कालिदास के परवर्ती हैं अन्यथा केवल पंक्ति साम्य के आधार पर नहीं ।

इस बात को शाङ्कर सम्प्रदाय के चार श्रेष्ठ आचार्यों, शङ्कराचार्यों का निन्दक, महामिथ्यावादी कोई कुतर्की कैसे मान सकता है?

डॉ0 राधाकृष्णन् ने लिखा है - [357]'अद्वैत वेदान्त पर क्रमबद्ध भाष्य लिखने वाले में गौड़पाद सबसे प्रथम है ।..... और कहा जाता है कि या तो आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में या सातवीं शताब्दी के अन्त के लगभग (वह) हुआ ।' आगे पाद टिप्पणी में वे लिखते है, 'इसे बहुत अधिक प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वालसर का कहना है कि भवविवेक कृत तर्कज्वाला के तिब्बती भाषा के रूपान्तर में माण्डूक्य कारिका का उद्धरण आता है। परवर्ती ग्रन्थकार अवश्य ह्युआन-चांग से पहले हुआ इसलिए गौड़पाद का समय लगभग 550 ई., या ऐसा ही होना चाहिए' । यहाँ पर निष्कर्ष निकालने में डॉ0 राधाकृष्णन् ने एक भूल की है । तर्कज्वाला का तिब्बती अनुवाद ई. सन् की छठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ था जिसमें गौड़पाद की माडूक्यकारिका को उद्धृत किया गया है, इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गौड़पाद को 550ई. से पश्चात्वर्ती नहीं माना जा सकता इसके पूर्व वे चाहे जब हुए हो । [358]देवराज ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास' में 'माण्डूक्योपनिषद्' के कारिकाकार गौड़पाद को सांख्यकारिका के भाष्यकार से भिन्न मानते हुए सांख्यकारिका के भाष्यकार गौड़पाद को आचार्य शङ्कर के दादागुरु कारिकाकार गौड़पाद का परवर्ती माना है । [359]श्रीउदयवीर शास्त्री ने भी अपने ग्रन्थ 'सांख्य दर्शन का इतिहास' में 'गौड़पाद भाष्य' के रचयिता आचार्य गौड़पाद को

शङ्कराचार्य के दादागुरु गौड़पाद से भिन्न और परवर्ती माना है । विद्वानों के एक अन्य वर्ग का मत है कि चूँकि भाष्यकार गौड़पाद और कारिकाकार गौड़पाद दोनों ही उक्त चीनी एवं तिब्बती अनुवाद ग्रन्थों एवं तिब्बती अनुवाद में उद्धृत माण्डूक्यकारिका के श्लोकों के आधार पर ई. सन् के वर्ष 550के पश्चात्कालीन सिद्ध नहीं होते अतएव ईसा की अष्टम - नवम सदी के सन्धिकाल में वर्तमान रहने वाले आचार्य शङ्कर के दादागुरु गौड़पाद उपर्युक्त दोनों ही गौड़पाद नामधारियों से भिन्न व्यक्ति थे ।

यह है पंक्तिसाम्य के आधार पर कालनिर्धारण करने का एक अनर्थकारी हास्यास्पद उदाहरण जिसने तीन गौड़पादों की सृष्टि कर डाली ।

मैंने अपनी पूर्व पुस्तक में कम से कम 13 ऐसे श्लोकों को उद्धृत किया था जो कि तीन या तीन से अधिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं तथा कम से कम 8 ऐसे श्लोकों को उद्धृत किया था जो दो या दो से अधिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं । इन पंक्तियों के आधार पर मैंने उन ग्रन्थों एवं ग्रन्थकर्त्ताओं के कालों को निर्धारित करने की महामण्डलेश्वर को चुनौती दी थी परन्तु उन्होंने चुनौती स्वीकार न कर एक तरीके से यह मान ही लिया है कि मात्र पंक्ति साम्य के आधार पर बिना किसी अन्य प्रमाणों का सहारा लिये किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार का काल निर्धारण करना असंभव है ।

पूर्वपक्ष-३५

और एक बात, आक्षेपकारी महोदय ने आचार्य कालीन समन्तभद्र एवं उनके शिष्य अकलंक का स्पर्श न करना ही श्रेय समझा । वहाँ भी लिख सकते थे समन्तभद्रसागरमहासूरि का मतनिराकरण आचार्य ने किया जो महावीर से पहले हुआ । उन्हीं का शिष्य एक अकलङ्कलङ्केश्वर भी हुआ इत्यादि । किन्तु जैनों ने अपने प्रमाणिक ग्रन्थों की परिगणना एवं कर्तृनामनिर्देश कर रखा है । अतः वहाँ फूंक मारना खतरे से खाली नहीं है और दाल गलने वाली भी नहीं है ।

उत्तरपक्ष-३५

महामण्डलेश्वर जी आपको अपनी अल्पज्ञता प्रदर्शित करने में क्या लज्जाबोध नहीं होता । [360]प्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ. पन्नालाल जैन ने समन्तभद्र का काल विक्रम की दूसरी

अथवा तीसरी शताब्दी बताया है तथा अकलङ्क का ईसवी सन् की सातवीं सदी । ऐसे में समन्तभद्र के शिष्य अकलङ्क कैसे हो गये महामण्डलेश्वर जी ? क्या समंतभद्र 4-5सौ वर्ष जीवित थे? आप जैसे पंक्तियों के आधार पर काल निर्धारण के दुराग्रही व्यक्ति स्पष्ट काल निर्देश के बाद भी नहीं मान सकते ? [361]जैन कवि विमलसूरि ने अपने ग्रन्थ 'पउमचरिय' के अन्त में इसका रचना काल वीर निर्वाण वर्ष 530 (तुल्य विक्रम संवत् 60 अथवा ई.पू. 3) लिखा है परन्तु डॉ. हर्मन, जैकोबी, डॉ. कीथ, डॉ. बुह्लर आदि इसकी भाषा शैली तथा पंक्तियों (शब्दों के प्रयोग) पर दृष्टि डालते हुए इसे ईसवी सन् की तीसरी चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं ।

[362]अकलङ्क का समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी माना जाता है क्योंकि विक्रम संवत् 700 में उनका बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था जो कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है -

''विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥''

नन्दिसूत्र की चूर्णि में प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् श्री जिनदासगणी महत्तर ने 'सिद्धि विनिश्चय' नामक अकलंक के ग्रन्थ का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है । इस चूर्णि का रचना काल शक संवत् 598 अर्थात् विक्रम संवत् 733 है, जैसा कि उसकी निम्न पंक्ति से प्रकट है -

'शकराजः पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यमनचूर्णिः समाप्ता ।'

इस प्रकार अकलंक का काल विक्रम संवत् 733 तुल्य ई. सन् 676 के पूर्व सिद्ध होता है । [363]अकलङ्क के शिष्य विद्यानन्द थे । विद्यानन्द ने अपनी 'अष्टसाहस्री टीका' में सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक के कई श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें से एक निम्न है -

आत्मापि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम् ।
ब्रह्मापि संस्तथैवात्मा स द्वितीयतयेक्ष्यते ॥

(संबंध वार्तिक।909)

यह तो उपर्युक्त प्रमाणों से निश्चित ही है कि ईसवी सन् 643 में बौद्धों से वाद करने वाले जैनाचार्य अकलङ्क के शिष्य विद्यानन्द की उक्त पुस्तक का रचना काल ईसवी सन् की सातवीं सदी का उत्तरार्ध था । अब बताइये श्रीमान् जी ! जब ईसवी सन् की नवम

सदी में आपके अनुसार सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक की रचना की थी तब ई.की 7वीं सदी में उनके श्लोक के श्लोक विद्यानन्द ने कैसे उद्धृत किया? पंक्तियों के प्रमाण से तो सुरेश्वराचार्य कम से कम ईसवी सन् की 7वीं सदी के पूर्व के सिद्ध हो गये को भी आपके जैन प्रमाण से ! परन्तु मेरा अब भी यही मानना है कि मात्र पंक्ति साम्य के आधार पर काल निर्धारण करना एक अवैज्ञानिक प्रणाली है ।

आपने कहा कि महावीर स्वामी के किसी पूर्ववर्ती का नाम मैं बता दूँ । महोदय पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि विष्णुपुराण के अनुसार महाभारत काल से बहुत समय पूर्व ही माया मोह नामक व्यक्ति द्वारा जैनश्वेताम्बर, दिगम्बर, बौद्ध आदि सिद्धान्तों का उपदेश किया गया था । ब्रह्मसूत्र में भी स्वयं व्यास जी ने जैनमत का खण्डन किया है, इससे स्पष्ट है कि जैनमत द्वापर युग में भी वर्तमान् था । [364]श्रीमद्भागवत महापुराण में ऋषभ देव का दिगम्बर होना, कलियुग में राजा अर्हत द्वारा ऋषभदेव के आश्रमातीत आचरण का जैन धर्म के रूप में उपदेश करना, उनके नौ पुत्रों का दिगम्बर श्रमण हो जाना लिखा है ।[365]आधुनिक इतिहास विद् जैनियों के 23वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ को जो कि महावीर के 250 वर्ष पूर्व हुये थे, इतिहास पुरुष मानते हैं । डॉ. विद्याधर महाजन आदि इतिहासकारों ने उनका वर्णन करते हुए लिखा है कि उनके बहुत से अनुयायी थे ।

मुझको मिथ्यालेखन करने की सलाह देने वाले क्या आपको सत्यलेखन करने की सलाह नहीं दी जा सकती? एक परमहंस परिव्राजक होकर मिथ्यालेखन करने की सलाह देकर क्या आप नैतिक मूल्यों के हनन एवम् निर्लज्जता की पराकाष्ठा नहीं कर रहे हैं?

[366]जिनविजय में कुमारिल भट्ट की जन्मतिथि इस प्रकार से दी गई है -

ऋषिवारस्तदापूर्णं मर्त्याक्षौवाममेलनात् ।
एकीकृत्य लभेतांकः क्रोधीस्यात्तत्रवत्सरः ॥
भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डविवादिनः ।
गेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरशके ॥

जिसके अनुसार - ऋषि=7, वार= 7, पूर्ण= 0, मर्त्याक्षय = 2 अर्थात् 7702की संख्या प्राप्त होती है जो कि 'अङ्कानाम् वामतो गतिः' के अनुसार (जैन) युधिष्ठिर शक सम्वत् 2077 कुमारिल भट्ट का जन्म वर्ष सिद्ध होता है । जैनियों के द्वारा युधिष्ठर शक सम्वत् का परिगणन गत कलि सम्वत् 468 से किया जाता है । इस आधार पर कुमारिल भट्ट का जन्म गत कलि सम्वत् 468+2077=2545 प्राप्त होता

है ।

बृहद्शंकरविजय में चित्सुखाचार्य ने कहा है कि कुमारिल भट्ट आचार्य शङ्कर से उम्र में 48 वर्ष बड़े थे इस आधार आचार्य शङ्कर का जन्म गत कलि सम्वत् 2545+48=2593 होना निश्चित होता है । जिनविजय में आचार्य शङ्कर के मृत्युकाल से सम्बन्धित श्लोक निम्न प्रकारेण दिया गया है -

ऋषिर्बाणस्तथा भूमि मृत्याक्षौवाममेलनात् ।

एकत्वेन लभेताङ्कस्ताम्राक्षास्तत्रवत्सरः ॥

जिसके अनुसार - ऋषि=7, बाण=5, भूमि=1, मर्त्याक्षो=2 अर्थात् 7512 की संख्या प्राप्त होती है जो कि 'अङ्कानाम् वामतो गतिः' के आधार पर (जैन) युधिष्ठिर शक सम्वत् 2157 तुल्य गत कलि सम्वत् 2625 (=2157+468) का वर्ष सिद्ध होता है ।

इस प्रकार जैन प्रमाणों के आधार पर गतकलि सम्वत् 2593 ई. पू. 507 में आचार्य शङ्कर का जन्म तथा कैलाशगमन काल गत कलि सम्वत् 2625 तुल्य ई. पू. 475 में होना निश्चित होता है ।

उपर्युक्त विवरणों में 3100 ई. पूर्व सन् से परिगणित गत कलि सम्वत् का उल्लेख है जिसके कारण ईसापूर्व 3100 में से उपर्युक्त गत कलि सम्वत् की संख्याओं को घटाकर उन्हें ईसवी सन् पूर्व की संख्या में परिवर्तित किया गया है । इस गत कलि सम्वत् का प्रयोग विजय नगर के राजा श्रीरङ्ग के ताम्रपत्र अभिलेख में किया गया है जहाँ शालिवाहन शक सम्वत् 1658 के तुल्य कलि सम्वत् 4836 का उल्लेख सम् प्राप्त है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अभिलेखों में भी शालिवाहन शक सम्वत् 1579 तुल्य गत कलि सम्वत् 4758, शा. शक सम्वत् 1591 तुल्य गत कलि सम्वत् 4769 तथा शा. शक सम्वत् 1611 तुल्य गतकलि सम्वत् 4789 का उल्लेख किया गया है जिसके प्रमाण से इस गतकलि सम्वत् का परिगणन ईसापूर्व 3100 से सिद्ध होता है । इन अभिलेखों से सम्बन्धित विवरण 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कॉपर प्लेट इन्सक्रिप्सन्स' में पृष्ठ 187, 229 व 239 पर उपलब्ध है ।

पूर्वपक्ष-३६

इस बीच में आक्षेप्ता आक्षेप से उतर कर मुझे एक तत्त्वज्ञान देने का वायदा

कर बोले "स्फोटवाद के प्रवर्तक स्फोटायन है" । अवश्य ही आप स्फोटायन के सहपाठी रहे होंगे । यदि आप उन का कोई ग्रन्थ या ग्रन्थगत पङ्क्ति लिख भेजते तो मैं अवश्य उपकृत होता । "अवङ्स्फोटायनस्य" यह सूत्र लघुकौमूदी की पंचसंधि पढ़ने वाला बालक भी जानता है । उनके पूर्वज का नाम स्फोटन आपने लिखा । उन्हीं को स्फोटकर्ता क्यों नहीं माना? स्फोर्ट नयतीति स्फोटनः । स्फोटायन, स्फोट मार्ग को अपनाने वाला इतना ही अर्थ बताता है ।

उत्तरपक्ष-३६

अ. श्रीमहामण्डलेश्वर जी आपकी उपर्युक्त पंक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्नायुदौर्बल्य के कारण तथाकथित चालीस से अधिक ग्रन्थों के प्रणेता की ग्रन्थ धारण क्षमता समाप्त हो गयी है । आपने अपने 14 पृष्ठीय लेख में लिखा था -

"स्फोटवाद का खण्डन या मण्डन जो भी करना हो उसके लिये भर्तृहरि का ही उदाहरण प्रायः सभी आचार्य देते हैं; चाहे वे वैदिक हों चाहे बौद्ध । स्फोटवाद का खण्डन आचार्य ने शारीरक भाष्य में किया है । यद्यपि वहाँ भर्तृहरि का नाम नहीं लिया गया है फिर भी भर्तृहरि प्रतिपादित सिद्धान्त पर सम्यक् विचार किया गया है ।"

[367]ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में स्फोटवाद से सम्बन्धित वैयाकरणों के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उसके खण्डन में आचार्य शङ्कर ने उत्तरपक्ष में भगवान् उपवर्ष का मत रखा है । इससे स्पष्ट होता है कि स्फोटवाद से सम्बन्धित उन वैयाकरणों के मतों की आचार्य ने समीक्षा की है जिनका खण्डन पूर्वकाल में भगवान् उपवर्ष ने भी किया था । क्या अब हमें यह भी पूर्वपक्षी को बताना पड़ेगा कि भगवान् उपवर्ष अष्टाध्यायी के प्रणेता पाणिनि के गुरु वर्ष के भ्राता थे ?

अब पूर्वपक्षी के समक्ष मात्र एक ही विकल्प शेष रह जाता है कि वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को भगवान् उपवर्ष का पूर्ववर्ती बनाने हेतु वे उन्हें कम से कम ईसवी पूर्व 7वीं सदी में ले जाय अन्यथा अनर्गल प्रलाप करते रहें । भाष्य देखा नहीं, पढ़ा नहीं और कह दिया कि आचार्य शङ्कर ने स्फोटवाद से सम्बन्धित वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के ही सिद्धान्त पर विचार किया है ।

स्फोटवाद के प्रवर्तक स्फोटायन थे ऐसा डॉ. वाचस्पति गैरोला ने अपने ग्रन्थ

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ 538 व 539 पर लिखा है । उक्त ग्रन्थ को महामण्डलेश्वर जी पढ़कर उपकृत हो जाइयेगा । हाँ एक बात और, मैं तो स्फोटायन का सहपाठी नहीं था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आप अवश्य ही आचार्य शङ्कर के भाष्यलेखन के साक्षी रहे हैं तभी तो आप लोगों को तत्वज्ञान दे रहे हैं कि भाष्यकार ने वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के ही सिद्धान्तों की समीक्षा अपने भाष्य में की है ।

पूर्वपक्ष-३७

आक्षेपकर्त्ता ने इस बीच में योगदर्शनकार पतञ्जलि ऋषि और महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि की एकता सिद्ध करना भी अपनी महाप्रज्ञता ख्यापित करने के लिये आवश्यक समझा और भर्तृहरि के वाक्यपदीय का एक श्लोक उसमें प्रमाण बताया । श्लोक है -

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

किन्तु "चौबा गया छब्बा होने और दूबा होकर लौटा" । ऐसा कोई श्लोक वाक्यपदीय में नहीं है ।

उत्तरपक्ष-३७

यह श्लोक वाक्यपदीय में है । इस श्लोक से युक्त वाक्यपदीय की प्रति डॉ. श्रीधर वर्णेकर डी. लिट्, अवकाश प्राप्त संस्कृत विभागाध्यक्ष, नागपुर विश्वविद्यालय के पास है । उनका स्थायी पता है - 81, अभयंकरनगर नागपुर - 440010 । डॉ. वर्णेकर के यहाँ जाकर महामण्डलेश्वर जी स्वचक्षु से उक्त श्लोक का वाक्यपदीय में दर्शन कर आइये और साथ ही अपनी भी प्रति ले जाइये उसमें यथोचित स्थान पर उपर्युक्त पंक्तियों को लिख लीजियेगा । डॉ. वर्णेकर ने भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित संस्कृत वाङ्मय कोश के प्रथम खण्ड के पृष्ठ 360 पर उपर्युक्त श्लोक को उद्धृत करते हुये लिखा है कि यह वाक्यपदीय में है ।

शङ्कराचार्य ने अपने श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य में मुण्डकोपनिषद् का एक वचन उद्धृत करते हुए इस प्रकार लिखा है -

[368]**ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन् प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् ।**
स षोडशास्त्रोपुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात् ॥''

इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि ।

गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त शाङ्करभाष्य की पाद टिप्पणी में लिखा गया है कि 'यह श्रुति मुण्डकोपनिषद् में नहीं मिलती, अन्यत्र भी उसका पता नहीं चलता। ~~श्रुति का पाठ शुद्ध भी नहीं मिलता, अन्यत्र भी उसका पता नहीं चलता~~ । श्रुति का पाठ शुद्ध भी नहीं जान पड़ता' क्यों महामण्डलेश्वर जी ! कहिये क्या अब आप आचार्य शङ्कर को भी "चौबा गया छब्बा होने और दूबा होके लौटा" कहने की महाधृष्टता नहीं करेंगे?

इसका समाधान यह है कि भाष्यकार शङ्कराचार्य के समक्ष माण्डूक्य उपनिषद् की जो प्रति थी उसमें उपर्युक्त वचन था जो कि वर्तमान काल में उपलब्ध संस्करणों में नहीं पाया जाता । ऐसा ही वाक्यपदीय के उपर्युक्त श्लोक के सम्बन्ध में समझना चाहिए । व्यर्थ बकवास कर अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ।

पूर्वपक्ष-३८

आक्षेपकर्ता ने एक विलक्षण श्रुतिवाक्य का उद्धरण दिया है ।

''देवानां परोक्ष प्रियः''

इस अलीक उद्धरण से ही मालूम पड़ गया कि श्रीमान् कितने संस्कृतज्ञ हैं । शतपथ में पाठ है -

''अथ यो गर्भोऽन्तरासीत् सोऽग्रिरसृज्यत । स यदस्य सर्वस्याऽग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निमाचक्षते परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवाः'' बृहदारण्यक में है **''तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः''** ऐतरेय में- **''इदन्द्रम सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेय परोक्षप्रिया इव हि देवाः''** ऐसे वचन अन्य उपनिषदों मे भी हैं । **'देवानां परोक्ष प्रियः'** यहाँ किस का किससे अन्वय है यह न श्रीमान् को पता है और न दुनिया को । ऐसा विद्वान् आक्षेपक है । इसी देवानां परोक्षप्रिय उद्धरण से मालूम पड़ा कि आक्षेपक जी के सहायक दस-पन्द्रह जितने थे सब के सब संस्कृत के बारे में "काला अक्षर भैंस बराबर" के रहे ।

अन्यथा किसी की तो नजर पड़ती ।

उत्तरपक्ष-३८

3[69]अनन्त श्री विभूषित धर्म सम्राट् ब्रह्मलीन स्वामी हरिहरानन्द 'करपात्री' जी ने आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्य का खण्डन करते हुए 'वेदार्थपारिजात' नामक एक ग्रन्थ लिखा । स्वामी जी के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् पं. विशुद्धानन्द मिश्र एवं उनकी पत्नी ने 'वेदार्थ कल्पद्रुम' नामक पुस्तक में सर्वप्रथम मुद्रण प्रमाद पर आक्षेप करते हुए स्वामी करपात्री जी महाराज को गालियाँ तक दी । मुद्रण प्रमाद वश 'श्रीगणेशाय नमः' तथा 'श्री सरस्वत्यै नमः'' के स्थान पर 'श्रीगणेशायः नमः' एवम् 'श्री सरस्वत्यैः नमः' मुद्रित हो गया था ।

यहाँ पर भी महामण्डलेश्वर जी ने पं. विशुद्धानन्द मिश्र की परम्परा का ही निर्वाह किया है। वास्तविकता तो यह है कि शतपथ ब्राह्मण 6/1/1/11 में 'परोक्ष कामा हि देवाः' तथा ऐतरेयोपनिषद् 1/14 में 'परोक्ष प्रिया इव हि देवाः' के पाठ भेदों को ध्यान में रखते हुए मैंने इन श्रुति वाक्यों का तात्पर्य अपने शब्दों में 'देवानां परोक्षं प्रियं' लिखा, जिसका अर्थ है देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, अथवा देवताओं को परोक्ष प्रिय है । मुद्रण प्रमादवश कम्प्यूटर पर अक्षर संयोजक ने 'परोक्षं' तथा 'प्रियं' शब्दों में ऊपर लगाये गये 'बिन्दु' चिह्नों को 'प्रिय' के सम्मुख लगा दिया । इतना ही नहीं स्रोत संदर्भ में भी '6/1/1/11' के स्थान पर '6।1।11' संयोजित कर दिया । मेरे पास तो एक बार लिखने के पश्चात् दुबारा निरीक्षण करने का भी समय उपलब्ध नहीं था तो प्रुफ देखने का प्रश्न ही नहीं उठता । प्रुफ पाठकों ने उक्त अशुद्धियों पर ध्यान नहीं दिया । ऐसी ही कुछ अन्य छोटी-मोटी मुद्रण अशुद्धियाँ उस पुस्तक में रह गई थी क्योंकि पुस्तक का लेखन व प्रकाशन अति शीघ्रता में किया गया था ।

पूर्व पक्षी के 14 पृष्ठीय लेख में ऐसी अशुद्धियों की भरमार है । वाक्यरचनात्मक अशुद्धियाँ भी वहाँ पर पर्याप्त है जिसे पूर्वपक्षी ने स्वयं अपनी आलोच्य पुस्तक में पृष्ठ 5 पर स्वीकार किया है। पूर्वपक्षी की वर्तमान पुस्तक में भी 'आधिदैतिक' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृ. 3), 'काल नर्देश' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृ. 32), 'सविस्तर निराकरण' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृ.89) आदि अनेक अशुद्धियाँ हैं

अब जरा महामण्डलेश्वर जी की वाक्य रचना पर दृष्टि डालें उन्होंने लिखा है - 'अनपढ़ तोटक को आचार्य ने अपनी कृपा शक्ति से वेदान्त के मूर्द्धन्य विद्वान् बनाया था' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक पृष्ठ 23), 'श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती ने ज्योतिष्पीठ के मूल स्थान के पास एक मठ बनाकर वहाँ के वे स्वयंभू शंकराचार्य बने' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृष्ठ 28), 'हमारे काशी के एक सहपाठी दशनाम ब्रह्मचारी को सन्यास दिलाकर श्री करपात्री जी ने सुमेरुपीठ काशी के शंकराचार्य बनाया' (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृष्ठ 26)। ये सभी वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं । इतना ही नहीं 'चन्द्रबिन्दु' के स्थान पर 'विन्दु' प्रयोग का अक्षम्य दोष है । परन्तु मैंने तो केवल तात्पर्य ग्रहण कर निराकरण अपनी पूर्व पुस्तक में किया था । पूर्वपक्षी के 14 पृष्ठीय लेख के एक अंश को यथावत् इस पुस्तक में पूर्व में प्रस्तुत किया गया है जो कि अनेक अशुद्धियों से युक्त है । 'दस' के स्थान पर 'दन्त' 'गर्दभी' के स्थान पर 'गन्दर्भ', शुङ्गवंशी के स्थान पर 'शृंगवंशी', 'कल्हण' के स्थान पर 'कलहण' का वहाँ पर निदर्शन किया जा सकता है।

[370] स्वामी करपात्री जी के ऊपर किये गये आक्षेप का उत्तर देते हुए जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी ने अपने ग्रन्थ 'वेदार्थपारिजातवार्तिक' में सर्व प्रथम इसे मुद्रण की भूल बताया। तत्पश्चात् अपशब्दों के प्रतिकार में लिखा-

अथवा न विसर्गास्ते किन्तु शून्यद्वयं कृतम् ।
ज्ञात्वैव मन्दबुद्धीनां पदभेदप्रदर्शकम् ॥

अर्थात् - 'अथवा (श्रीगणेशाय तथा सरस्वत्यै के आगे) विसर्ग नहीं हैं, किन्तु मन्द बुद्धि वालों को ज्ञान कराने के लिये भेद के प्रदर्शक दो शून्य हैं । यही उत्तर महामण्डलेश्वर जी के भी सम्बन्ध में संगत है ।

अन्त में महामण्डलेश्वर जी की शब्दावली में उत्तर है - ऐसा विद्वान् जिसे हिन्दी के शब्दों एवं वाक्य रचना का भी ज्ञान नहीं है अशुद्ध भागवत पाठ का अवलम्बन लेता है तथा जिसके दस पन्द्रह जितने सहायक थे 'सब के सब संस्कृत तथा हिन्दी के बारे में काला अक्षर भैंस बराबर' रहे वह मुझे असंस्कृतज्ञ कहने निकल पड़ा है । ऐसा कर वह अपने देवानां प्रियत्वम् का ही परिचय दे रहा है ।

पूर्वपक्ष-३९

आक्षेप्ता को आसमान में उड़ती हुई एक शृंगेरी परम्परा मिली । उससे ज्ञात

हुआ कि विक्रमादित्य के चौदहवें शासन वर्ष में शंकराचार्य का जन्म हुआ । चण्ड प्रद्योत का शासन ५२१ ई. पू. कहीं चल रहा था । चण्ड का विक्रम और प्रद्योत का आदित्य अर्थ होने से वही विक्रमादित्य है । परन्तु लगता है कि आक्षेपक को अमरकोशादि कुछ कोश रटने पड़ेंगे । चण्ड का विक्रम अर्थ नहीं होता है । "**चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः**" ऐसा अमरकोश है । नानार्थ में भी "**चण्डस्तु यमदासेऽतिकोपने तीव्रे दैत्यविशेषे च**" ऐसा हेमचन्द्र ने बताया । किसी भी जगह चण्ड का विक्रम अर्थ बताया नहीं है । चण्डविक्रमः ऐसा सहप्रयोग भी मिलता है । प्रद्योत् का भी रश्मि अर्थ क्वचित् कहा है । चण्डप्रद्योत का यथाकथंचित् तीव्ररश्मि अर्थ करके सूर्य (आदित्य) अर्थ तक पहुँचाया जा सकता है । विक्रमादित्य अर्थ तो नहीं ही होगा । सूर्य के लिये प्रद्योतन ऐसा नकार घटित शब्द है । अतः चण्डप्रद्योत का विक्रमादित्य अर्थ करना लोगों को गुमराह करने के सिवाय और कुछ नहीं है ।

उत्तरपक्ष-३९

महामण्डलेश्वर जी मुझको श्रृङ्गेरी मठ की परम्परा आसमान से उड़ते हुए नहीं बल्कि श्रृङ्गेरीमठ से ही मिली । श्रृङ्गेरी मठ के तत्कालीन जगद्गुरु शंकराचार्य के निजी सचिव ने श्री रामकृष्ण मठ के स्वामी तपस्यानन्द को एक पत्र लिखा था जिसका सुसंगत अंश मेरी पूर्व पुस्तक में प्रस्तुत किया गया था सम्भवतः वृद्धावस्था के कारण आपकी स्मृति समुचित कार्य नहीं कर रही है अतएव एक बार पुनः यहाँ पर उक्त पत्रांश का हिन्दी भाषान्तर प्रस्तुत कर रहा हूँ -

"शृंगगिरि मठ के अभिलेखों के अनुसार शङ्कर का जन्म विक्रमादित्य के शासन के 14वें वर्ष में हुआ था । कहीं श्री शृंगगिरिमठ के अधिकृत व्यक्तियों ने स्वयं इसे ईसवी सन् पूर्व अथवा ईसवी सन् पश्चात् की अवधि नहीं दी है" ।

महोदय ! उक्त पत्रांश को स्वामी तपस्यानन्द जी ने अपने शङ्कर दिग्विजय के आङ्ल भाषानुवाद की भूमिका में पृष्ठ 18 पर पादटिप्पणी के रूप में उद्धृत किया है । [371]मैसूर महाराज के पण्डित धर्माधिकारी श्रीवेङ्कट सुब्रह्मण्यम् शास्त्री के पुत्र श्री वेङ्कटाचल शर्मा द्वारा 1914 ईसवी सन् में लिखित 'श्री शंकराचार्य चरित्रम्' ग्रन्थ में

लिखा गया है कि - शृंगेरी गुरुपरम्परा ग्रन्थ में लिखा गया है कि विक्रम के शासन के 15वें वर्ष में श्रीमद् आचार्य का अवतार हुआ । यहाँ यह स्पष्ट कर देना वांछनीय है कि यहाँ पर चालू विक्रम संवत् कार्तिकादि के 15 वर्ष का तथा श्रीशंकराचार्य जी के सचिव के उल्लेख में चालू विक्रम संवत् 14 चैत्रादि वर्ष का उल्लेख है वस्तुतः दोनों वर्ष एक हैं । काल विशेषज्ञ यह जानते हैं कि संवत् की जो गणना संवत् के आरम्भ के दिन से ही 1 से की जाती है वह चालू अथवा वर्तमान् संवत् तथा जो गणना संवत् के आरम्भ के दिन से एक वर्ष पश्चात् 1 लिखकर की जाती है वह (गत) संवत् कहलाता है । इन सब का विस्तृत विवेचन मेरे प्रकाश्य ग्रन्थ में किया गया है ।

परिशिष्ट (ख) के रूप में मेरी पूर्व पुस्तक में 1914 ई. सन् की शृंगेरी मठ की एक सूची प्रकाशित की गई है उससे भी आचार्य का जन्मकाल विक्रम संवत् 14 अथवा विक्रम संवत् 15 ज्ञात होता है ।

[372]जहाँ तक चण्ड के अर्थ का सम्बन्ध है 'समान्तर कोश' में चण्ड का अर्थ विक्रम दिया गया है । महोदय केवल अमरकोश के रटने से काम नहीं चलेगा 'प्रणाडी' का अर्थ 'परम्परा' न बताकर केवल पनाली बताकर अमरकोश ने आपको शाङ्कर भाष्यज्ञानानभिज्ञ बनाकर उपहास का पात्र बना ही दिया है, फिर भी आप उसी कोश की रट लगाये हुए हैं? महोदय ! अन्य कोशों को भी पढ़िये ।

यह विक्रमादित्य 521 ई. पू. में राज्याभिषिक्त हुआ था तथा इसने अपने राज्याभिषेक वर्ष से संवत् का प्रवर्तन किया था, यह सम्राट् अशोक के शिलालेखों आदि के प्रमाण से मेरी पूर्व पुस्तक में निश्चित तौर पर बताया जा चुका है । इस सम्बन्ध में भी विस्तृत विमर्श मेरे प्रकाश्य ग्रन्थ में किया गया है । अतएव चण्ड प्रद्योत का अर्थ विक्रमादित्य न मानना मात्र एक दुराग्रह है ।

पूर्वपक्ष-४०

येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छंकराह्वयात् ।
निःशेषसूरिमूर्धालिमालालीढाङ्घ्रिपङ्कजात् ।।
इस शिवसोम लेखित शिलालेख से आचार्य का काल आठवीं-नवमीं ईस्वी

सिद्ध होता है, इस पर आक्षेप्ता कहते हैं कि शिवसोम ई. ८८९ में राज्याभिषिक्त कम्बोज राजा जयवर्मन के राजगुरु थे। ई. ८६२-८८५ में गोवर्धन पीठाचार्य शंकर नाम के आचार्य के वे शिष्य थे आदिशंकराचार्य के नहीं। भगवत् शब्द आदरार्थ सभी शंकराचार्यों के लिये लिखा जाता है। इस पर यही कहना है कि शिवसोम को जयवर्मन का गुरु माना जाये तो भी ई. ७९५ में जन्म ई. ८९० तक के जीवन काल मान कर सभी बातें संगत हो जायेंगी। किन्तु भगवत् शब्द में आदि शंकराचार्य ही उपस्थित होंगे।

उत्तरपक्ष-४०

अरे ! अ. श्री महामण्डलेश्वर जी यह आपने क्या किया, शिवसोम के शिलालेख तथा 'देव्यापराधक्षमापन स्तोत्र' में कहे गये 85 वर्ष से अधिक आयु वाले शङ्कराचार्य आदि तथ्यों की संगति बैठाने के लिये **अपनी मुख्य प्रतिज्ञा कि 'आचार्य का काल 788 ई. से 820 ई. है' को भूलकर अब प्रमाणों से संगति बैठाने के लिये आपने उनका काल 795 ई. से 890 ई. मान लिया। यहीं पर आपका उक्त मत कि 'आचार्य का जन्मकाल 788 ई. व कैलाशगमन काल 820 ई. था' स्वतः खण्डित हो गया।** अब और अधिक विचार की आवश्यकता ही नहीं रही फिर भी आपकी वितण्डावादी प्रवृत्ति को देखते हुए कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है।

माना कि आपके द्वारा आदि शंकराचार्य के नवीन मान्य काल 795 ई. से 890 ई. के आधार पर यह संगति बैठ जायेगी कि कम्बोज राजा जयवर्मन (तृतीय) के उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मन के राजगुरु शिवसोम आदि शंकराचार्य के ही शिष्य थे तथा अपनी पचासी वर्ष से अधिक की उम्र में उन्होंने ही 'देव्यापराधक्षमापन स्तोत्र' लिखा था; परन्तु व्यास जी के आशीर्वचन, श्रृंगेरीमठ समेत चार आम्नाय मठों की मान्यता एवम् अब तक विद्वानों द्वारा सर्वमान्य आचार्य की आयु 32 वर्ष ही थी इसका क्या होगा? चलो जो होगा सो होगा व्यास जी एवं आम्नाय मठादि अपना समझें? अचम्भे की बात तो यह है कि जो महामण्डलेश्वर आचार्य की आयु 32 वर्ष 5 माह को 5 माह अधिक होने के कारण नहीं स्वीकार कर रहे थे वही महामण्डलेश्वर जी अब आचार्य शङ्कर की

आयु 32 वर्ष से 63 वर्ष अधिक 95 वर्ष मानने लगे हैं ।

हाँ आचार्य की उम्र 95 वर्ष मानने पर महामण्डलेश्वर जी को यह कहने का भी अवसर मिल जायेगा कि आचार्य शङ्कर का 8वर्ष की उम्र मे उपनयन हुआ तत्पश्चात् उन्होंने 48 वर्ष वेदाध्ययन, 12 वर्ष व्याकरण तथा शिक्षाकल्पादि का पृथक् अध्ययन किया । (द्रष्टव्य आलोच्य पुस्तक का पृष्ठ 33) । परन्तु आपके दुर्भाग्यवश इस बीच में टपक पड़े श्री वाचस्पति मिश्र उनका काल आपने 'न्यायसूची निबन्ध' में उद्धृत काल के प्रमाण से अपने 14 पृष्ठीय पूर्व लेख में (898वि.सं.) 841 ई. सन् माना है । आचार्य शङ्कर के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर श्री पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका टीका लिखी थी जिसका खण्डन भास्कर ने अपने भाष्य में किया । पुनः भास्कर भाष्य का खण्डन श्री वाचस्पति मिश्र ने अपनी प्रसिद्ध भामती टीका में किया । पूर्वपक्षी ने अन्यत्र अपनी आलोच्य पुस्तक में यह भी लिखा है कि पद्मपादाचार्यादि ने अपने ग्रन्थों को आदिशङ्कराचार्य के कैलाश गमन के काफी पश्चात् लिखा था । अपने पूर्व लेख में पूर्वपक्षी का यह भी कहना है कि भास्कर के भाष्य का लेखन काल 864 ई. तथा भामती का लेखन काल 880 ई. के लगभग है । इस प्रकार उनके अनुसार भामती ग्रन्थ आचार्य के कैलाशगमन के लगभग 60 वर्ष बाद लिखा गया (880 ई.- 820 ई.) । अब नये कैलाशगमन वर्ष 890 में 60 वर्ष का योग करने पर भामती का रचना काल 950 ई. प्राप्त होता है इस प्रकार वाचस्पति मिश्र उदयनाचार्य के परवर्ती सिद्ध हो जाते हैं जिन्होंने लक्षणावली में अपना काल संवत् 906 दिया है । वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका लिखी है जिस पर उदयनाचार्य ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि लिखा है । इस विसंगति का क्या होगा? दूसरी बात न्याय सूची निबन्ध 841 ई. में वाचस्पति मिश्र ने लिखा और भामती 950 ई. में उसके 109 वर्ष पश्चात्, न्यायसूचीनिबन्ध लिखते समय यदि उनकी आयु 21 वर्ष भी मानी जाय तो वे सुरेश्वराचार्य आदि के समकालीन ठहरते हैं जो कि सकल प्रमाण विरुद्ध है?

इन सबकी संगति महामण्डलेश्वर जी आप बिठाते रहिए, परन्तु आपकी कठिनाई का यहीं अंत नहीं होगा । कहा गया है सिर मुड़ाते ही ओले पड़े । इसी बीच आ धमके जैनाचार्य विद्यानन्द जिनका नाम आपने अपने पूर्वलेख में नित्यानन्द लिखा है । विद्यानन्द का काल सप्रमाण पूर्व में ईसवी सन् की 7वीं सदी बताया जा चुका है । इन विद्यानन्द ने सुरेश्वराचार्य के बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक से श्लोकों को उद्धृत किया है, इस

तथ्य को महामण्डलेश्वर जी ने भी अपने पूर्वलेख में स्वीकार किया है । अतएव उनके पूर्ववर्ती सुरेश्वराचार्य का काल कम से कम ई. सन् की सातवीं सदी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है । शिवसोम, अभिलेख से स्पष्ट है कि ई. सन् की 9वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे इसलिये अब उनका गुरु आचार्य शङ्कर को सिद्ध करने के लिये आचार्य की आयु कम से कम 250 वर्ष माननी पड़ेगी क्योंकि सुरेश्वराचार्य से बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य पर वार्तिक भी तो ई.सन् की 7वीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखवाना है जिससे कि ईसवी सन् की 7वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यानन्द अपने ग्रन्थ अष्टसाहस्री में उक्त वार्तिक का उद्धरण दे सकें ? यही नहीं आपके लिये सबसे अधिक विपदा उपस्थित कर देता है शृंगेरी मठ का आधिकारिक काव्य 'गुरुवंश' जिसमें लिखा है कि मठ के 13वें आचार्य नरसिंह भारती संवत् प्रर्वतक चक्रवर्तियों में धुरन्धर विक्रमादित्य के वरिष्ठ समकालीन थे । मेरी पूर्व पुस्तक के बिन्दु 7 शीर्षकान्तर्गत की गई कालगणना से स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर इन 13 वें आचार्य से 720 वर्ष पूर्व हुए थे । यह गणना शृङ्गेरीमठ की अर्वाचीन सूची के अनुसार ही की गई है । यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि उज्जैन के विक्रमादित्य ने ई. पू. 57 में तथा चालुक्य वंशी विक्रमादित्य (षष्ठ) ने 1076 ई. में संवतों का प्रवर्तन किया था । ~~चालुक्यवंशी विक्रमादित्य (षष्ठ) ने 1076 ई. में संवतों का प्रवर्तन किया था~~ । चालुक्य विक्रम का समकालीन नरसिंह भारती को मानने पर आचार्य शङ्कर का आविर्भावकाल (1076-720=)356 ई. तथा उज्जैन के विक्रम का समकालीन मानने पर (ई.पू. 57+720=) ई.पू. 777 सिद्ध होता है । चलिये आपकी सुविधा के लिये हम नरसिंह भारती को थोड़ी देर के लिये चालुक्य विक्रम का ही समकालीन मान लेते हैं । अब आचार्य का आविर्भाव काल ई. सन् 356 निश्चित हुआ । शिवसोम नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुये थे जैसा कि राजा जयवर्मन तृतीय के उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मन के गुरु के अभिलेख से स्पष्ट है । अब आचार्य शङ्कर को शिवसोम का गुरु बनाने के लिये कम से कम उनकी आयु 500 वर्ष माननी ही पड़ेगी तभी यह सम्भव हो सकेगा कि 856 ई. के आस-पास शिवसोम ने उनसे पढ़ा हो ।

मेरी पुस्तक अमिटकाल रेखा (आर्वाचीन मत खण्डन) में बिन्दु 9 शीर्षकान्तर्गत वृत्त चिन्ह युक्त पूर्वपक्ष तीन लोगों के विचारों को समेकित कर बनाया गया है । महामण्डलेश्वर जी द्वारा उनके चौदह पृष्ठीय लेख से उनकी पंक्ति - "कम्बोडिया में शिवसोम लिखित आठवीं सती का यह शिलालेख", [373]श्रीमद्जगद्गुरुशाङ्करमठ

गोपाल

विमर्श में राजकुमार शर्मा की पंक्ति- "काम्बोज राजा श्रीजयवर्मन् द्वितीय (878-887ई.) के राजगुरु श्रीशिवसोम थे" तथा, डॉ. विद्याधर महाजन की पंक्तियाँ- [374]"जयवर्मा द्वितीय ने 802 से 825 ई. तक राज्य किया। .... जयवर्मा तृतीय ने महान् कम्बुज साम्राज्य की नींव रखी। 889 ई. में वह राजा हुआ। .... कम्बुज के एक ब्राह्मण शिवसोम ने 'भगवत् शङ्कर के अधीन शास्त्र पढ़े जिसके चरण कमलों में ऋषि भी सिर झुकाते थे' यह शङ्कर सुप्रसिद्ध शङ्कराचार्य थे।" आदि पंक्तियों में सामन्जस्य स्थापित कर वह पूर्व पक्ष रखा गया था।

'प्राचीन कम्बोड्डिया में राज्य उत्तराधिकार' नामक पुस्तक में प्रो. अधीर चक्रवर्ती ने व्यापक अन्वेषण एवं अनुसन्धान से प्राप्त अपने निष्कर्षों को लिपिबद्ध किया है। अभिलेखों का गहन अध्ययन एवं विवेचन करने के पश्चात् डॉ. चक्रवर्ती ने [375] जयवर्मन् द्वितीय का राज्यकाल 802 से 850 ई., जयवर्मन् तृतीय का राज्यकाल 850 से 877 ई. तथा इन्द्रवर्मन् का राज्यकाल 877 ई. से 889 ई. असंदिग्धरूप से सिद्ध किया है। शिवसोम इन्द्रवर्मन् के गुरु (वरःगुरु) तथा राजा जयेन्द्राधिपति वर्मन् के पौत्र थे। शिवसोम के अभिलेख में राजा जयवर्मन्, राजा इन्द्रवर्मा का नामोल्लेख होने के कारण इन अभिलेख को जयवर्मा, इन्द्रवर्मा अथवा शिवसोम के अभिलेख के नाम से पुकारते है, यह अभिलेख 887 ई. सन् अर्थात् ई. सन् की नवम सदी का है। महामण्डलेश्वर महोदय अपनी आलोच्य पुस्तक में पृष्ठ 73 पर लिखते है - "ब्रह्ममुहूर्त्त में स्नान ब्रह्मध्यानादि कर सन्त लोग ब्रह्मसूत्र भाष्यादि पढ़ते पढाते हैं बाद में स्थान-स्थान में जाकर प्रचारादि भी करते हैं। अतः सुरेश्वराचार्यादि .... आचार्य से प्रचारादिकाल में पूर्वोक्त रीत्या पढ़ते रहे। तब शिवसोम भी उनके साथ पढ़ते रहे इसके लिए आपके पेट में क्यों दर्द हो रहा है।" शिवसोम काम्बोज देश के राजपुत्र थे मात्र एक साधारण ब्राह्मण विद्यार्थी नहीं थे अतएव आचार्य के प्रचारादि काल में उनके साथ घूम-घूम कर शिवसोम द्वारा पढ़ने की कल्पना करना व्यर्थ की बकवास है, यह भयानक उदरशूल से पीड़ित किसी अज्ञानी के प्रलाप के तुल्य है। आचार्य शङ्कर अपने ब्रह्मलीन होने के लगभग एक वर्ष पूर्व सर्वज्ञपीठ (शारदापीठ) पर कश्मीर में बैठे थे अर्थात् उस दिन सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न मतावलम्बी सभी दिग्गज विद्वानों ने आचार्य को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् व सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित किया था। उस घटना के बाद ही आचार्य की कीर्ति अनेकों वर्षों के पश्चात् कम्बोडिया आदि देशों में पहुँची होगी। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा

सकता है कि आचार्य के शास्त्रार्थ काल में ही उनकी ख्याति काम्बोज आदि देशों में इतनी व्याप्त हो चुकी थी कि वहाँ का राजा भी अपना लोभ संवरण न कर सका और अपने पुत्र को आचार्य शङ्कर से घूम-घूम कर पढ़ने हेतु भारतवर्ष भेज दिया ।

महामण्डलेश्वर जी ने एक स्थल पर अपनी पुस्तक में कहा है कि आचार्य शङ्कर की मृत्यु का संदेश केदार क्षेत्र (हिमालय) से केरल तक पहुँचने में चार वर्ष का समय लगा । अब महामण्डलेश्वर जी यह बताये इस पैमाने से काम्बोज देश में आचार्य की ख्याति पहुँचने में क्या कम से कम 12 वर्ष नहीं लगा होगा और पुनः 12 वर्ष शिवसोम को भारतवर्ष आने में लगा होगा अर्थात् 24 वर्ष । आचार्य की कीर्ति वृद्धि का श्रीगणेश मण्डन मिश्र की पराजय से आरम्भ हुआ था इस समय आचार्य की उम्र लगभग 17 वर्ष थी । महामण्डलेश्वर जी के शब्दों में यदि कहे तो यही कहना पड़ेगा कि - आचार्य शङ्कर और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ का परिणाम सुनते ही एक व्यक्ति हाँफते हाँफते भागा भागा काम्बोज देश गया । रास्ते में भूख प्यास से बचने हेतु उसने स्वर्णभस्म व अपामार्गादि की खीर आदि का प्रयोग किया । वहाँ पहुँकर उसने राजा को यह खबर सुनायी और उनसे अनुरोध किया कि वे शिवसोम को आचार्य शङ्कर के पास पढ़ने हेतु भेज दें । राजा ने एक विदेशी की बात पर विश्वास कर तुरन्त अपने पुत्र शिवसोम को आचार्य शङ्कर के पास जिनका कि उस समय तक कोई स्थायी पता ठिकाना न था पढ़ने हेतु भेज दिया । शिवसोम को साथ लेकर वह व्यक्ति हाँफते-हाँफते पुनः पूर्व प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए अपनी दिव्य दृष्टि से आचार्य जिस स्थान पर प्रचारादि कार्य कर रहे थे वहाँ लेकर पहुँच गया । परन्तु केरल के पैमाने में यदि हम कुछ सुधार कर दे तब भी कम से कम आठ वर्ष कम्बोडिया जाने में तथा आठ वर्ष आने में समय लग ही गया होगा । आचार्य की 17 वर्ष की उम्र में संदेशवाहक रवाना हुआ था अतः वह उसके सोलह वर्ष बाद पुनः पहुँचा तब क्या सत्यलोकोर्ध्व कैलाश में शिवसोम ने आचार्य से पढ़ा ?

महामण्डलेश्वर जी ! राजपुत्र विख्यात गुरुकुल अथवा स्थायी ऋषि आश्रमों में पढ़ने हेतु उन क्षेत्रों में भेजे जाते थे जहाँ पर कि स्वयं सम्बन्धित राजा अथवा उसके मित्र राजा का पूर्ण वर्चस्व होता था ताकि राजपुत्रों को किसी प्रकार शत्रु आदि क्षति न पहुँचा सके । राजपुत्र संन्यासियों के साथ घूम-घूमकर पढ़ने हेतु नहीं भेजे जाते थे ।

जहाँ तक भगवत् विशेषण का सम्बन्ध है आदर पूर्वक अपने गुरुओं हेतु इसका

प्रयोग अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है । राजगोपाल शर्मा ने अपने ग्रन्थ में लिखा है - [376]"अद्वैत मतावलम्बी वर्ग में एक आनन्दज्ञान थे जिनका नाम आनन्द गिरि भी कहा जाता है । ..... टींकाकर्ता आनन्द गिरि लिखते हैं 'श्री श्रद्धानन्द भगवत्पूज्य शिष्य श्री मदानन्दज्ञान विरचितायां शङ्करभाष्य टीकायां' । 'न्यायरत्न दीपावली' की व्याख्या में आनन्दगिरि बतलाते हैं कि आपने कलिंग देश के महाराजा नृसिंह के आश्रम में ग्रन्थ रचा था -'कलिंगदेशाधिपतौ नरेन्द्रे ....मयानिबन्धः।' ...... कुछ अनुसंधान करने वाले विद्वानों का अभिप्राय है कि आपका काल 1200 ई. का है और कुछ विद्वान् आपका काल श्री विद्यारण्य के बाद होने का बतलाते हैं । " [377]डॉ. श्रीधर शर्मा वर्णेकर ने इनका काल ईसवी सन् की 12वीं सदी माना है । कलिङ्ग (उड़ीसा) के राजाओं का विवरण श्री जगन्नाथमन्दिर पुरी के तालपत्रों के अभिलेखों के अनुसार डॉ. डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर ने तैयार किया था जिसमें युधिष्ठिर से लेकर दिव्य सिंह देव तक अर्थात् कलिसंवत् के आरम्भ ईसा पू. 3101 से ई. सन् 1871 तक कलिङ्ग पर राज्य करने वाले राजाओं का नाम दिया गया है । उक्त सूची में नृसिंह अथवा नरसिंह नामधारी राजाओं का विवरण उनके राजत्व काल के साथ इस प्रकार दिया गया है - [378]नरसिंहदेव (ई.पू. 421 से ई.पू. 306), नरसिंह केशरी (1013 ई. से 1024ई.), लांगूलीय नरसिंह (1242ई. से 1307ई.), प्रताप नरसिंह (1307 ई. से 1327ई.), गतिकान्त नरसिंह (1327 ई. 1329 ई.), कपिल नरसिंह (1329ई. से 1330ई.), नरसिंहजाना (1549 ई. से 1550 ई.) तथा नरसिंहदेव (1628 ई. से 1653ई.) । अतएव यह निश्चित होता है कि टीकाकार 1653 ई. से पश्चात्वर्ती नहीं हो सकते । विद्यारण्य मुनि के पूर्वकाल का उन्हें मानने पर उन्हें ई. सन् पूर्व चौथी सदी, ई. सन् की ग्यारहवी, तेरहवी व चौदहवीं सदी (पूर्वार्ध) का तथा उनके बाद का मानने पर टीकाकार को ईसा की सोलहवीं अथवा सत्रहवीं सदी (मध्यकाल) का महामण्डलेश्वर जी अपनी सुविधा के अनुसार मान सकते हैं । 1653 ई. का भी यदि महामण्डलेश्वर जी उन्हें माने तो भी अब से 348 वर्ष पूर्व के वे सिद्ध होते हैं । उन्होंने अपने गुरु श्रद्धानन्द के लिए भगवत्पूज्य विशेषण का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि अनेक विद्वानों के लिए 'भगवत' शब्द विशेषण का प्रयोग बहुकाल से प्रचलित है आचार्य शङ्कर के लिए विशिष्ट विशेषण भगवत्पाद रूढ़ सा हो गया न कि 'भगवत' विशेषण ।

महामण्डलेश्वर जी ने लिखा है कि मेरा कहना है कि ईसवी 862-885

गोवर्द्धनपीठाचार्य शङ्कर नाम के आचार्य के शिवसोम शिष्य थे । जबकि मैंने अपनी पूर्व पुस्तक के पृष्ठ 16 पर लिखा है कि ईसवी सन् 871 से ईसवी सन् 885 तक गोवर्द्धन मठ-पुरी के शङ्कराचार्य पद पर विराजमान शङ्कर नामक वहाँ के 81वें आचार्य शिवसोम के गुरु भगवत शङ्कर थे । सम्भवतः उम्र अधिक होने से हुई कमजोर आँख से ठीक न दिखाई पड़ने के कारण अथवा पाठिका की किसी प्रमादवश हुई अशुद्धि के कारण महामण्डलेश्वर महोदय ने ईसवी सन् 871 के स्थान पर ई. सन् 862 लिख डाला है।

पूर्वपक्ष-४१

" निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः ।
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दुशतसप्तके ।।
कल्यब्देऽभूद्र दृगङ्काग्निसंमिते शंकरो गुरुः ।
शालिवाहशके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात् ।।"

ऐसा श्री कृष्णब्रह्मानन्दीय शंकरदिग्विजय में है । निधि-९ नाग-दिग्गज ८ इभ-वेही हाथी-८ वह्नि-आवहनीय, गार्हपत्य, दक्षिणग्नि-३ । अङ्कनां वामतो गतिः = ३८८९ कलिवर्ष में । और खेन-आकाशेन-शून्येन सह इन्दु चन्द्रमा-१ शतसप्तके = ७१० शालिवाहन संवत् में आचार्य शंकर का जन्म हुआ । अक्षि-२ सिन्धु-४

वेदाः कास्यानि वर्णाश्च आश्रमा हरिवाहवः । (कस्य=ब्रक्षणः मुखानि)
स्वर्दन्तिदन्ताः सेनाङ्गान्युपायाश्च महीक्षिताम् ।।
वृत्तपादाः समुद्राश्च युगयामादयस्तथा ।
चतुःसंख्याविशिष्टार्थबोधोद्भवकरा मताः ।।

इस प्रकार कवि कल्पलता में सिन्धु=समुद्र का ४ अर्थ बताया है । फिर सप्तमिते- ७=७४२ शकाब्द । ईस्वी में परिणत करने पर ७८८-८२० ही होता है । ये श्रीकृष्णब्रह्मानन्द जी गोवर्धनाचार्यावल्यन्तर्गत नहीं हैं । क्या ये श्री कृष्ण ब्रह्मानन्द जी आधुनिक दुरभिप्राय वालों से मिल गये थे?

उत्तरपक्ष-४१

महामण्डलेश्वर जी क्यों लोगों को गुमराह करने का प्रयास कर रहे हैं । मैंने अपनी पूर्व पुस्तक में 8 शङ्कराचार्यों का आविर्भाव काल 'बिन्दु-10' शीर्षक के नीचे सप्रमाण दिया है जिसमें 8वें क्रम पर एक शङ्कराचार्य का आविर्भावकाल गत कलिसंवत् 3889 तुल्य ईसवी सन् 788 व शिवलोक गमन 820 ई. सन् लिखा है । यही तिथि यदि कृष्ण ब्रह्मानन्दीय शङ्कर दिग्विजय में है तो नई बात क्या है ? विज्ञ पाठकों के त्वरित सन्दर्भ के लिये मेरी पूर्व पुस्तक का सम्बन्धित अंश पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है । यथा-

1. [379]शारदामठ-द्वारका के द्वितीय शङ्कराचार्य द्वारा लिखित शंकर विजय में आदि शङ्कराचार्य का आविर्भाव-काल निम्न प्रकार से वर्णित है ।

''ततः सा दशमे मासि सम्पूर्णशुभलक्षणे ।
षड्विंशशतके श्रीमद्युधिष्ठिरशकस्य वै ॥
एकत्रिंशेऽथवर्षे तु हायने नन्दने शुभे ।
मेषराशिं गते सूर्ये वैशाखे मासि शोभने ॥
शुक्ले पक्षे पञ्चम्यां तिथौ भास्करवासरे ।
पुनर्वसुगते चन्द्रे लग्ने कर्कटाह्वये ॥
मध्याह्ने चाभिजिन्नाम मुहूर्ते शुभवीक्षिते ।
स्वोच्चस्थे केन्द्रस्थे च गुरौमन्दे कुजे रवौ ॥
निजतुंगगते रविणा संगते बुधे ।
प्रासूत तनयं साध्वी गिरिजेव षडाननम् ॥

अर्थात् युधिष्ठिर शक सम्वत् 2631 (=ई. सन् पूर्व 507) नन्दन वर्ष वैशाख शुक्ल पंचमी रविवार को आदिशङ्कराचार्य का जन्म हुआ ।

2. [380]सदानन्द स्वामी कृत शंकरदिग्विजय ग्रन्थ के अनुसार कलि सम्वत् 2771 (=ईसवी सन् पूर्व 330) सर्वजित् नामक संवत्सर में पौष मास में जब पाँच ग्रह उच्चस्थिति में थे तब शुभ लग्न में शङ्कराचार्य का अवतार हुआ । गणना करने पर उक्त काल में पाँच ग्रहों का उच्च स्थानीय योग प्रमाणित हुआ ।

3. [381]माधवीय शंकर दिग्विजय ग्रन्थ के अनुसार शुभ ग्रहों से युक्त शुभ लग्न में और शुभ राशि से देखे जाने पर तथा सूर्य, मंगल और शनि के उच्च होने पर तथा

गुरु के केन्द्र में स्थित होने पर शङ्कराचार्य का जन्म हुआ ।

सूर्य मेष राशि में शनि तुला राशि में व मंगल मकर राशि में स्थित होने पर उच्च के माने जाते हैं । कुण्डली के प्रथम, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम स्थान को केन्द्र कहते हैं ।

[382]गणना करने पर यह सिद्ध हुआ कि कलि संवत् 2815 तुल्य ईसवी सन् पूर्व 286 में वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन गुरु कर्क में, सूर्य मेष में, शनि तुला में तथा चन्द्र व मङ्गल मकर में स्थित थे ।

4. [383]दक्षिण देशस्थ स्कन्दपुर नरेश की हस्तलिखित पुस्तक 'कोङ्ग देश का इतिहास' के अनुसार ईसवी सन् 178 में उपस्थित राजा विक्रमदेव के शासनकाल में शङ्कराचार्य का जन्म हुआ था ।

5. [384]महानुभाव सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'दर्शन प्रकाश' में, जिसका रचना काल 1638 ई. है एक प्राचीन ग्रन्थ 'शङ्कर पद्धति' के अनुसार लिखा गया है -

युग्म पयोधि रसामिति शाके रौद्रक वत्सर ऊर्जक मासे..
शङ्कर लोकमगान्निजदेहं हेमगिरौ प्रविहाय हठेन'

अर्थात् - इन शङ्कर का कैलाश गमन शक संवत् 142 तुल्य ईसवी सन् 220 में हुआ था, । परन्तु यदि 'रसा' का अर्थ पृथ्वी = 1 न कर रसातल = 6 किया जाय तब इनका कैलाश गमन काल शक संवत् 642 तुल्य ईसवी सन् 720 प्राप्त होता है। सम्भवतः स्कन्दपुर नरेश द्वारा वर्णित शंकर और महानुभाव सम्प्रदाय के ग्रन्थ में वर्णित शंकर अभिन्न हैं ।

6. [385]काशीनाथ त्र्यम्बक तेलंग के अनुसार केरलोत्पत्ति नामक ग्रन्थ में शङ्कराचार्य का जन्म ईसवी सन् 400 लिखा है । वहाँ पर यह भी उल्लेख है कि ये शङ्कराचार्य 38 वर्ष तक इस धराधाम पर रहे ।

7. [386]शंकर (द्वितीय) के नाम से विख्यात विद्याशंकर भारती नामक शङ्कराचार्य का जन्म शालिवाहन शक संवत् 421 तुल्य ईसवी सन् 499 प्रमाथि वर्ष में माघकृष्ण चतुर्दशी को मलयाक में तथा ब्रह्मीभाव शालिवाहन शक संवत् 491 तुल्य ईसवी सन् 569 विरोधी वर्ष में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी शुक्रवार के दिन कीकट में हुआ । ये शृङ्गगिरि मठ के अधिपति विद्यानृसिंह पतिराड् भारती के शिष्य थे ।

8. [387]वेणु ग्राम के गोविन्द भट्ट हेरलेकर द्वारा उपलब्ध करायी गई बाल-बोध शैली में लिखित तीन पत्रों वाली अनाम लेखक की एक पुस्तिका के अनुसार -

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले ।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः ।
निधिनागे वह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः ।

तथा एक अन्य स्रोत के अनुसार -

कल्यब्दे चन्द्रनेताङ्क वह्न्यब्दे गुहा प्रवेशः,
वैशाखे पूर्णिमायां तु शङ्करः शिवतामगाद् ।

अर्थात् कलि संवत् 3889 तुल्य ईसवी सन् 788 विभव नामक वर्ष में शङ्कराचार्य का जन्म तथा कलि संवत् 3921 तुल्य ईसवी सन् 820 वैशाख पूर्णिमा के दिन शिवलोक गमन हुआ । इसी पुस्तिका का उद्धरण देकर बेलगाम के विष्णु महादेव पाठक ने इण्डियन एण्टीक्वेरी खण्ड 11 पृष्ठ 263 (जून 1882 अङ्क) में आदिशङ्कराचार्य का आविर्भाव काल 788 ई. सन् व कैलाश गमन 820 ई. सन् माना है ।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आदिशङ्कराचार्य की जीवनी लिखते समय जिस लेखक के पास जिस किसी भी प्राचीन शङ्कराचार्य का जीवन काल या ब्रह्मलीन काल उपलब्ध था उसने उसी काल को आदिशङ्कराचार्य का काल मानकर उनके जीवन चरित्र में उस काल का समावेश कर उनके आविर्भाव काल की गुत्थी को अत्यधिक उलझा दिया । परन्तु इन विभिन्न कालों के सूक्ष्म अवलोकन से हमें स्पष्ट हो जाता है कि चित्सुखाचार्य द्वारा उल्लिखित काल आदिशङ्कराचार्य का काल तथा अन्यों द्वारा उल्लिखित अन्य काल परवर्ती शङ्कराचार्यों से सम्बन्धित हैं ।

पूर्वपक्ष-४२

शारदा मठ के द्वितीय शङ्कराचार्य को गिनती नहीं आती थी । २६३१-२६७३ ये दोनों षड्विंशशतक के नहीं साप्तविंशशतक के है । षड्विंशकी जगह सप्तविंश करें तो छन्दोभंग होता है ।

उत्तरपक्ष-४२

महोदय, उक्त श्लोक में द्वारका के द्वितीय शङ्कराचार्य ने स्पष्ट निश्चित वर्ष युधिष्ठिर शक संवत् 2631 का उल्लेख किया है अतएव युधिष्ठिर शक संवत् की 27वीं सदी

वे क्यों कहते? शारदामठ के द्वितीय शङ्कराचार्य को गिनती नहीं आती थी क्या आप उनके सहपाठी थे ? आपके गणित सम्बन्धी ज्ञान से लगता है कि आपको स्वयं गिनती नहीं आती । आपने अपने पूर्व लिखित 14 पृष्ठीय लेख में जिसके सम्बन्धित अंश को इस पुस्तक में पूर्व में यथावत् प्रस्तुत किया गया है आपने - 30 + 1000 + 138 + 360 + 100 + 134 + 100 + 345 + 456 का योग 2666 लिखा है जो कि गलत है, सही योग फल होगा 2663 । ~~हमारी~~ अपनी आलोच्य पुस्तक में भी एक स्थल पर आपने लिखा है, 'द्वितीय गणना में ई. पूर्व प्रथम शताब्दी सौ वर्ष रखो तो निर्वाण तिथि 481 से सौ घटाने पर 321 होता है' आप क्या लिखते हैं आपको स्वयं ज्ञान नहीं रहता। उपर्युक्त तीन पंक्तियों में ही आपने अपना यह स्वरूप प्रकट कर दिया है । एक स्थान पर 'साप्तविंश' लिखते हैं तो दूसरे स्थान पर 'सप्तविंश' । द्वारका के द्वितीय शङ्कराचार्य श्री चित्सुखाचार्य जो कि एक महान् विद्वान् थे, उनके सम्बन्ध में ऐसी आपत्ति जनक टिप्पणी करके आपने सिद्ध कर दिया है कि आप शाङ्कर सम्प्रदाय के पोषक नहीं शोषक हैं । जिस व्यक्ति को स्वयं गिनती नहीं आती वह चला है दूसरों को गिनती न जानने वाला कहने ! उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे ।

पूर्वपक्ष-४३

हमने शृङ्गेरी पूर्वाचार्य श्री अभिनवविद्यातीर्थ जी से कहा कि हमें शंकर संवत् चलाना चाहिए तो उन्होंने कहा केरल में यह संवत् चल ही रहा है । मुझे भी याद आया बात यथार्थ है । अभी केरल में ११७७ चल रहा है उसमें और सन् २००० में ८२३ वर्ष का अन्तर आता है । ८२० में आचार्य का कैलास गमन स्वीकृत है । केदारनाथ से वह समय दुर्लभ यात्रियों के द्वारा पैदल चलने वालों से केरल तक पहुँचने में तीन-चार साल लगते ही थे । आचार्य मरण सुनते ही- 'मार डाला' कहकर बहुत से लोग और राजा भी बेहोश हो गये । मार डालने का ही नाम केरल (मलयालं) भाषा में कोल्लं है । तब से लेकर अब तक कोल्लं ही उस जगह का और वर्षों का नाम पड़ गया । तत्कालीन राजा आचार्य को भगवान् ही मानते थे । कुछ लोग इन तीन-चार वर्ष का फर्क कोई बत्तीस, कोई छत्तीस और कोई अड़तीस वर्ष में कैलाशगमन के विकल्प से जोड़ते हैं । परन्तु प्रथम पक्ष ही हमें अधिक जँचा । "शंकरलोकमगात्रिजदेहं

हेमगिरौ प्रविहाय हठेन" यह हठेन से लगता है कि एका-एक चले गये । शिष्य लोग काफी समय प्रतीक्षा करते रहे, यह आशा रखकर कि शायद वापिस आ जाये । फिर ढूंढने लगे । तब स्मरण आया कि बत्तीस वर्ष उमर में ही जाने वाले हैं ऐसा व्यासाशीर्वाद है । इन सब व्यवधानों से चार साल निकल गये ।

•

उत्तरपक्ष-४३

यहाँ भी आप अपनी अज्ञानता प्रदर्शित कर रहे हैं । विख्यात मराठी ज्योतिर्विद स्वर्गीय शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 1896 ई. सन् में लिखित अपने ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष में कोल्लम् संवत् के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है -

[388]"कोल्लम् काल अथवा परशुराम काल - इसके वर्ष को कोल्लम आण्डु कहते हैं । कोल्लम का अर्थ है पश्चिमी और आण्डु वर्ष को कहते हैं । यह काल मलावार प्रान्त में मंगलोर से कुमारी पर्यन्त और तिनेवल्ली जिले में प्रचलित है । इसका वर्ष सौर है । मलावार के उत्तर भाग में कन्नी (कन्या) मास से और दक्षिणी भाग में तथा तिनेवल्ली प्रान्त में चिंगम (सिंह) मास से इसका वर्षारम्भ होता है । मलावार प्रान्त में इसके मासों के नाम मेष, वृष इत्यादि राशियों के अपभ्रंश हैं । लोग कहते हैं कि 1000 वर्ष का इसका एक चक्र होता है, वर्तमान् चक्र चतुर्थ है परन्तु सम्प्रति प्रचलित इसका वर्षाङ्क 1000 से अधिक है । ....कोल्लम वर्ष में 824-25 जोड़ने से ईसवी सन् आता है।"

अब तो आपको ज्ञात हो गया होगा कि कोल्लम का अर्थ ' पश्चिमी' होता है 'मार डाला' नहीं । हाँ यह सत्य है कि इस नाम का एक नगर केरल में है । [389]केरलोत्पत्ति में लिखा है कि तीसरी सन् की तीसरी सदी में चेरामन पेरुमाल (=केरल नरेश) विजय ने कोल्लम में विजयन दुर्ग बनवाया था उससे स्पष्ट है कि कोल्लम नगर का नाम भी किसी भी प्रकार से आचार्य शङ्कर से सम्बद्ध नहीं है । यह भी आपको ज्ञात हो गया होगा कि लोकमान्यता के अनुसार यह 'परशुराम' जी से सम्बन्धित माना जाता है शङ्कराचार्य जी से नहीं ।

सनातन धर्म के चार सर्वश्रेष्ठ धर्मगुरुओं में से एक अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य शृङ्गेरी मठ को मिथ्या ही आप अपनी अज्ञानता हेतु ढाल बना रहे हैं, भला वे ऐसा अनुचित कथन क्यों करेंगे ?

अनन्त श्री महामण्डलेश्वर जी संवतों के बारे में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना हो तो किसी ज्योतिर्विद् के यहाँ जाकर पढ़िये अन्यथा भविष्य में भी इसी प्रकार असंगत अभिकथन कर आप हँसी के पात्र बनते रहेंगे ।

पूर्वपक्ष-४४

वाक्कील साहेब फरमाते हैं कि टीपू सुल्तान का श्रृंगेरी पीठाचार्य के साथ मधुर सम्बन्ध था । टीपू ने शृंगेरी पीठाधिपति को एक सोने का मुकुट अर्पित किया । परन्तु वही शृंगेरी के पतन का कारण बना । पेशवाओं ने श्रृंगेरी पर आक्रमण किया और वहाँ का सब कुछ मटियामेट कर दिया, इतिहास तक नष्ट किया । इस प्रकार कहने-लिखने वाले वाक्कीलक महोदय ने स्पष्टतया श्रृंगेरी के प्रति या उसके उत्कर्ष के प्रति अभी तक दबी दुर्भावना का विकराल राक्षस स्वरूप अपनी कलम से स्वयं सामने पेश किया । एक तो पेशवाओं का घोर अपमान किया । कट्टर हिन्दू ब्राह्मण और मराठे किसी मंदिर मठ को ध्वस्त करें यह कल्पना के परे की चीज है । साधारण सातवीं-आठवीं क्लास में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को भी मालूमहै कि पेशवाओं का राज्य गोवा के किनारे कारवार तक ही था । वहाँ से सैकड़ों किलोमीटर दूर श्रृंगेरी है । एक तो वहाँ टीपू का राज्य था टीपू को मराठावों ने तब तक परास्त किया था । टीपू की पेशवाओं से मिलकर अंग्रेजों को भारत से भगाने के विषय में मैत्रीवार्ता चल रही थी । हाँ इतनी बात कुछ लोग अवश्य बोलते हैं कि शृंगेरी मठ का वैभव देखकर पेशवाओं का एक सेनानी (जिसका नाम रघुनाथराव पटवर्धन था, ब्राह्मण था) शृंगेरी लूटने के लिये कुछ सेना साथ में लेकर वहाँ पहुँचा था । परन्तु उसको कोई खास सफलता नहीं मिली । क्योंकि वहाँ के बादशाह टीपू ने ही उनको वहाँ से मार भगाया था ।

ध्यान रहे इसी मराठा वंश में विश्वविदित अहल्याबाई हुई । काशी विश्वनाथ मंदिर का एवं सोमनाथ मंदिर आदि अनेकों मंदिरों का पुनरुद्धार पुनःनिर्माणादि कराने वाली वही है । उन पेशवाओं ने और मराठा महावीरों ने शृंगेरी मठ मंदिरादि को मटियामेट कर दिया यह बोलने वाले शृंगेरी की मुस्लिमतरफदारी सिद्ध कर उन्हें

नीचा दिखाने का प्रयास मात्र कर रहे हैं । उत्तर भारत में भी अकबर, शाहजहाँ आदि से हिन्दुओं का कितना मधुर सम्बन्ध रहा यह "अकबर बीरबल विनोदादि" से मालूम पड़ता है । बादशाहों से विरोध करना उस समय साधु-ब्राह्मणों के लिए संभव ही नहीं था ।

टीपू का बाप हैदर अली श्रीरंगपट्टनं को अधीन किये हुए था । बाप-बेटा दोनों ने मिलकर चालीस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया, दक्षिणा दी, श्रीरंग मंदिर के निर्वाहार्थ कुछ जागीरें दीं तो पेशवाओं ने श्रीरंग को मटियामेट क्यों नहीं किया ? आक्षेप्ता की अन्तर्ज्वाला सीमा पार कर गयी थी तब पागल जैसे बकवास शुरू किया ऐसा लगता है। धन लूटने के लिये मठ को और इतिहास को मटियामेट करने का क्या मतलब ? भलेमाणस ! होश मत गुमाओ । टीपू सुल्तान पेशवाओं से मिलकर अंग्रेजों को भारत से भगाने की रचना कर रहा था । इसके लिये पेशवा शृंगेरी मठ को क्यों जलाते ? पेशवा कट्टर हिंदू थे । वे किसी मंदिर को या आश्रम को मटियामेट कर रहे थे, यह किसी महाराष्ट्रियन के सामने न बोल देना । वही तुम को मटियामेट न कर दे । अन्य बात आगे बतायेंगे हाँ इतना जरूर हमने सुना है कि वहाँ एक कुडली मठ है । वे शृंगेरी से ईर्ष्या करते हैं । अपने को आदिशङ्कराचार्य की वास्तविक परम्परावाले मानते हैं । किन्तु उससे श्रृंगेरी का महत्व कोई कम नहीं हुआ है हमने देखा पूर्णानदी (तुलभंद्रगा) के दोनों ओर विशाल आश्रम भूमि है । आश्रम है । पुरातनतम मंदिर आज भी शोभा पा रहा है । धर्मशाला, अस्पताल आदि की सुव्यवस्था है । जो अन्य तीनों मठों में नहीं है । पता नहीं ये लोग भक्तों से प्राप्त होने वाले अपार धन को कहाँ ले जाते हैं । जिन मठों में जाने पर अतिथियों को पानी तक कोई नहीं पूछता । विशेष बात हम आगे कहेंगे ।

कट्टर हिन्दू पेशवा लोग शृंगेरी मठ को मटियामेट किया यह आक्षेप्ता की कुत्सित भावना की पराकाष्ठा है ।

उत्तरपक्ष-४४

कोई टिप्पणी करने के पूर्व सर्वप्रथम हम कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं-

1. श्रृंगेरी मठ के आधिकारिक ग्रन्थ 'गुरुवंश काव्यम्' में जो कि लगभग 1735 ई. में रचा गया था लिखा है -

[390]तद्वाजिरायस्य च सैनिकास्ते कृतं सुदुर्गं परिखादि भङ्क्त्वा ।
अन्तः प्रविष्टाः किल वह्न्यधीनान् चक्रुर्मठान् शैवजनोपगुप्तान् ॥
दग्धान्मठास्तैः परसैनिकैश्च हृतं धनं सर्वमिदं नृपाय ।
तत्राधिकारि प्रवरास्तु शैवा निवेदयामासुरलं प्रखिन्नाः ॥

2. [391]काशी से प्रकाशित होने वाली पाक्षिक सिद्धान्त पत्रिका के 14वें वर्ष के अक्टूबर मास में श्री महादेव राजाराम वोडस ने सन् 1923 में "विविध ज्ञान विस्तार" नामक मराठी लेख का अनुवाद करते हुए लिखा है कि शङ्कराचार्य के मठों का विध्वंस पेशवाओं के सरदारों ने किया । इस विषय का ऐतिहासिक प्रमाण अब वासुदेव शास्त्री खरे द्वारा मुद्रित "ऐतिहासिक लेख संग्रह" में प्रकाशित हुआ है । कोन्हरे राव पटवर्द्धन ने करबीर मठ सन् 1776 में भस्म कर दिया । परशुराम भाऊ ने सन् 1791 में टीपू के आक्रमण में मैसूर के कूडली मठ का नाश किया और उसी समय रघुनाथ राव पटवर्द्धन के लमाड़ों ने श्रृंगेरीमठ को विध्वस्त किया । जिस श्रृंगेरीमठ को टीपू सुल्तान ने भी जागीर और वर्षासन प्रदान किये, उस मठ का सर्वस्वापहरण ब्राह्मण सरदारों के हाथों होना उद्वेग जनक है । मठ के देवी-देवताओं की प्रतिमायें भी लूट लीं, इससे श्रृंगेरी स्वामी उपवास करने लगे । इस पाप के कारण अपने राज्यपर संकट आयेगा ऐसा पूना के दरबार में नाना फड़नवीस को भय उत्पन्न हुआ । स्वामी के नुकसान की भरपाई करने के विषय में नाना फड़नवीस ने बहुत आग्रह किया पर पटवर्द्धन ने ध्यान नहीं दिया । पेशवाई के अन्त में सब सरदारों की नैतिक अवनति स्वार्थ-परायणता तथा स्वयं पेशवाओं की दुर्बलता के कारण ऐसे पापाचरण बढ़कर मराठेशाही का अन्त हुआ होगा । गाँव के धनी साहूकार मठों का आश्रय लेते थे इसीलिये कहा जाता है कि मठ लूटे जाते थे । कुछ भी हो इस आगजनी व लूटपाट के कारण मठों के कागजातों का जो विध्वंस हुआ, उस हानि की पूर्ति तो अब हो सकने योग्य नहीं है।"

3. [392]प्रसिद्ध मराठी इतिहासकार श्री विश्वनाथ काशीनाथ जी राजवाड़े ने लिखा है कि - "स्वीकार करना होगा कि सरदारों की उच्छृंखलता रोकने योग्य साधनों का पेशवाओं के पास अभाव था । उसी प्रकार विजित जनता के मन को भी जीतने का कोई साधन न था ।"

4. [393]ख्याति लब्ध मराठी लेखक न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द राना डे ने लिखा है - "पेशवा बाजीराव तथा उनके पुत्र बालाजी को ...हैदर तथा उसके बेटे टीपू से लड़ाइयां लड़नी पड़ी जो 1760 तथा 1790 के बीच मैसूर में सशक्त हो रहे थे । एक के बाद एक लड़ी जाने वाली इन लड़ाइयों के परिणाम स्वरूप मैसूर के शासकों की हार और मराठों का राज्य क्षेत्र तुंगभद्रा तक बढ़ गया ।"

5. लब्ध-प्रतिष्ठ इतिहासकार सुन्दरलाल ने 1929 ई. में प्रकाशित अपने इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि- [394]"जगद्गुरु शङ्कराचार्य के चार मुख्य मठों में शृंगेरीमठ मैसूर के राज्य में था । शृंगेरीमठ के स्वामी, उस समय के जगद्गुरु शङ्कराचार्य का हैदर अली के साथ खास प्रेम था । दोनों में खूब पत्र व्यवहार होता था ....हैदर अली ने एक हाथी, पाँच घोड़े, एक पालकी, पाँच ऊँट ...पाँच सोने के ताफ्ते (सूर्यचन्द्रांकित पताकायें जो जगद्गुरु के साथ चलती है)... एक जोड़ी शाल, साढ़े दस हजार रूपये नकद... इत्यादि जगद्गुरु की नजर के तौर पर और एक ठोस सोने का फतलीसोज (शमई) शृंगेरीमठ की देवपूजा के लिये जगद्गुरु की सेवा में एक पत्र के साथ भेजा था" ।

आगे वे लिखते हैं - [395]"मीडोज की हार सुनकर कार्नवालिस ने सेना की बागडोर अपने हाथों में ले ली । 12 दिसम्बर सन् 1790 को वह एक बहुत बड़ी फौज लेकर कलकत्ते से मद्रास के लिये रवाना हुआ । ... इस बीच निजाम और मराठों की सेनाएं अंग्रेजों की मदद के लिये पहुँच चुकी थीं ... टीपू ने वीरता के साथ अपने तीनों शत्रुओं का मुकाबला किया । कई महीने युद्ध जारी रहा .... अन्त में टीपू को पीछे हटना पड़ा।... बंगलौर लेने के बाद कार्नवालिस ने मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टन पर चढ़ाई की।...हैदर अली की समाधि का अपमान किया । ... अन्त में 23 फरवरी सन् 1792 को श्रीरंगपट्टन में दोनों दलों के बीच सन्धि हो गयी जिसके अनुसार टीपू का ठीक आधा राज्य उससे लेकर कम्पनी, निजाम और मराठों ने आपस में बराबर बाँट लिया ।"

आखिरकार टीपू के राज्य के अन्त के सम्बन्ध में वे लिखते हैं - [396]"4मई सन् 1799 को टीपू की (श्रीरंगपट्टन में युद्ध करते हुए) मृत्यु हुई । टीपू की सल्तनत के कई टुकड़े कर दिये गये । अधिकांश भाग कम्पनी को मिला । एक फाँक निजाम के हिस्से में आई। बाकी हिस्से पर मैसूर के पुराने हिन्दू राजकुल का शासन रहने दिया गया ।"

उपर्युक्त विवरणों का सारांश यह है कि पेशवा बाजीराव के मैसूर पर किये गये

आक्रमण में उनकी सेना राजधानी श्री रंगपट्टम् तक पहुँच गयी थी । उस आक्रमण के दौरान मठ भी जला दिये गये थे और ध्वस्त हुए थे । यह घटना 1726-27 ई. की है जिसे शृङ्गेरीमठ के ही ग्रन्थ गुरुवंश काव्यम् में स्वीकार किया गया है । पुनः 1791 ई. में मराठा सेना अंग्रेजों के साथ श्रीरंगपट्टम् तक पहुँच गई थी । इसी युद्धकाल में मराठा सरदार रघुनाथ राव पटवर्द्धन के लमाड़ों ने शृङ्गेरीमठ को विध्वस्त किया यह मराठी इतिहासकार वासुदेव शास्त्री खरे द्वारा प्रकाशित 'ऐतिहासिक लेख संग्रह' से ज्ञात होता है । 1791-92 में टीपू पराजित हुआ था उसका आधा राज्य मराठें, निजाम तथा अंग्रेजों ने बाँट लिया था इसकी पुष्टि सुन्दर लाल के ग्रन्थ से भी होती है। मराठों का राज्य तुङ्गभद्रा के तट तक फैला था ऐसा मराठी विद्वान् न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे ने लिखा है । पेशवाओं का उक्त अवधि में अपने सरदारों पर नियंत्रण नहीं रह गया था वे उच्छृंखल हो गये थे ऐसा प्रसिद्ध मराठी इतिहासकार विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने लिखा है ।

अब बताइये इतिहास ज्ञान शून्य महामण्डलेश्वर जी ! क्या आपका यह पागलों जैसा बकवास नहीं है कि "पेशवाओं का राज्य गोवा में कारवार तक ही था, रघुनाथ राव पटवर्द्धन को शृङ्गेरीमठ लूटने में सफलता नहीं मिली क्योंकि टीपू ने उसको वहाँ से मार भगाया, पेशवाओं ने शृङ्गेरीमठ को मटियामेट नहीं किया ।" 'वाक्कीलक महोदय ने स्पष्टतया शृङ्गेरी के प्रति या उसके उत्कर्ष के प्रति अभी तक दबी दुर्भावना का विकाराल राक्षस स्वरूप अपनी कलम से स्वयं सामने पेश किया' आदि-आदि ।

इतिहास ज्ञान शून्य दुराग्रही महामण्डलेश्वर जी ! विद्वानों और वीरों में सत्य स्वीकार करने की असाधारण क्षमता होती है । यही कारण है कि उपर्युक्त तथ्यों को शृङ्गेरीमठ के विद्वानों तथा वीर मराठा जाति के महान् इतिहासकारों ने स्वयं ही स्वीकार किया है । जिस अहिल्याबाई होल्कर का इतना गुणगान किये हो उनके श्वसुर मल्हार राव होल्कर की 1761 ई. के पानीपत युद्ध में क्या भूमिका थी जाकर कक्षा 7-8 के इतिहास में पढ़ लेना ।

शङ्कराचार्यद्वेषी व्यामोही स्वयंभू शङ्कराचार्य स्थानापन्न महामण्डलेश्वर! तीन आम्नाय मठों में कितनी भेंट चढ़ती है ऐसा प्रतीत होता है कि आप उसी पर बकोध्यान लगाये रहते हैं । अरे इतिहासमतिशून्य एवं विधिज्ञानहीन ! इतना भी नहीं मालूम कि इन सब की देखभाल करने के लिये सम्बन्धित सरकारों ने अधिकारी नियुक्त कर रखें हैं । आप

कौन होते हैं यह प्रश्न करने वाले? ऐसा प्रतीत होता है कि आप भक्तों के द्वारा प्राप्त भेंट आदि का दुर्व्ययन करते हैं तभी ऐसा तीन आम्नाय पीठों के शङ्कराचार्यों के बारे में सोचते हैं क्योंकि आपके अनुसार चोर की नजर में सब चोर ही होता है तथा व्यक्ति अपनी ही दृष्टि से दूसरों को देखता है ।

महापराक्रमी गौरवशाली मराठे मेरा नहीं महामण्डलेश्वर जी आप को ही मटियामेट करेगें क्योंकि आप उनके द्वारा स्वीकृत इतिहास को झूठ बताकर उनका घोर अपमान कर रहे हैं । ऐसा इतिहासज्ञानानभिज्ञ चला है आचार्यशङ्कर के अविर्भाव काल का निर्धारण करने ।

महामण्डलेश्वर महोदय ! एक बार पुनः जाकर शृङ्गेरीमठ को देखें । वह तुलभंद्रगा के तट पर नहीं तुङ्गभद्रा नटी के तट पर अवस्थित है ।

अरे वितण्डेश्वर ! मेरे लिये शृङ्गेरीमठ और वहाँ के शङ्कराचार्य उतने ही सम्माननीय हैं जितने अन्य तीन आम्नाय मठों के शङ्कराचार्य । एक अन्य मठ के लोग उनकी प्रतिष्ठा गिराने में लगे हैं, यदि यह सत्य है तो आवश्यक होने पर आदिशङ्कराचार्य के काल निर्धारण के पश्चात् उन विषयों पर भी निर्णायक पुस्तक शृङ्गेरीमठ की प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु अवश्य लिखूँगा । 'शङ्कराचार्य का आविर्भाव काल' जो वास्तविक सिद्ध हुआ है उसके सम्बन्ध में लिखने के कारण महामण्डलेश्वर आप वितण्डावादी निष्कर्ष निकालकर स्वयं ही शृंगेरी के शङ्कराचार्य जी महाराज की प्रतिष्ठा गिराने में लगे हैं । मेरे लिये तो वे आदिशङ्कराचार्य के स्वरूप हैं जबकि आप के लिये तो वे सुरेश्वराचार्य अथवा हस्तामलकाचार्य या एक महन्त मात्र हैं । ऐसे में विज्ञजन ही निर्णय करें कि कौन उन परमादरणीय सनातनधर्मियों के सार्वभौम गुरु शङ्कराचार्य शृङ्गेरीमठ की प्रतिष्ठा गिराने का प्रयास कर रहा है ?

पूर्वपक्ष-४५

श्री सुरेश्वराचार्य से लेकर किसी भी आचार्य ने अपने नाम के आगे या पीछे शंकराचार्य नहीं लिखा । इसके जवाब में आक्षेपकर्ता कहते हैं कि श्री विद्यारण्यस्वामी ने दृग्दृश्यविवेक में श्रीमच्छंकराचार्य विरचित लिखा है । उसकी आनन्दज्ञान कृत टीका भी है । उस की एक जर्जरित प्रति श्रीमान् जी के पास है । किन्तु श्रीमान् जी !

हमारे पास भी एक पुरानी पुस्तक है । किन्तु अच्छी हालत में है । वहाँ प्रारम्भ में टीकाकार लिखते हैं – "**श्रीमच्छारीककमहाशास्त्रे श्रीमद्भाष्यकारैः प्रतिपादितमर्थं हृदि निधाय प्राण्यनुजिघृक्षया दृग्दृश्यविवेकद्वारा प्राधान्येन त्वंपदार्थशोधनमिदं प्रकरण-मारभनाणः परमकृपानिधिः श्रीभारतीतीर्थगुरुः प्रकरणप्रतिपाद्यमर्थं संक्षिप्य प्रथमश्लोकेन तावद्दर्शयति रूपमिति।**" आप की जर्जरित पुस्तक में यह छूट गया हो तो लिख लेना । अन्त में लिखा है इति **श्रीमत परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदानन्दभारतीतीर्थमुनिवर्यशिष्य ब्रह्मानन्दभारती प्रक्लृप्ता वाक्यसुधा टीका संपूर्णा** । यह भी जीर्ण हो गया तो इसे भी लिखकर जोड़िये । ग्रन्थ लेखक का नाम श्री स्पभारतीर्थ है, विद्यारण्य नहीं । टीकाकार का भी नाम आनन्द भारती तीर्थ है आनन्दज्ञान नहीं । स्व-स्वनाम निर्देश स्पष्ट है । वाक्यसुधा शब्द लिखा है । अतः वाक्यवृत्ति के साथ साम्य होने से किसी ने शंकराचार्यपादविरचित भ्रम से ऊपर से लिखा होगा ।

उत्तरपक्ष-४५

महोदय ! दृग्दृश्यविवेक से सम्बन्धित जो उद्धरण मेरी पुस्तक में दिया गया है वह श्री राजगोपालशर्मा कृत श्रीमज्जगद्गुरुशाङ्करमठविमर्श के पृष्ठ 362 से है स्रोत संदर्भ में इस तथ्य का उल्लेख भी किया गया है । श्रीराजगोपाल शर्मा ने उक्त ग्रन्थ को 1963ई. में प्रकाशित किया था । श्रृंगेरीमठ की प्रतिष्ठा रक्षणार्थ कामकोटि पीठ काञ्ची के विरुद्ध मुख्यतः वह पुस्तक लिखी गयी है जिसमें आचार्य शङ्कर का आविर्भाव काल 684 ई. सन् सिद्ध किया गया है । आप तो मिथ्यावादी सिद्ध हो ही चुके हैं अतएव श्री राजगोपाल शर्मा के उक्त उद्धरण को ही सच मानना श्रेयस्कर होगा । जर्जरित प्रति श्री राजगोपालशर्मा के पास है सम्भवतः यह उन्हें श्रृंगेरीमठ से प्राप्त हुई थी । शर्मा जी का पता है 51, हनुमानघाट, वाराणसी-221001 । श्रीमान् जी उनके पास जाकर अपनी अपेक्षाकृत नवीन प्रति में संशोधन कर लीजिए ।

[397]श्रीमद्दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम जी ने लिखा है कि नृसिंहतापनीयोपनिषद् में ही तन्त्रों तथा प्रपञ्चसार के प्रमाण मिलते हैं। इस उपनिषद् के शाङ्करभाष्य में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ विशेष रूप से पायी गयी हैं। अतः यह भी शंकराचार्य जी कृत नहीं

है ।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि अनेक ग्रन्थ जो शंकराचार्य जी विरचित कहलाते हैं उनमें से बहुत से परवर्ती शङ्कराचार्यों के द्वारा विरचित हैं जिन्हें पश्चात्कालीन प्रतिलिपिकार आदि शंकराचार्य कृत मान बैठे । उपर्युक्त भाष्यों के आदिशङ्कराचार्य कृत न प्रमाणित होने से यह स्वतः स्पष्ट है कि वे शंकराचार्य उपाधिधारी परवर्ती शंकराचार्यों के ग्रन्थ हैं जिससे इस बात पर सन्देह करने का कोई अवकाश नहीं रह जाता कि आदि शंकराचार्य के बाद से ही चार आम्नाय मठों के आचार्य शंकराचार्य पदवी धारण करते चले आ रहे हैं ।

महामण्डलेश्वर जी क्या एक ही नाम से दो भिन्न-भिन्न पुस्तकें दो भिन्न-भिन्न लेखकों के द्वारा नहीं लिखी जा सकती तथा एक ही पुस्तक का दो या दो से अधिक नाम नहीं हो सकता ?

संस्कृत साहित्य के इतिहास में डॉ. वाचस्पति गैरोला ने लिखा है [398]"भाष्कर कवि ने एक नाटक 'उन्मत्त राघव' लिखा । भाष्कर का अपर नाम जैसा कि नाटक में भी लिखा हुआ है, विजयनगर का सुप्रसिद्ध विद्वान् विद्यारण्य ही था । .... हरिहर द्वितीय के पुत्र विरूपाक्ष ने भी एक एकांकी इसी नाम से (उन्मत्त राघव) लिखा ।"

बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तरम्, वैपुल्यसूत्र, महानिदान, महाव्यूह आदि नामों से तथा सद्धर्म पुण्डरीक लंकावतार सूत्र के नाम से भी जाना जाता है । गोस्वामी तुलसीदासकृत 'श्रीरामचरितमानस' सामान्य जन के द्वारा रामायण के नाम से ही जाना जाता है । इसी प्रकार से स्वामी विद्यारण्य मुनि कृत 'जीवन्मुक्त विवेक' नामक ग्रन्थ 'दृग्दृश्यविवेक' नाम से भी प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ महामण्डलेश्वर जी के द्वारा उद्धृत तथाकथित 'दृग्दृश्यविवेक' से भिन्न है । इस ग्रन्थ का उल्लेख [399]संस्कृत वाङ्मय कोष तथा [400]विजय नगर नामक आङ्लपुस्तक में किया गया है ।

पूर्वपक्ष-४६

आक्षेपकारी के पास और एक प्रमाण देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र की एक पंक्ति है । इसे वे विद्यारण्यस्वामीविरचित कहते हैं । शायद श्रीविद्यारण्यस्वामी से आक्षेप्ता पूछकर आये होंगे । या सपने में बात हुई होगी ।

"आगमिष्यति यत्पत्रं तदस्मांस्तारयिष्यति"

न्याय से वही आप का उद्धारक एक रह गया है । वहाँ लिखा है-

"मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि"

पचासी वर्ष तक आचार्य रहे नहीं तो पञ्चाशीतेरधिकमपनीते यह संगत नहीं हो सकता । यद्यपि ये सब स्तोत्र आचार्यरचित हैं इस बात को ही बहुत से विद्वान् नहीं मानते तथापि मैं स्वयं उस पक्ष का समर्थक नहीं हूँ । फिर भी विचार तो आवश्यक है । इन क्षमापन श्लोकों में दो अशुद्धियां है । "परित्यक्त्वा देवान्" यहाँ तीन नकार और उनका समुच्चय अनन्वित है । तथापि मैं स्वयं इन स्तोत्रों को आचार्य रचित ही मानता हूँ । 'परित्यक्त्वा देवान्' की जगह 'परित्यक्ता देवाः' पाठ मान लेना चाहिए । न च विभववांछापि च न मे की जगह भवविभववांछापि च न मे कर देना चाहिये ऐसा संत लोग मानते हैं। परंतु न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो" ऐसा आचार्य कैसे लिख सकते हैं, जबकि प्रपंचसार जैसे तन्त्रग्रन्थ स्वयं आचार्य ने लिखा ? क्या यह सब झूठ लिख रहे हैं ? परन्तु यह प्रश्न विद्यारण्य स्वामी के सामने भी आयेगा । उनका भी एक तन्त्र ग्रन्थ है । और वे इतने विद्वान थे कि न मन्त्रं न यन्त्रं इत्यादि विश्वसनीय नहीं हो सकता । कुछ लोग सायणभाष्यकार इन्हीं को मानते हैं ।

वास्तविक बात यह है कि जैसे " **भजगोविन्दं भज गोविन्दं**" ऐसा आचार्य ने एक वृद्ध के उद्धार के लिए कहा वैसे एक दूसरे वृद्ध ने आचार्य से कहा - भगवन् ! मैं अज्ञानी हूँ, देवीभक्त हूँ, मेरे लिये एक स्तोत्र बता दीजिये जिस का पाठ करता-करता शेष जीवन पवित्र करूं तो कृपानिधि आचार्य ने "**न मन्त्रं नो यन्त्रं**" इत्यादि स्तोत्र बनाकर उस वृद्ध को दिया जो पचासी वर्ष से अधिक उमर का था । और उस वृद्ध को कृतार्थ किया । लोकोद्धारार्थ लोकप्रतिनिधि के रूप में ऐसा आचार्य ने लिखा, ऐसा भी मत है । अतः आक्षेपकर्त्ता महोदय ने एतदर्थ (बाद वाले भी शङ्कराचार्य लिखते इस के निराकरणार्थ) जो भी कुछ लिखा वह सब खरगोश के सींग की गणनाकार्य से अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

उत्तरपक्ष-४६

श्रृङ्गेरीमठाभिमानी विद्वान् श्री राजगोपाल शर्मा ने अपने ग्रन्थ श्रीमज्जगद्गुरुशाङ्करमठ

विमर्श में लिखा है कि - [401]श्री विद्यारण्य रचित 'देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' (इस स्तोत्र को आचार्य शङ्कर रचित कहते हैं पर यह भूल है) में अपने को पचासी वर्षों से भी अधिक जीवित रहने का उल्लेख किया है - 'मयापञ्चाशीतेरधिकपमनीते तु वयसि' ।

श्रीमद्दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम जी ने अपने ग्रन्थ में लिखा है - [402]"श्रृङ्गेरी की परम्परानुसार श्री विद्यारण्य स्वामी जी का जन्म वि०सं० 1217 तथा ब्रह्मलीनत्व वि०सं० 1308 में हुआ था । इस प्रकार उन्होंने 91 वर्ष की आयु में शरीर छोड़ा । 'देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र' की रचना विद्यारण्य स्वामी जी की है । चूँकि आद्यशङ्कर 32 वर्ष की आयु में ब्रह्मीभूत हो गये थे । अतः यह उनकी रचना नहीं हो सकती । विद्यारण्य स्वामी जी ने 91 वर्ष में शरीर छोड़ा इसलिये यह उन्हीं की रचना है ।"

महामण्डलेश्वर जी ने भी अनजाने में 'देव्यपराधक्षमापन स्तोत्र' में दो अशुद्धियाँ निकालकर यह सिद्ध कर दिया कि यह आदि शङ्कराचार्य की रचना नहीं है । शृंगेरी मठ के शङ्कराचार्य स्वामी विद्यारण्य (पूर्वाश्रम नाम माधवाचार्य) द्वारा रचित श्रीशङ्करदिग्विजय में व्यास जी का वचन लिपिबद्ध किया गया है । यथा -

[403]**[illegible]सा मीमांसकानामपि मुख्यभूतो वेत्थाखिलव्याकरणानि विद्वन् ।**
विनिःसरेत्ते वदनाद्यतीन्द्रो गोविन्दशिष्यस्य कथं दुरुक्तम् ॥

अर्थात् (व्यास जी ने शङ्कराचार्य जी से कहा) हे विद्वन् ! तुम मीमांसकों में भी मुख्य हो, सम्पूर्ण व्याकरण को जानते हो । हे यतिराज ! तुम तो गोविन्द के शिष्य हो । तुम्हारे मुख से अशुद्ध पद कैसे निकल सकता है?

अब बताइये महामण्डलेश्वर जी ! यदि हम उप[illegible]क्त स्तोत्र को आचार्य शङ्कर की रचना मान लेंगे तो व्यास का उपर्युक्त अभिकथन असत्य सिद्ध नहीं हो जायेगा ? जबकि आचार्य शङ्कर सम्पूर्ण व्याकरण के ज्ञाता तथा कभी भी अशुद्ध पद न बोलने वाले कहे गये हैं ।

पचासी वर्ष से अधिक की आचार्य की उम्र से सम्बन्धित जो पंक्ति है उसकी सफाई में पूर्वपक्षी ने कहा है कि - 'एक वृद्ध ने आचार्य से कहा भगवन् ! मैं अज्ञानी हूँ, देवीभक्त हूँ । मेरे लिए एक स्तोत्र बना दीजिये जिसका पाठ करते करते शेष जीवनपवित्र करूँ तब कृपानिधि आचार्य ने उपर्युक्त श्लोक बनाकर उस वृद्ध को दिया जो पचासी वर्ष से अधिक आयु का था तथा वृद्ध को कृतार्थ किया' । - निश्चय ही महामण्डलेश्वर जी इस घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी रहे होंगे ? अथवा उक्त ब्राह्मण महामण्डलेश्वर जी

को स्वप्न में आकर बता गया होगा या महामण्डलेश्वर जी अपने योगबल से स्वयं उस वृद्ध की आत्मा से साक्षात्कार कर इस घटना की विस्तृत जानकारी ले आये होंगे ।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें यह जानकारी दिवास्वप्न में मिली थी जिसके कारण उक्त घटना पर महामण्डलेश्वर जी की दृढ़ प्रतीति नहीं हुई । एतएव उन्होंने दूसरा विकल्प यह दिया कि "लोकोद्धारार्थ लोकप्रतिनिधि के रूप में ऐसा आचार्य ने लिखा, ऐसा भी मत है ।" सम्भवतः यह मत किसी ब्रह्मराक्षस ने महामण्डलेश्वर जी को बताया होगा । परन्तु महामण्डलेश्वर जी उस ब्रह्मराक्षस से यह पूछना भूल गये थे कि क्या लोक में उस समय सभी लोग पचासी वर्ष से अधिक उम्र वाले ही थे जो आचार्य ने लोकोद्धारार्थ प्रतिनिधि के रूप में अपनी उम्र पचासी वर्ष से अधिक लिख गये?

दूसरों को बुढ़ियायों की कहानी गढ़ने वाला कहने वाले महामण्डलेश्वर जी ! आपने तो यह बुढ़ियातीत कहानी कह डाली ।

स्थापित वितण्डेश्वर महोदय निश्चित ही यह जानते थे कि वे मिथ्या बोल रहे हैं इसीलिए अन्त में उन्होंने स्वयं आचार्य शङ्कर की उम्र को ही पचासी वर्ष से अधिक मानकर उनका नवीन आविर्भाव काल 795 ई. से 890 ई. बता दिया । उन्हें इसका ख्याल भी न रहा कि उनकी मुख्य प्रतिज्ञा थी कि आचार्य शङ्कर का आविर्भाव काल 788 से 820 ई. सन् था ।

ऐसे-ऐसे अस्थिर चित्त, चंचल मति, अनिश्चयपूर्ण मस्तिष्क वाले व्यक्ति चले हैं आचार्य शङ्कर के काल का निर्धारण करने । अहो दुर्भाग्य !

पूर्वपक्ष-४७

श्री सुरेश्वराचार्यादि किसी ने भी अपने नाम के साथ शङ्कराचार्य पदवी या नाम नहीं जोड़ा । इस बात पर आक्षेप्ता कि मान्यता यह दीखती है कि आदि शङ्कराचार्य ने ही मना किया था । यह कितना हास्यास्पद है । स्वयं पद देकर उसे लिखने के लिए मना करें । यदि लिखना अनुचित कार्य है तो इतना समझने की शक्ति क्या सुरेश्वरादि में नहीं थी? माना कि आचार्य ने उन को मना किया, किन्तु उनके बाद के सौ पचास पीठाधिपतियों ने क्यों नहीं लिखा? यदि सब के लिए निषेध किया तो आजकल वाले क्यों लिखते हैं और बोलते हैं? चारों पीठों पर मिलाकर ढाई तीन सौ नाम दीख रहे

हैं। इनमें बहुत से ग्रन्थलेखक भी रहे होंगे। किन्तु उपलभ्य किसी भी ग्रन्थ में शङ्कराचार्य नहीं लिखा है। ई. पू. ४७५ और ई. ४९७ में नेपाल में जानेवाले दो शङ्कराचार्यों का नाम आक्षेप्ता कहते हैं। ई. पू. ४७५ तो आपके मत में आचार्य का प्रयाणवर्ष था। उस समय श्रीसुरेश्वराचार्यादि चार ही शङ्कराचार्य विद्यमान थे। उनमें से ही एक नेपाल गया होगा तो अपना मुख्य नाम दिये बिना एक शङ्कराचार्य ऐसे अज्ञातनामा के रूप में जाना बड़े आश्चर्य की बात होगी। इधर मुर्दा पड़ा है, उधर प्रधानमन्त्री की कुर्सी के लिए खीचा तानी हो रही है ऐसा आजकल सुनने में आता है। क्या इसी प्रकार सुरेश्वरादि दिन गिन रहे थे कि कब भगवत्पाद प्रयाण करें और हम शङ्कराचार्य बनकर निरीक्षण यात्रा करें। फिर भी अभिनव सच्चिज्ञानानन्द तीर्थ शङ्कराचार्य जैसे अपना नाम जोड़कर शङ्कराचार्य लिखा जा सकता था। अतः नेपाल की उक्त बात यदि सत्य है तो अन्य ही कोई शङ्कर नाम का आचार्य उस समय नेपाल गया होगा। नर्मदा किनारे एक आचार्य सुरेश्वरानन्द जी हुए। उनको सब लोग सुरेश्वराचार्य पुकारते थे। हमारे आश्रम में एक शङ्करानन्द आचार्य प्रवचनार्थ आते थे। लोग उनको शङ्कराचार्य बोलते थे। वैसी यह घटना भी है। और आक्षेप्ता के मत में आचार्य कार्तिक मास शुक्ल पक्ष में कैलाशवासी हुए। वह समय नवम्बर दिसम्बर पड़ता है। तो एक महीने में पैदल पैदल कौन पीठाचार्य नेपाल पहुँचा होगा? उसके बाद तो ई. पू. ४७४ हो जाता है। एक साल में आचार्य भगवत्पाद नेपाल की तराई में नहीं पहुँच सके थे। जहाँ बुद्ध ने शरीर त्यागा था। सब आश्चर्य ही आश्चर्य है। आचार्य का कैलाश गमन होते ही इन चारों में से कोई एक आचार्य मठ से भागा होगा। हाफते हाफते नेपाल पहुँचकर पूछा होगा। व्यवस्था बराबर है न? हाँ उत्तर मिला होगा। तब भाग-भागकर वापिस आया होगा। क्योंकि यहाँ मठ भी जो संभालना रहा। यही एक समाधान संभव है। पर नेपाल का ही फिकर क्यों हुआ? रास्ते में और भी कई देश पड़ रहे थे। वहाँ यदि घूम-घूमकर पूछते हुए जाते तो ई. पू. ४७५ निकल जाता। नेपाल में ४७५ में नाम दर्ज करना जरूरी रहा होगा। भागते समय भूख न हो, थकावट न हो इसके लिए अपामार्गादि की खीर और सुवण भस्मादि खाया होगा।

दूसरा एक तरीका यह हो सकता है कि ई. पू. ४७५ कार्तिक पूर्णिमा को श्री सुरेश्वरादि में कोई नेपाल के बार्डर पर पहुँचे रहे होंगे। दिव्य श्रोत्र से उनको आचार्य

के कैलाश गमन की खबर मिली होगी । फट् से अपने बेनर पर से स्वनाम हटाकर शङ्कराचार्य लिख डाला होगा । फिर भी उसी रोज गद्दी पर बैठना जरूरी होने से कैसे गद्दी तक पहुँचे? इसके लिए तो "कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूल समपत्तेश्चाकाशगमनं" एक ही उपाय रह जाएगा । क्योंकि शङ्कराचार्य लिखने की परम्परा आदि शङ्कराचार्य के कैलाश गमन के दिन से चली आ रही है । ऐसा आक्षेप्ता का कथन है । यह सब कहीं लिखा हो तो गतानुगतिक रूप से लिखा जा सकता है । वर्तमान में कोई इतिहास लेखक स्वयं कल्पना पर लिखें तो यह किसी को भी मान्य नहीं हो सकता ।

अतः ई. पू. ४७५ में नेपाल में शङ्कराचार्य के जाने की बात यदि सत्य है तो वे भगवत्पाद शङ्कराचार्य से अन्य ही शङ्कर नाम के कोई पूर्वाचार्य ही होंगे । क्योंकि उपाधि रूप से शङ्कराचार्य लिखना हो तो अपना असली नाम पहले या बाद में लिखना भी आवश्यक है । जैसे अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ शङ्कराचार्य या शङ्कराचार्य अभिनव सच्चिदानन्दतीर्थ इत्यादि ।

उत्तरपक्ष-४७

ऐसा प्रतीत होता है कि महामण्डलेश्वर जी के मस्तिष्क का दिवाला पिट गया है । विज्ञजन मेरी पूर्व पुस्तक के पृष्ठ 22 पर प्रकाशित अंश को देखें जिसे त्वरित सन्दर्भ हेतु यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

"शङ्कराचार्य उपाधि का प्रादुर्भाव तो आदि शङ्कराचार्य के कैलाशगमन के दिन से ही ई. पू. 475 वर्ष से मठाम्नाय महानुशासनम् के निर्देशानुसार हुआ । नेपाल के राजा वृषदेववर्मा तथा वरदेव के शासनकाल में शङ्कराचार्यों के नेपाल जाने का उल्लेख है। राजा वृषदेववर्मा की जिस समय मुत्यु हुई थी उसी समय आदि शङ्कराचार्य नेपाल ई. पू. 487 में पहुँचे थे । एक अन्य शङ्कराचार्य राजा वरदेव के शासनकाल में कलि संवत् 3623 तुल्य ई. सन् 521 में नेपाल यह देखने गये थे कि आदि शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित व्यवस्था वहाँ चल रही थी कि नहीं । अभिलेखों के आधार पर राजा वरदेव की उपस्थिति ई. सन् 297 सिद्ध होती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कराचार्य की उपाधि का प्रचलन बहुत पहले से है ।"

नेपाल से सम्बन्धित विवरण के बारे में स्रोत सन्दर्भ में यह बता दिया गया था कि उक्त विवरण मुंशी शिवशङ्कर व पं. गुणानन्द द्वारा अनूदित नेपाल का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ नेपाल) के पृष्ठ 102-3 व इण्डियन एण्टीक्वेरी खण्ड 13 के पृष्ठ 412-13 के प्रमाणों से पुष्ट है। मुंशी शिवशङ्कर व पं. गुणानन्द द्वारा नेपाल पर्वतीय भाषा से नेपाल के इतिहास का अनुवाद आंग्ल भाषा में किया गया था जो सर्वप्रथम 1877 ई. सन् में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार डॉ. भगवान लाल इन्द्र जी व डॉ. वुह्लर का लेख 'द सम कन्सीडरेशन ऑन द हिस्ट्री ऑफ नेपाल' इण्डियन इण्टीक्वेरी के उक्त खण्ड में दिसम्बर 1884 ई. में प्रकाशित हुआ था।

महामण्डलेश्वर जी अपने मस्तिष्क का दिवालियापन यह कहकर प्रकट करते हैं कि मैंने ई. पू. 475 व ई. 497 में नेपाल जाने वाले दो शङ्कराचार्यों का नाम कहा है। और इसी विभ्रमकारी अवधारणा के ऊपर महामण्डलेश्वर जी ने प्राचीन पूज्य आचार्यों के सम्बन्ध में पागलों जैसा अनर्गल अपलाप कर शङ्कराचार्यों के प्रति अपने अन्दर दबी हुई विकराल राक्षसी भावना को लेखनी द्वारा मूर्तरूप दिया है। वास्तविकता तो यह है कि आदि शङ्कराचार्य नेपाल ई. पू. 487 में जिस समय गये थे उसी समय नेपाल नरेश वृषदेव वर्मा की मृत्यु हो गई थी। उनकी रानी उस समय आसन्नप्रसवा थी। आचार्य के आशीर्वाद से उन्हें एक पुत्र हुआ जिसका नाम रानी ने शङ्करदेव वर्मा रख दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसी राजा वृषदेव वर्मा की मृत्यु से सम्बन्धित विवरण को मस्तिष्क ठीक से न काम करने के कारण महामण्डलेश्वर जी ने आचार्य का ही कैलाशगमन काल मान लिया और वर्ष भी 487 ई. पू. के स्थान पर 475 ई. पू. मानंकर मूर्खता की हद करते हुए एक सनकी व्यक्ति जैसा प्रलाप किया।

शङ्कराचार्य उपाधि लिखना आचार्यों ने निश्चित रूप से आचार्य के कैलाशगमन के दिन से शुरु किया क्योंकि मठाम्नाय महानुशासनम् जो कि महाराज सुधन्वा के ताम्रपत्र के बाद की रचना सिद्ध होती है में, आचार्य ने लिखा है -

[304]**अस्मत्पीठसमारूढः परिव्राडुक्तलक्षणः।**
अहमेवेति विज्ञेयो यस्य देव इति श्रुतेः॥

तात्पर्य यह कि विहित लक्षणों से युक्त मेरे पीठ पर अधिष्ठित संन्यासी को 'मुझे ही' समझना चाहिए 'यस्यदेव' श्रुति (श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/23) इस कथन के तात्पर्य बोध हेतु प्रमाण है।

इससे स्पष्ट है कि आदि शङ्कराचार्य ने अपने कैलाशगमन के बाद की स्थिति हेतु यह व्यवस्था दी थी कि आचार्य के पश्चात् उनके पीठों पर विधिवत् अभिषिक्त विहित लक्षणों से युक्त परिव्राजक शङ्कराचार्य माने जायेंगे । वर्तमान् काल में भी राष्ट्रपति का चुनाव एक राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि में ही हो जाता है परन्तु नवनिर्वाचित व्यक्ति पदासीन राष्ट्रपति के कार्यकाल की समाप्ति के बाद ही 'राष्ट्रपति' अपने को लिखता है । संसद द्वारा पारित अधिनियम भी तत्काल लागू नहीं होते उनके लागू होने की तिथि राजपत्र में प्रकाशित करने के बाद ही वे लागू होते हैं । कभी-कभी एक ही अधिनियम की अलग-अलग धाराओं के लागू होने की तिथियाँ अलग-अलग तय की जाती है । इसी प्रकार आचार्य के उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि आचार्य द्वारा अभिषिक्त चारों शिष्यों को आचार्य ने अपने कैलाश गमन के पश्चात् शङ्कराचार्य पदवी धारण करने की पूर्व आज्ञा दे रखी थी ।

यह तथ्य वर्तमान काल में प्रत्येक इतिहासविद् एवं विधिवेत्ता को मान्य है कुछ सिरफिरे व्यक्तियों को छोड़कर । महामण्डलेश्वर जी कहते हैं केवल नेपाल में ही नाम अङ्कित कराने क्यों गये? इतिहासज्ञान शून्येश्वर महामण्डलेश्वर महोदय, थोड़ा डॉ0 रमेशचन्द्र मजुमदार आदि इतिहासकारों के ग्रन्थों को पढ़िये आपको इसका उत्तर मिल जायेगा । उन सब विद्वानों ने लिखा है कि [405]इस समय भारत प्रायद्वीप में मात्र नेपाल तथा कश्मीर ही ऐसे दो राज्य हैं जिनके पास कलियुग के आरम्भ से अबतक का लिखित इतिहास वृत्तान्त उपलब्ध है । तात्पर्य यह कि आचार्य गये तो बहुत राज्यों में थे परन्तु उन राज्यों का उसकाल का इतिहास अप्राप्य हो जाने के कारण मात्र कश्मीर एवं नेपाल राज्यों के प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों में आचार्य का नाम सम्प्राप्त है ।

प्रथम चार शङ्कराचार्य पदवीधारी चार आम्नाय पीठों के आचार्यों को - 'आचार्य का मुर्दा पड़ा रहने पर कुर्सी के लिए खींचातानी करने वाला, आचार्य के कैलाशगमन के पश्चात् मठ से भाग कर हाँफते हाँफते नेपाल पहुँचने वाला, नेपाल के बार्डर पर दिव्यश्रोत्र से आचार्य के कैलाशगमन की खबर प्राप्त करने वाला, फट् से अपने बेनर पर से स्वनाम हटाकर शङ्कराचार्य लिख डालने वाला, अपामार्गादिखीर आदि खाने वाला '- इत्यादि कहने वाला सच्चा शाङ्कर सम्प्रदायी नहीं माना जा सकता । ऐसा व्यक्ति तो छद्मवेशी तथा आस्तीन का साँप ही समझा जा सकता है - इस सब का निर्णय अब स्वयं शाङ्कर सम्प्रदायी तथा विद्वत्गण ही करें ।

पूर्वपक्ष-४८

मठाम्नायोपनिषत् के अपौरुषेयत्वपक्ष को लेकर समय-समय पर शङ्कराचार्य एवं सुरेश्वराचार्यादि हुए, चारों पीठों के आचार्य शङ्कराचार्य, प्रत्येक के सुरेश्वराचार्यादि। इस पर आक्षेप्ता का कहना है कि चारों के अधिपति आदिशङ्कराचार्य भी नहीं थे। ई. पू. ४९२, ४९०, ४९० और ४८६ में क्रमशः उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व मठों की स्थापना हुई। वहां चार का अभिषेक क्रमशः ४८४, ४८९, ४८४ और ४२६ ई.पू. हुआ।

इस प्रश्न का कि श्री सुरेश्वराचार्यादि किसी ने शङ्कराचार्य अपने को नहीं लिखा तो कैसे माना जाये कि पीठस्थ जो होंगे वे शङ्कराचार्य होते हैं, आक्षेप्ता का उत्तर है आदिशङ्कराचार्य ने उनके जीवन समय में उन्हें शङ्कराचार्य पद नहीं दिया। आचार्य के कैलाशगमनोत्तर वे एवं पीठस्थ होने वाले स्वयं उनकी प्रतिमूर्ति ही समझे जायेंगे ऐसा महानुशासन में कहा है। शङ्कराचार्य पद न होने का मतलब है शङ्कराचार्यपदाभिषिक्त नहीं किया। केवल महन्त बनाया। अभिषेक के बाद तत्पद प्रयोग न करने का कोई तुक नहीं है। शङ्कराचार्य के जीवन काल में शङ्कराचार्यपदाभिषिक्त नहीं हुए तो आचार्य के कैलाशगमनोत्तर उन पीठों पर चारों को किसने शङ्कराचार्य बनाया। कैलाशगमनकाल में आचार्य किसी मठ में नहीं थे। वे केदार में थे। तो क्या सप्तलोकोर्ध्व कैलाश से वे वापिस आये इन चारों को अभिषिक्त करने के लिये? शङ्कराचार्यों को तो प्रथमतः शङ्कराचार्य ही बनाते हैं। जैसे मण्डलेश्वर गद्दी पर किसी को बैठाते हैं तो तत्कालविद्यमान कोई मण्डलेश्वर ही बैठाता है यही संन्यासी सम्प्रदाय का रिवाज है। कोई भी मण्डलेश्वर न रहा तो समाज सर्वसम्मति से बैठायेगा। प्रतिमूर्ति का मतलब और मानने या समझने का मतलब हम पूर्व ही बता चुके हैं। पिता की प्रतिमूर्ति पुत्र है कहने पर पिता का ही नामरूपादि पुत्र का नहीं होता। और समझना मानना इत्यादि का आरोपादि मात्र अर्थ होता है। वह वस्तुतन्त्र नहीं, पुरुषतन्त्र होता है। पुत्र ने पिता को भगवान् माना तो पिता स्वयं शंखचक्रगदापद्मधारी भगवान् नहीं होता और न अपने को भगवान् समझता है। भगवत्पाद तो श्री सुरेश्वरादि को आगे बढ़ाने के लिये तत्तत्पीठाचार्य बनाया। किन्तु आजकल के पीठाधीशों ने तो सुरेश्वराचार्यादि नाम ही लुप्तप्राय किया। जनता को मालूम ही नहीं है कि सुरेश्वराचार्यादि

कौन हैं । और शङ्कराचार्य नाम को भी खिलवाड़ जैसा बना लिया है । गांवों में बच्चे भी बोलते हैं ये शङ्कराचार्य बैठे हैं । यह शङ्कराचार्य आ रहा है इत्यादि । दक्षिणदेश में आचार्यानुयायी सभी भाष्यकार शब्द का ही प्रयोग करते हैं। भाष्यकार अन्य भी बहुत हैं । किन्तु भगवत्पाद में वह रूढ़ सा हो गया है ।

उत्तरपक्ष-४८

मठाम्नायोपनिषद् नामक कोई ग्रन्थ चार आम्नाय मठों द्वारा प्रामाणिक नहीं माना जाता । इस नाम का एक लघुउपनिषद् मोतीलाल बनारसी दास के 'उपनिषत् संग्रह' में प्रकाशित किया गया है परन्तु इसकी प्रामाणिकता चारों आम्नाय मठों को स्वीकार्य नहीं है । चारों आम्नाय मठों द्वारा इस सन्दर्भ में मान्य प्रामाणिक ग्रन्थ आचार्य कृत मठाम्नाय-महानुशासनम् है जो कि आचार्यकृत होने के कारण स्मृति-तुल्य है । माननीय उच्चन्यायालय पटना ने मूल डिक्री सं. 3 वर्ष 1931 ई. से उत्पन्न अपील का 19 नवम्बर 1936 ई. को निस्तारण करते हुए लिखा है कि चार मठों - शारदामठ द्वारका, ज्योतिर्मठ, गोवर्द्धनमठ तथा शृङ्गेरीमठ की उत्पत्ति तथा सिद्धान्तों को शासित करने वाला शास्त्र मठाम्नाय-महानुशासनम् है जो कि हिन्दुओं के द्वारा लिखित प्रमाण माना जाता है।

राजा सुधन्वा के ताम्रपत्र, विमर्श ग्रन्थ, शङ्कराचार्य नो समय पुस्तक, श्री शङ्कराचार्य चरित्रम् पुस्तक, राजा सर्वजित् वर्मा के ईसवी सन् की नवम सदी के ताम्रपत्र आदि से निःसन्देह प्रमाणित होता है कि श्री सुरेश्वराचार्य का द्वारका-शारदापीठ के आचार्य पद पर माघ शुक्ल सप्तमी युधिष्ठिर शक संवत् 2649, श्री हस्तामलकाचार्य का शृङ्गेरीमठ व श्री तोटकाचार्य का ज्योतिर्मठ के आचार्य पदों पर अभिषेक एक ही दिन पौष शुक्ल पूर्णिमा युधिष्ठिर शक सम्वत् 2654 तथा श्री पद्मपाद का गोवर्द्धनमठ के आचार्यपद पर अभिषेक वैशाख शुक्ल दशमी युधिष्ठिर शक संवत् 2655 में आचार्य शङ्कर द्वारा स्वयं किया गया था । ये तिथियाँ ई. सन् पूर्व वर्ष 489, 484, 484 व 483 निश्चित होती हैं । मुद्रण की अशुद्धिवश मेरी पूर्वपुस्तक में पद्मपादाचार्य के अभिषेक का वर्ष ई.पू. 486 छप गया है जो कि वस्तुतः ई.पू. 483 है । महामण्डलेश्वर जी ने जो पद्मपादाचार्य के अभिषेक की तिथि 426 ई.पू. लिखा है सम्भवतः वह भी मुद्रणप्रमाद ही है क्योंकि मेरी पूर्व पुस्तक में यह तिथि नहीं लिखी गई है । कालान्तर

में ई.पू. 475 में अपने जीवनकाल के अन्तिम दिनों में लिखित मठाम्नाय-महानुशासनम् के सम्बन्धित श्लोक जिसे पूर्व में उद्धृत किया जा चुका है, के द्वारा आचार्य शङ्कर ने अपने बाद उन चारों आचार्यों को शङ्कराचार्य पदवी धारण करने का प्राविधान किया जिसका अनुपालन उनके शिष्यों तथा भारतीय नरेशों व जनता ने किया ।

चार आम्नाय पीठों के शङ्कराचार्यों को सर्वप्रथम महन्त की उपाधि प्रस्तावित करने का दुस्साहस करने वाले महाव्यामोहेश्वर महामण्डलेश्वर जी लगता है कि हीनताबोधग्रन्थि से ग्रसित आप विद्वेष की ज्वाला में दग्ध होकर अपनी बुद्धि को राख बना चुके हैं जिसके कारण आप पागलों जैसा अनाप शनाप जो जी में आ रहा है वही शङ्कराचार्यों के विरुद्ध बक रहे हैं अन्यथा इन सब बातों का आचार्य के काल निर्धारण से तो दूर का भी सम्बन्ध नहीं है ।

अरे दोमुहे महामण्डलेश्वर ! एक तरफ तो शृङ्गेरीमठ की तरफदारी करने का ढोंग करते हो, दूसरी तरफ कहते हो कि आजकल के पीठाधीशों ने तो सुरेश्वराचार्य आदि का नाम ही लुप्त प्राय कर दिया है । सम्भवतः श्रीमान् भांग अधिक खा गये थे जिससे उन्हें यह भी न याद रहा कि सुरेश्वराचार्य को शृङ्गेरीमठ के लोग वहाँ का पहला आचार्य मानते हैं और यह आक्षेप उन्हीं के ऊपर जायेगा । एक परिव्राजक होकर ऐसा अभिकथन यह सिद्ध कर रहा है कि गिरिनामधारी महामण्डलेश्वर को संन्यास के समय समुचित उपदेश नहीं प्राप्त हुआ था । जिस आम्नाय मठ की परम्परा में एक संन्यासी संन्यास आश्रम को ग्रहण करता है उस दिन उसे उक्त मठ का गोत्र, वेद तथा प्रथम शङ्कराचार्य यानी सुरेश्वरादि का नाम भी बताया जाता है ।

ऐसा लगता है कि महामण्डलेश्वर महोदय को शङ्कराचार्यों के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं है अन्यथा वे क्योंकर कहते कि आज कल के पीठाधीशों ने तो सुरेश्वराचार्यादि का नाम ही लुप्तप्राय कर दिया है । शङ्कराचार्यों की प्रत्येक सार्वजनिक सभा में आचार्यवन्दनात्मक मंगलाचरण पढ़ा जाता है जिसमें सुरेश्वराचार्यादि का नाम भी पठित है यथा -

[406]नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरुन्सन्ततमानतोऽस्मि ॥

शङ्कराचार्यों के यहाँ शास्त्राध्ययन से पूर्व आचार्य और शिष्यगण इस मङ्गलाचरण का उच्चारण सर्वदा करते हैं ।

शङ्कराचार्य पद की आज भी उच्च गरिमा है । जहाँ पर वे जाते हैं प्रशासन लालबत्ती युक्त पायलट वाहन एवं समुचित सुरक्षा प्रदान कर उन्हें राजकीय अतिथि के तुल्य सम्मान प्रदान करता है । ऐसे में कोई शङ्कराचार्यों का घोर विद्वेषी तथाकथित व्यामोहग्रस्त स्वयंभू स्थानापन्नशङ्कराचार्य महामण्डलेश्वर ही यह कह सकता है कि उन्होंने शङ्कराचार्य पद को खिलवाड़ जैसा बना लिया है ।

चारों शङ्कराचार्यों के प्रति पूरे देश में अत्यधिक सम्मान है । वे कहीं भी पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ही जाते हैं । जहाँ वे पहुँच जाते हैं जनता उनके दर्शन कर अपने को धन्य मानती है । अब तो अज्ञान एवं मूर्खता की भी सीमा का महामण्डलेश्वर जी अतिक्रमण कर गये लगते हैं । उनके इस घोर अपराध के उपचार का दायित्व मैं विज्ञ विद्वज्जनों और शाङ्करपीठानुयायियों पर छोड़ता हूँ ।

पूर्वपक्ष-४९

आक्षेपकर्ता लिखते हैं- "बाद के पीठासीनों को शङ्कराचार्य की प्रतिमूर्ति मानकर ऋषिगण प्रणाम करते थे । शायद श्रीमान् जी उसे प्रत्यक्ष देख रहे थे । प्रतिमूर्ति समझना यह मानसक्रिया है शायद श्रीमान् जी अन्तर्यामी भी हैं, जो मानस भाव को भी प्रत्यक्ष देख रहे थे । किसी लेखक ने ऐसा लिखा हो तो वह चापलूसी का ही प्रमाण होगा । वस्तुस्थिति का नहीं । फिर लिखते हैं जितेन्द्रियत्वादिसंपन्न संन्यासी मेरे पीठ पर आसीन हो तो उसे साक्षात् मुझे समझना चाहिये । श्रीमान् जी ! मूर्ति अलग होती है, प्रतिमूर्ति अलग होती है तथा समझना अलग होता है और होना अलग होता है । प्रतिमूर्ति का अर्थ है देवादिमूर्त्तिसदृश प्रतिमा । प्रतिरूपा मूर्तिः प्रतिमूर्तिः । हम जब काशी में अध्ययनरत थे तब वहाँ ज्ञानानन्द नाम का एक कोठारी था । मण्डलेश्वर जी (गुरुजी) ने दिल्ली जाते समय सब के सामने कहा- (कोठारी की ओर इशारा कर कहा) - मेरे जाने के बाद यही सब करेंगे । इन्हें मुझे ही समझना । गुरुजी के जाने के बाद कोठारी बोलने लगा- महाराज के स्थान में मैं हूँ, मुझे महामण्डलेश्वर

कहा करो। एक वाचाल विद्यार्थी था, उसने कहा- तुम मूर्ख कहां से मण्डलेश्वर बना? अस्तु, शब्द का तात्पर्य इतना ही था कि उनके अनुशासन और मार्गदर्शन में रहना चाहिये । वैसे यहाँ पर भी आचार्य पीठस्थ के अनुशासन में और मार्गदर्शन में सब रहें । न कि वे स्वयं शङ्कराचार्य हो जायेंगे । सो भी वेदवेदाङ्गदिविशेषज्ञ हो तब । अन्य को वहाँ बैठने का ही अधिकार नहीं है । आज भी शृङ्गेरी के पीठस्थ के नाम के आगे शङ्कराचार्य ऐसा कोई नहीं लिखता । श्रीचन्द्रशेखर भारती महास्वामिगल्, श्री भारतीतीर्थ महास्वामिगल इत्यादि ही लिखते हैं । भले ही शङ्कराचार्यपीठस्थ होने से उत्तरानुकरण कर बहुत से लोग शङ्कराचार्य भी बोलें यह अलग बात है । शङ्कराचार्य नाम अपना लिखना-लिखवाना और बोलना-बुलवाना यह सब स्मृतिविरुद्ध है ।

ऐसा स्मृतिवचन है । जगद्गुरु होने के कारण अस्मदादि पीठस्थपर्यन्त सब के वे गुरु हैं । एक दूसरी बात - साक्षात् मुझे समझना इतना ही अंश सबने पकड़ा उससे पूर्व पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद तथा उसके अंग आदि में पारंगत हो इत्यादि जो विशेषण दिये हैं उन की अनावश्यकता समझी गयी । क्या आजकल के पीठासीन लोग वेद वेदाङ्गादि पारंगत हैं ? आदि पद से -

"पुराण-न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।"

इस याज्ञवल्कीयस्मृत्युक्त शेष सभी ग्राह्य हैं । ये सब गुण पीठासीनों में हैं क्या? इन पीठों पर कभी कीड़े-मकोड़े, चूहे चढ़ बैठें तो उन को भी आप के मतानुसार शङ्कराचार्य मानना पड़ेगा ।

उत्तरपक्ष-४e

बाद के पीठासीनों को शङ्कराचार्य मानकर ऋषिगण प्रणाम करते थे, यह मैं नहीं देख रहा था महावितण्डेश्वर जी यह तो आपके द्वारा लिखित पूर्व 14 पृष्ठीय लेख में तथा प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक में वर्णित अभिलेख वाले वही शिव सोम देख रहे थे जिनके गुरु भगवत् शङ्कर थे । यह तथ्य राजा जयवर्मा (तृतीय) के उत्तराधिकारी राजा इन्द्रवर्मा के अभिलेख में लिखा है जिसे आपने व्यक्तिगत विद्वेष के कारण छिपा लिया था । परन्तु मैंने प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. विद्याधर महाजन के ग्रन्थ 'प्राचीन भारत का इतिहास' के

पृष्ठ 603 से प्रकट कर दिया है । अब आप अपना चापलूसी का प्रमाणपत्र सप्तलोकोर्ध्व कैलास में जाकर शिवसोम व राजा इन्द्रवर्मा को दे आइये क्योंकि शिवभक्त होने के कारण उनके वहीं पर होने की सम्भावना है ।

जहाँ तक शङ्कराचार्य को अभिषिक्त कर शङ्कराचार्य पद पर आसीन करने की बात है यह शङ्कराचार्यों द्वारा ही किया कराया जाता है इस तथ्य को सभी जानते हैं ।

शङ्कराचार्य जी ने स्पष्ट कहा है कि 'विहित लक्षणों से युक्त मेरे पीठस्थ को मुझे ही समझना' और इसके सम्बन्ध में आगे कह दिया कि 'यस्य देव' श्रुति प्रमाण है । इस श्रुति का अर्थ है [407]'जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी गुरु में भी है । उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्वों का प्रकाश होता है । उस महात्मा के प्रति ही ये प्रकाशित होते हैं ।'

आपको आचार्य के उक्त श्लोक का तात्पर्य बोध न होने का कारण है शङ्कराचार्यों में श्रद्धा का न होना । शङ्कराचार्यों के निन्दक होने के कारण महानुशासनम् के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि आप आचार्य शङ्कर के आदेशों के प्रतिकूल निषिद्ध आचरण कर रहे हैं ।

क्योंकि मठाम्नाय महानुशासनम् में कहा गया है कि - आचार्य के उपदेशों तथा राजा के द्वारा दिए गये दण्ड को लोगों को स्वीकार करना चाहिए । अतः आचार्य और राजा दोनों ही शुद्ध और पवित्र हैं । उनकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए । यथा -

[408]तानाचार्योपदेशांश्च राजदण्डांश्च पालयेत् ।
तस्मादाचार्यराजानावनवद्यौ न निन्दयेत् ॥

शङ्कराचार्य नाम लिखना- लिखवाना शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित चार आम्नाय पीठों के शङ्कराचार्यों के लिये तो शङ्कराचार्य द्वारा रचित स्मृति 'मठाम्नाय महानुशासनम्' के अनुकूल एवं उसके अनुपालन में है परन्तु महामण्डलेश्वर जी आप हमें यह बतायें कि किस स्मृति में एक संन्यासी को महामण्डलेश्वर लिखने का विधान किया गया है ? निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि ऐसा किसी भी स्मृति में नहीं लिखा गया है क्योंकि आप स्वयं यह स्वीकार कर चुके हैं कि ज्योतिर्मठ के शङ्कराचार्य पीठ के आचार्य की ई0सन् 1776 के पश्चात् अनुपलब्धि के कारण नागाओं ने महामण्डलेश्वर बनाना आरम्भ किया, और सभी स्मृतियाँ उस तिथि के पूर्वकाल की हैं । अतएव अपने को महामण्डलेश्वर कहकर आपने स्वयं स्मृति विरुद्ध आचरण कर पाप का भागी बना लिया

है अभी भी आपके पास विकल्प है आप मुम्बई में रहते हैं इसलिए पश्चिमाम्नाय शारदामठ द्वारका के अधीन हैं अथवा गिरिनामा संन्यासी होने के कारण आप ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम से सम्बद्ध हैं । एतावता वहाँ के शङ्कराचार्य के अधीन हैं । ऐसी स्थिति में आप ज्योतिर्मठ के शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज अथवा आप द्वारका के शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु स्वामी स्वरूपानन्द जी सरस्वती के पास जाकर उनसे कुछ दण्ड देने का आग्रह करिये क्योंकि आचार्य शङ्कर ने मठाम्नाय महानुशासनम् में लिखा है कि - मनुष्य पापकर्मों को करके आचार्य द्वारा निर्धारित दण्ड भोग कर निर्मल हो जाते हैं तथा पुण्यात्माओं की भाँति स्वर्ग जाते हैं । यथा -

[409] **आचार्यक्षिप्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।**
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

आप यहाँ यह कह कर भी नहीं बच सकते कि संन्यासी तो स्वतन्त्र होता है वह आम्नाय पीठों के शङ्कराचार्यों के अधीन नहीं होता, क्योंकि आचार्य शङ्कर ने मठाम्नाय-महानुशासनम् में कहा है - 'संसार की रक्षा के कारण धर्म का यह मार्ग सभी वर्णों तथा आश्रमों के लोगों के लिए शास्त्र की मर्यादा के अनुसार निर्धारित किया गया है ।' यथा -

[410] **धर्मस्य पद्धतिर्ह्येषा जगतः स्थितिहेतवे ।**
सर्ववर्णाश्रमाणां हि यथाशास्त्रं विधीयते ॥

महामण्डलेश्वर जी! 'शृङ्गेरी के पीठस्थ के नाम के आगे शङ्कराचार्य ऐसा कोई नहीं लिखता' आपका यह कहना आपके महामिथ्यावादी होने का एक और पुष्ट प्रमाण है । कश्मीर एवं नेपाल के अतिरिक्त [411]दक्षिण भारत में स्थित स्कन्दपुर के राजा द्वारा लिखित कोङ्गदेश के इतिहास गन्थ में ई.सन् की दूसरी सदी में वर्तमान् तिरु विक्रमदेव के समकालीन एक शङ्कराचार्य का उल्लेख किया गया है [412]जिसकी पुष्टि शालिवाहन शक संवत् 100 तुल्य ई. सन् 178 के ताम्रपत्र से भी होती है । यह ताम्रपत्र राजा विक्रमदेव का है इसमें कहा गया है कि शङ्कराचार्य ने राजा विक्रमदेव को जैनमत से सनातनधर्म (शैवमत) में परावर्तित किया । इस ताम्रपत्र एवं कोङ्गदेश के राजाओं तथा उनके उपलब्ध ताम्रपत्रों का विवरण इस पुस्तक के परिशिष्ट-2 में दिया गया है । [413]मद्रास म्यूजियम में काञ्ची के राजा वल्लभ महाराज की शालिवाहन शक संवत् 1377 वर्ष भव तुल्य ईसवी सन् 1455 का एक ताम्रपत्र अभिलेख संरक्षित है । इस ताम्रपत्र में शङ्कराचार्य के तन्त्री' वन्नियप्पा सिन्ना पिल्लई को कुछ भूमियाँ तथा कुछ मन्दिरों में औपचारिक

विशेषाधिकार प्रदान करने का उल्लेख है । राजा बल्लभ महाराज ने अपने को 'काञ्ची मण्डलम् से पेडुमण्डलम्' का शासक कहा है । यह ताम्रपत्र अभिलेख शङ्कराचार्य की उपस्थिति में निष्पादित किया गया था जिसके प्रमाण में शङ्कराचार्य ने उसे अपनी मठमुद्रा से मुद्रांकित किया है । इस मुद्रा से स्पष्ट होता है कि जिस तन्त्री को अनुदान एवं विशेषाधिकार प्रदान किया गया था वह शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य का तन्त्री था क्योंकि ताम्रपत्र पर राजा के अतिरिक्त शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य की मुद्रा लगी है । यह वल्लभ महाराज वही राजा है जिसने उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तमदेव (1479 से 1504 ई.सन्) को श्री जगन्नाथ जी का झाड़ूदार कहकर उनके साथ अपनी पुत्री का विवाह करने से इनकार कर दिया था जिसके फलस्वरूप दोनों राजाओं में भीषण युद्ध हुआ । विजयश्री उड़ीसा नरेश के हाथ लगी । राजकुमारी को बन्दी बनाकर उड़ीसा लाया गया । राजा ने मन्त्री से उक्त राजकन्या का विवाह एक झाड़ूदार से करवाने के लिये कहा । मन्त्री ने अच्छे झाड़ूदार की खोज करने हेतु कुछ समय माँगा । बाद में श्रीजगन्नाथ जी की रथयात्रा के समय जब राजा पुरुषोत्तमदेव श्रीजगन्नाथजी के रथ के समक्ष झाड़ू लगाने की पारम्परिक प्रथा का निर्वाह कर रहे थे उसी समय मन्त्री ने राजकन्या के हाथ से वरमाला राजा के गले में डलवाकर बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से राजाज्ञा का पालन करते हुए भी राजकुमारी का विवाह राजा से करवा दिया ।

[414]मदुरा नायक राजा विजयरङ्ग-चोक्कनाथ द्वारा 'लोकगुरु श्रीमत् शङ्कराचार्य स्वामुलवारु' को विकृति वर्ष, कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रतिपदा, सोमवार, रोहिणी नक्षत्र शक 1630 के शुभ दिन भूदान आदि देने का उल्लेख है । ... दानपत्र में केवल 'शारदामठ' तथा 'लोकगुरु श्रीमत् शङ्कराचार्य स्वामुलवारु' पदों का ही उल्लेख है । यह दान दक्षिणाम्नाय साक्षात् शृङ्गेरी शारदामठ को अथवा उसके शाखा मठ को ही दिया गया है । राजगोपाल शर्मा लिखते हैं - [415]16वीं शताब्दी में 'जगद्गुरु शङ्कराचार्य' पदवी सर्वसाधारण रूप में प्रयोजन किये जाने का अनेकों प्रमाण अन्यत्र शृङ्गेरी (आदि) मठों में मिलते हैं । [416]बालाजा (जो काञ्ची के समीप है) के नवाब ने 1773 ई. में काञ्ची में वर्णाश्रमाचार विषयक झगड़ा होने पर निर्णय पाने के लिये 'लोकगुरु शङ्कराचार्य शृङ्गेरी' से प्रार्थना किया । मैंने पूर्व ही श्री सुन्दरलाल द्वारा 1929 ई0 में रचित 'भारत में अंग्रेजी राज' का उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें शृङ्गेरी के पीठस्थ के लिये 'शङ्कराचार्य' लिखा हुआ है । अपने 1936 ई0 के निर्णय में, जिसका पहले उल्लेख

किया जा चुका है माननीय पटना उच्चन्यायालय ने कहा है कि - [417]संस्थापक आदि शङ्कराचार्य ने सम्पूर्ण भारत को चार अधिकार क्षेत्रों में विभाजित कर प्रत्येक को एक-एक पीठाधिपति के अधीन रखा । पश्चिमाधिकार क्षेत्र शारदामठ द्वारका, उत्तराधिकारक्षेत्र ज्योतिर्मठ, पूर्वाधिकार क्षेत्र गोवर्द्धनमठ तथा दक्षिणाधिकार क्षेत्र शृङ्गेरी मठ के अधीन किया । इनमें से प्रत्येक मठ का प्रमुख 'जगद्गुरु शङ्कराचार्य' नामक पदवी से जाना जाता है तथा उनकी धार्मिक सत्ता यदि सार्वभौम नहीं तो व्यापक तौर पर मान्य है ।

माननीय उच्चतम न्यायालय भारत ने श्री कृष्ण सिंह प्रति मथुरा अहीर मामलें में अपने न्याय निर्णय में कहा है - [418]शङ्कर ने धार्मिक राजधानी के रूप में भारत के चारों कोनों में चार मठ; शृङ्गेरी पहाड़ी पर शृङ्गेरी मठ दक्षिण में, द्वारका में शारदामठ पश्चिम में, बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ उत्तर में तथा पुरी में गोवर्द्धनमठ पूर्व में स्थापित किया । इनमें से प्रत्येक मठ का प्रमुख एक संन्यासी होता है जो कि सार्वभौमतः शङ्कराचार्य की पदवी धारण करते हैं ।

'अद्वैत ट्रैडिशन सीरीज' के अन्तर्गत 'सुरेश्वराम् वार्तिक' नाम शीर्षकान्तर्गत श्री के. पी. जोग एवम् श्री साउन हिनो द्वारा सम्पादित आङ्ल अनुवाद तथा टीका सहित श्री सुरेश्वराचार्य कृत बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्यवार्तिक, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमेटड द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है । अब तक इसके 12 भाग प्रकाशित हो चुके हैं । प्रत्येक भाग में संस्कृत भाषा में 'श्रीमुखम् मुद्रित' है जिसमें अधोस्थान पर 'प्राइवेट सेक्रेटरी टु हिज होलीनेस् श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य दक्षिणाम्नाय श्री शारदापीठम् शृङ्गेरी' लिखा है । आपका 14 पृष्ठीय लेख जिस पुस्तक 'भारतीय अस्मिता और राष्ट्रीय चेतना के आधार श्री जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य' के द्वितीय खण्ड में प्रकाशित है उसी के प्रथम खण्ड में पृष्ठ 41 पर श्री कल्याणानन्द ब्रह्मचारी ने लिखा है - 'दि. 1 और 2 मई को महासमिति के संरक्षक एवं शृङ्गेरी-शारदापीठ के जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ जी महाराज की अध्यक्षता में द्वादश शताब्दी समारोह बड़े धूमधाम से मनाया गया ...।' उपर्युक्त दोंनो खण्ड एक ही जिल्द में परिबद्ध किये गये हैं ।

श्री गोवर्द्धन मठ पुरी के 142 वें शङ्कराचार्य की विरुदावली समेत 'श्रीमुख पत्रम्' श्री शङ्कर दिग्विजय-माधवाचार्य कृत के गुजराती अनुवाद सहित 1899 ई. में निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में मुद्रित किया गया है । उसमें से आचार्य की बिरुदावली का अंश यहाँ पर प्रकाशित किया जा रहा है -

[419] **श्रीजगन्नाथो विजयतेतराम् ।**

श्रीमुखपत्रम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणयमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठाननिष्ठतपश्चर्याचरणचक्रवर्त्त्यनाद्यविच्छिन्नगुरुपरम्पराप्राप्तषण्मतस्थापनाचार्य्यसांख्यत्रयप्रतिपादकवैदिकमार्गप्रवर्त्तकनिखिलनिगमागमसारहृदयश्रीमत्सुधन्व-साम्राज्यप्रतिष्ठापनाचार्य्यश्रीमद्राजाधिराजगुरुभूमण्डलाचार्य्यचातुर्वर्ण्यशिक्षकमहोदधितीरवासश्रीजगन्नाथपुर्य्यधीश्वरपूर्व्वाम्नायश्रीमद्गोर्द्धनमठभोगवर्द्धनपीठाधीश्वरश्रीमद्राजराजेश्वरश्रीशङ्कराचार्य्यदामोदरतीर्थस्वामिवर्य्यचरणकमलभृङ्गायमानश्रीमधुसूदनतीर्थ स्वामिभिः ।

श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी के 142 वें शङ्कराचार्य श्री मधुसूदन तीर्थ (आचार्यत्वकाल 1898 ई0 से 1926 ई0) की उपर्युक्त बिरुदावली में उन्हें जगद्गुरु शङ्कराचार्य दामोदरतीर्थ का शिष्य कहा गया है । 1873 ई0 से 1903 ई0 तक ज्योतिर्मठ के स्थानापन्न मुख्यालय धोलका में रहने वाले ज्योतिर्मठ के 48 वें आचार्य की बिरुदावली पूर्व में प्रस्तुत की जा चुकी है जिसमें उन्हें शङ्कराचार्य कहा गया है ।

श्री शारदापीठ द्वारका के 73 वें शङ्कराचार्य श्री राजराजेश्वरशङ्कराश्रम (आचार्यत्वकाल 1879 ई0 से 1901 ई0) द्वारा विक्रम संवत् 1953 (गु0) तु0 ई0 सन् 1896-97 में लिखित विमर्श ग्रन्थ के अन्त में लिखा है -

[420] **"इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यपदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणत्वाद्यनेकपदाङ्कितजगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य श्रीशारदापीठद्वारकासंस्थानाधीश्वरश्रीमत्केशवाश्रमस्वामिदेशिकवरकरकमलसञ्जातजगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्यश्रीशारदापीठद्वारकासंस्थानाधीश्वरश्रीमद्राजराजेश्वरशङ्कराश्रमस्वामिविरचितोऽयं समाप्तः"।**

यह पुस्तक विक्रम संवत् 1955 (गु0) तु0 ई0 सन् 1899 में प्रकाशित हुई थी । उपर्युक्त अंश में श्रीराजराजेश्वर शङ्कराश्रम को द्वारका शारदामठ का शङ्कराचार्य कहा गया है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि चारों आम्नाय मठों जिनमें शृङ्गेरीमठ भी आता है के पीठाधिपति आरम्भ से ही शङ्कराचार्य लिखते आ रहे हैं । शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य अपने

को शङ्कराचार्य नहीं मानते यह कहना एक सफेद झूठ है । महामण्डलेश्वर यदि आप में थोड़ी सी भी लज्जा अभी भी शेष हो तो शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य जी महाराज के हस्ताक्षर युक्त तथा मठमुद्राङ्कित इस आशय का लिखित वक्तव्य उनके द्वारा, दूरदर्शन एवं समाचारपत्रों, संवाददाता सम्मेलन में प्रेसविज्ञप्ति के रूप में जारी करवाइये कि वे अपने को शङ्कराचार्य नहीं मात्र महन्त मानते हैं अन्यथा ऐसा झूठ बोलने के प्रायश्चित हेतु चुल्लू भर पानी में डूब मरिये ।

जहाँ तक चारों आम्नायपीठों के शङ्कराचार्यों की योग्यता का प्रश्न है उसके औचित्य के निर्धारण हेतु चार शङ्कराचार्य ही अधिकृत हैं । इनमें से किसी एक की योग्यता पर सन्देह की स्थिति में निर्णय करने का अधिकार मठाम्नाय-महानुशासनम् के द्वारा अन्य तीन पीठस्थ शङ्कराचार्यों को प्रदत्त है । एक प्राथमिक पाठशाला का प्रधानाध्यापक अपने से श्रेष्ठता क्रम में ऊपर की ओर 7वें क्रम पर आने वाले शीर्षस्थ किसी विश्वविद्यालय के कुलपति की योग्यता के सम्बन्ध में यदि कोई प्रश्न करे तो उसे प्राथमिक पाठशाला के प्रधानाध्यापक की मूर्खता ही कहा जायेगा, क्योंकि उससे अधिक योग्य अवर उच्च विद्यालय, उच्च विद्यालय, उच्चतरमाध्यमिक विद्यालय, स्नातक महाविद्यालय, स्नातकोत्तरमहाविद्यालय के प्रधानाध्यापक (= प्राचार्य) भी एक विश्वविद्यालय के कुलपति की योग्यता पर विचार करने हेतु अधिकृत नहीं होते हैं । इसी प्रकार गुरुओं की वरीयता क्रम में नीचे से दूसरें स्थान पर आने वाला एक माण्डलिक आचार्य अपने से ऊपर की ओर श्रेष्ठता क्रम में 7वें (कुल मिलाकर 8 वें) स्थान पर आने वाले सार्वभौम शङ्कराचार्य की योग्यता से सम्बन्धित प्रश्न उठाये तो इसे उसकी मूर्खता ही कहना पड़ेगा ।

परन्तु पूर्वपक्षी के सन्तोष के लिये हम वर्तमान पीठस्थ शङ्कराचार्यों की योग्यता के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विचार करते हैं । शृङ्गेरी मठ के शङ्कराचार्य की योग्यता में पूर्वपक्षी को सन्देह नहीं है अतएव अब हम श्री गोवर्द्धन मठ पुरी के 145 वें शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख करते हैं । महाराज श्री ने ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्तम्' पर विस्तृत टीका ग्रन्थ भूमिका सहित 240 पृष्ठों का, श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के प्रथम एवं द्वितीय अध्याय की रहस्यमयी व्याख्या 'शुक सुधा' भूमिका सहित 156 पृष्ठों में, श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य दो खण्डों में भूमिका सहित 542 पृष्ठों में, श्रीमद्भागवतमहापुराण के प्रथम स्कन्ध के आठवें अध्याय में सन्निहित 'कुन्ती स्तुतिः' की व्याख्या भूमिका सहित

412 पृष्ठों में, 'श्रीराधारस सुधा और श्रीकृष्ण वैभव' भूमिका सहित 54 पृष्ठों में, 'श्रीराधारस और रसिक शेखर' का अनुवाद भूमिका सहित 85 पृष्ठों में, 'वैदिक गणित' (विश्वविश्रुत गणितज्ञ एवं पूर्व विश्वविद्यालयीन कुलपित डॉ0 त्रिविक्रम पति ने जिसकी भूमिका लिख अपने को धन्य माना है), 'सार्वभौम सनातन सिद्धान्त' 5000 पृष्ठों में, श्रीमद्भगवद्गीता की विस्तृत व्याख्या 1400 पृष्ठों में लिखा है । महोदय उन ग्रन्थों को पढ़िये आपको ज्ञात हो जायेगा कि वे वेदवेदाङ्ग आदि में कितने पारङ्गत हैं यदि आप में विद्वत्ता हो तो उनके उपर्युक्त ग्रन्थों की समीक्षा कर लोगों के समक्ष उनको अयोग्य सिद्ध करिये अन्यथा गुरुपीठ के अपमान के प्रायश्चित हेतु शास्त्र में जो विधान है तुषानल में ज़ल मरिये ?

शारदामठ-द्वारका तथा ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम के शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज हैं जिनकी योग्यता के सम्बन्ध में न्यायालयों में विस्तृत विचार एवं साक्ष्य हुए है, जिनके आलोक में उनको भारत के न्यायालयों ने स्वीकार किया है और इसी आधार पर उन्हें शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वीकार किया है तथा ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम का अपने को शङ्कराचार्य लिखने वाले अनन्तश्रीविभूषित स्वामी वासुदेवानन्द सरस्वती को अयोग्य मानकर शङ्कराचार्य लिखने से निषिद्ध कर दिया है । अतएव उनकी योग्यता के सम्बन्ध में अलग कुछ लिखना मात्र पिष्टपेषण होगा । यदि आप चाहे तो उनकी योग्यता के परीक्षण सम्बन्धी न्यायालयीय विचार विमर्श विस्तृत विवरण आपको उपलब्ध कराया जा सकता है । फिर उन्होंने भी सत्यानुसन्धान, पत्रप्रबोध, पिबत भागवतं रसमालयम्, प्रवचन-प्रबोध (गीता-प्रवचन), उपदेशसार (व्याख्या), परमार्थपथ आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है । इस पर भी यदि आपको उनकी योग्यता पर सन्देह है तो क्या कहा जा सकता है? हाँ यदि आपको उनकी योग्यता पर सन्देह है तो मैं आपको चुनौती देता हूँ कि उनको अयोग्य सिद्ध कर दिखाइये ?

ऐसी स्थिति में वर्तमान् आम्नाय पीठाधीश्वरों की तुलना 'एक भण्डारी', कीड़े, मकोड़े तथा चूहे से करने वाला महामण्डलेश्वर शाङ्करपीठस्थ शङ्कराचार्यों का द्रोही, उनके प्रति कुत्सित विचारों को रखने वाला, जनता को सही तथ्यों से गुमराह करने वाला स्वयं ही भण्डारी, कीड़े, मकोड़े एवम् चूहे के तुल्य है क्योंकि उसकी अपनी ही उक्ति है कि लोग अपने ही चश्मे से तो दूसरों को देखते हैं । ऐसा पोपलीलाकार महामण्डलेश्वर

चला है आचार्य शङ्कर की प्रतिष्ठा बढ़ाने और उनका काल निर्धारण करने ।

अपने दशम ग्रन्थ में गुरुगोविन्द सिंह ने ठीक ही लिखा है कि -

[421]**'वेदियों के वंश में नानक ने जन्म लिया । पश्चात् नानक ने अंगद का शरीर धारण किया । पुनः उन्हीं का नाम अमरदास हुआ । मानों दीपक से दीपक जला हो । फिर अमरदास गुरु हुए । श्रीनानक को अंगद माना गया और अमरदास अंगद के रूप में पहचाने गये । अमरदास ही रामदास कहाये । जिसे संत पुरुषों ने तो समझ लिया परन्तु मूर्ख इस भेद को न जान सके । आम लोगों ने तो इन सब को भिन्नरूपों में ही जाना, परन्तु किसी विरले ने ही इन्हें एकरूप समझा जिन्होंने इन्हें एकरूप ही जाना, उन्हीं को सिद्धियाँ प्राप्त हुई तथा बिना समझे कुछ हाथ नहीं लगता ।'**

पवित्र श्री गुरुग्रन्थ साहिब में संग्रहीत सिख गुरु साहिबानों ने अपने को स्वरचित पदों में 'नानक' ही कहा है जबकि उनके नाम भिन्न-भिन्न हैं । यह भी शाङ्करपद्धति को आगे बढ़ाने वाली प्रथा का एक उदाहरण है । शृङ्गेरी मठ की सूची में श्रीसच्चिदानन्द भारती, श्री नरसिंह भारती, श्रीचन्द्रशेखर भारती नामक अनेक आचार्य संप्राप्त हैं । क्रमांक 21 वें व 22 वें आचार्य का नाम नरसिंह भारती तथा 23 वें आचार्य का नाम (अभिनव) नरसिंह भारती दिया गया है । इन आचार्यों ने न केवल शङ्कराचार्य पदवी वरन् नाम भी एक ही रखा है तो क्या यह सब महामण्डलेश्वर जी धर्मविरुद्ध सिद्ध करने का दुस्साहस कर सकते हैं ? यदि हो क्षमता तो शृङ्गेरी के अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी भारती तीर्थ जी महाराज को लिख डालिये कि वहाँ के आचार्यों ने स्वगुरु का नाम धारण कर स्मृति विरुद्ध, धर्म विरुद्ध कार्य किया है, शीघ्र ही आपको आपकी विद्वत्ता की औकात का ज्ञान महाराज श्री करा देंगे ।

पूर्वपक्ष-५०

द्वैतवादी जब "आसुरी पार्थ मे शृणु" से लेकर -

'असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।'

इत्यादि उद्धरण देकर अद्वैतियों को आसुर सिद्ध कर रहे थे, पूरे दक्षिण में

अखबारों से और उत्तर में पंपलेटों से प्रचार कर रहे थे - "अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनं" इस परम धर्म से लोगों को दूर कर रहे थे तब इन धर्मरक्षक पीठासीनों के ढोल का पोल खुल गया था।"

उत्तरपक्ष-५०

महामण्डलेश्वर जी क्यों मिथ्या अपलाप कर रहे हो । वास्तविकता तो यह है कि श्री विद्यान्याय तीर्थ नामक एक द्वैतवादी विद्वान् हरिद्वार गये वहाँ पर सभी अखाड़े वाले महामण्डलेश्वरों को उन्होंने शास्त्रार्थ हेतु चुनौती दिया । अखाड़ों के महामण्डलेश्वरों आदि ने प्रतिकार करने हेतु अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मलीन स्वामी हरिहरानन्द करपात्री जी से अनुरोध किया । उन दिनों स्वामी जी चातुर्मास कर रहे थे । चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् हरिद्वार में गङ्गापार उन द्वैतवादी विद्वान् से स्वामी जी ने शास्त्रार्थ किया । उसमें महामण्डलेश्वर, स्वामी भागवतानन्द जी निर्णायक नियुक्त किये गये थे । अन्त में द्वैतवादी विद्वान् श्री विद्यान्याय तीर्थ शास्त्रार्थ में पराजित हुए । विजयोपरान्त सभी महामण्डलेश्वरों आदि एवं अखाड़े वालों ने स्वामी करपात्री जी की विजय शोभायात्रा निकाली । जब सार्वभौम जगद्गुरु शङ्कराचार्यों के अधीनस्थ विद्वान् ही प्रतिवादियों को हरा दिये तब पीठासीनों के ढोल का पोल खुलने का प्रश्न ही कहाँ उठा ? हाँ महामण्डलेश्वर जी अब आप स्वयं बताइये कि अखाड़े वालों ने उस द्वैतवादी विद्वान् से शास्त्रार्थ करने हेतु आप को क्यों अयोग्य माना ? अन्यथा वे स्वामी करपात्री जी के पास क्यों जाते ? महामण्डलेश्वर जी अब पोल तो आपके ढोल की खुल गयी है । प्रणाडी का अर्थ शाङ्कर भाष्य के अनुसार परम्परा होता है इसका आपको ज्ञान नहीं है । ब्रह्मज्ञानी से सम्बन्धित 64 कलाओं के अन्दर गुह्यस्पर्शादि और नीवी स्रंसन बताकर आपने अपनी अज्ञानता प्रकट कर ही दी है । जीवन्मुक्त संन्यासी जो शाङ्करभाष्यानुसार ब्रह्मस्वरूप हुआ ही शरीरत्याग के पश्चात् ब्रह्मलीन होता है, उसके लिये उत्तरायण मार्ग की श्रेष्ठता बताकर आप अपनी अयोग्यता का प्रदर्शन कर ही चुके हैं । कौशाम्बी पाटलिपुत्र में है तथा अटक भारत में है यह बताकर आप अपने भौगोलिक ज्ञान की न्यूनता को सिद्ध ही कर चुके हैं । 788-820 ई0 के काल में जैन-बौद्ध धर्म भारतवर्ष से समाप्त हो गया था, इन मतों के मतावलम्बी राजा नहीं थे यह कहकर आप अपनी ऐतिहासिक ज्ञानशून्यता का परिचय दे ही चुके हैं । गौतमबुद्ध के निर्वाण 481 ई0 पू0 के पश्चात् ही बौद्धमत पनपा

यह कहकर आप अपने पौराणिक ज्ञान की अल्पज्ञता प्रतिभासित कर ही चुके हैं क्योंकि श्री विष्णुपुराण में लिखा है कि पराशर के बहुत पूर्व ही मायामोह नामक व्यक्ति ने जैन दिगम्बर श्वेताम्बर व बौद्ध मत का प्रचार किया था आदि आदि । जिन अङ्कों का योग 2663 आता है उनका योग 2666 लिखकर आप अपने गणितीय आकलन से सम्बन्धित ज्ञान का उदाहरण प्रस्तुत कर ही चुके हैं । कार्षापण मुद्रा अब भी भारतवर्ष के दक्षिणभाग में चलती है तथा शृङ्गेरी मठ के आचार्य अपने को शङ्कराचार्य नहीं कहते, यह कहकर आप अपनी मिथ्यावादिता प्रमाणित कर ही चुके हैं । राजा सुधन्वा के ताम्रपत्र के विशेषणों से सम्बन्धित अपनी उक्तियों से आप अपनी अल्पज्ञता दिखा ही चुके हैं । पग-पग पर व्याकरणगत तथा वाक्यगत अशुद्धियों से स्वयं को 72 छेदवाला सिद्ध कर ही चुके है । और भी बहुत से आपके ज्ञानन्यूनत्व को स्थान-स्थान पर इस पुस्तक में प्रकट किया जा चुका है जिससे विज्ञ पाठकगण परिचित हो ही चुके हैं । आचार्य शङ्कर की आयु 95 वर्ष बताकर आपने अपनी महाधृष्टता का परिचय पूर्व में ही उपस्थित कर रखा है ।

ऐसे अल्पज्ञानी पोलेश्वर महामण्डलेश्वर महोदय चले हैं शङ्कराचार्यों के ढोल की पोल खोलने ?

पूर्वपक्ष-८१

शृङ्गेरी के पीठाचार्य भी जब हम १९८८ में वहाँ गये तो देखा कि बहुत ही सीधे-सादे ढंग से वे रहते हैं । तुंगभद्रा (पूर्णानदी) के उस पार और इस पार दोनों जगह विशाल आश्रम बना हुआ है । वहाँ कुछ लकड़ी के पाटले थे । एक पाटले पर पीठाधिपति बैठे थे । हम लोग गये तो दूसरे पाटलों पर बैठने का निर्देश किया । न कोई चांदी का सिंहासन वहाँ था और न सोने का मुकुट । चौबीस घंटा उसी के पीछे वे ही पड़े रहते हैं जिन को साधारण लोगों के सामने अपना बड़प्पन दिखाकर पैसा एकत्रित करना मात्र रहता है । स्वयं सम्पन्न मठ होने के कारण शृङ्गेरीवालों को पैसे की कुछ पड़ी नहीं थी । लोकोपकारार्थ वे खर्चा करते हैं । एक आदर्श पीठ हो तो शृङ्गेरी पीठ ही आज है, जिस को आज भी येन केन प्रकारेण बदनाम करने की कुटिलता मात्र वाक्कीलकादि करते हैं । तो पहले भी ऐसा हुआ तो कुछ आश्चर्य नहीं है ।

उत्तरपक्ष-८१

महामण्डलेश्वर जी क्या मिथ्याभाषण करते हुए आपकी आत्मा को मलीनता का बोध नहीं होता ? मठाम्नाय-महानुशासनम् में आचार्य शङ्कर ने चार आम्नाय मठों के शङ्कराचार्यों को आदेश दिया कि - सम्राट् सुधन्वा की उत्कण्ठा की शान्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वे देवराज इन्द्र के उपचारों (राजचिह्नों - छत्र, चामर, दण्ड, सिंहासन आदि) यथावत् धारण करें । यथा -

[422]**सुधन्वनः समौत्सुक्यनिवृत्त्यै धर्म-हेतवे ।**
देवराजोपचारांश्च यथावदनुपालयेत् ॥

आचार्य शङ्कर के उसी आदेश के अनुपालन में आज तक उनके चार आम्नाय पीठों - शारदामठ-द्वारका, गोवर्द्धनमठ-पुरी, ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम तथा शृङ्गेरीमठ के शङ्कराचार्य जी छत्र, चामर, दण्ड, सिंहासन आदि धारण करते हुए चले आ रहे हैं ।

[423]भगवान् शङ्कराचार्य के सम्बन्ध में विद्यारण्यस्वामि कृत शङ्कर दिग्विजय के पद्रहवें सर्ग के श्लोक- अथ शिष्यवरैर्युत........ प्रतस्थे की व्याख्या में भारत विख्यात धनपतिसूरि अपनी डिण्डिम व्याख्या में प्राचीन दिग्विजय का प्रमाण देते हुए सिद्ध किया है कि आचार्य शङ्कर का देवराजोपचार से पूजन होता था ।

शिष्येषु त्रिसहस्रेषु केचित्तं शंख पूरणैः ।
केचिद्वाद्य विशेषैश्च केचित्तारैश्शुभोक्तिभिः ॥

उनके साथ चलने वाले तीन हजार शिष्यों में कुछ शंख तथा कुछ अनेकों प्रकार के वाद्य बजा रहे थे । कुछ जयजयकार तथा वेदमन्त्रों का घोष करते थे और कुछ तालियाँ बजा रहे थे । कुछ ताड़ पंखे से हवा करते थे । कुछ चामर डुला रहे थे । [424]श्री धनपति सूरि ने अपनी भगवद्गीता का रचना काल विक्रम संवत् 1764 तु0 ई0 सन् 1707 लिखा है । जिससे इनका काल निश्चित है ।

महाराज सुधन्वा ने ऐसा अनुरोध क्यों किया, यह विचारणीय है । [425]महाभारत अनुशासन पर्व में बताया गया है कि व्याघ्रपाद नामक ऋषि के पुत्र उपमन्यु ने अपनी माता के कहने पर स्व-तपस्या से भगवान् शिव को सन्तुष्ट किया । भगवान् शिव उपमन्यु के समक्ष इन्द्र का रूप धारण कर ऐरावत हाथी की पीठ पर सवार होकर पधारे । उनके मस्तक पर मुकुट, गले में हार और भुजाओं में केयूर शोभा दे रहे थे । सिर पर श्वेत

छत्र तना हुआ था । [426]यह विवरण शिवपुराणान्तर्गत शतरुद्र संहिता में भी उपलब्ध होता है । अतएव यह स्पष्ट है कि महाराज सुधन्वा शङ्कराचार्यों को, पूर्वकाल में हुए भगवान् शिव के इन्द्रावतार के रूप में अर्थात् सवारी, सिंहासन, छत्र, चामर, मुकुट आदि धारण करने का प्राविधान आचार्य शङ्कर से करवाना चाहते थे क्योंकि श्रीमद्राजराजेश्वर गुरुभूमण्डलाचार्य के लिये सार्वभौमत्व के चिह्नों को धारण करना धर्म की गरिमा हेतु आवश्यक था ।

[427]श्रीगुरुवंश पुराण में लिखा गया है कि 'जिस समय विद्यारण्य स्वामी जी शृङ्गेरी के सिंहासन पर विराजमान हुये उस समय छत्र, चामर, हाथी आदि विद्यमान थे परन्तु उन्होंने इन सबका प्रयोग न करना चाहा । इस पर लक्ष्मी और सरस्वती जी ने आकाशवाणी की और कहा हे यते ! आप छत्र, चामर आदि राजोपचार चिह्नों को धारण करें । सामान्य यतियों के लिये इनका निषेध है । मूर्द्धाभिषिक्त पुरुष श्रेष्ठ सिंहासनासीन के लिये ब्रह्मा जी ने हाथी को बनाया है । मूर्द्धाभिषिक्त सिंहासन तीन प्रकार का है - 1. राज्य सिंहासन 2. भाष्य सिंहासन 3. मन्त्र सिंहासन । तीन प्रकार का सिंहासन ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदि में रचा है । क्योंकि तुम मूर्द्धाभिषिक्त हो इसलिए तुम हाथी पर सवार हो । ऐसा रेणुका तन्त्र के (पृ. सं. 9/99/104) तक लिखा है ।' श्रीगुरुवंश पुराण के प्रथम भाग में (पृ. 198 से 203 तक) में भी इस विषय पर गहन विचार किया गया है ।

आदिशङ्कराचार्य ने लिखा है कि धर्म के उद्देश्य से वैभव का प्रदर्शन न्याय है । बाहरी वस्तुओं में जिनका चित्त रहता है ऐसे व्यक्तियों के उपकार के लिये ऐसा किया गया है । स्वयं आचार्य का पद्मपत्र के समान वैभव में रहने पर भी निर्लिप्त रहना चाहिए । यथा-

[428]केवलं धर्म्मामुद्दिश्य विभवो बाह्यचेतसाम् ।
विहितश्चोपकाराय पद्मपत्रनयं व्रजेत् ॥

इससे यह निःसन्देह प्रमाणित हो चुका है कि चार आम्नाय मठों पर प्रथम चार आचार्यों के पदस्थापन के समय से ही परम्परानुसार उन चारों पीठों के चार शङ्कराचार्य छत्र, चामर, दण्ड, सिंहासन आदि सार्वभौमत्व सूचक इन्द्रोपचार धारण करते चले आ रहें हैं। इन उपचारों के धारण के सम्बन्ध में स्वामी विद्यारण्य जी ने एक बार औचित्य का प्रश्न उठाया था परन्तु उनकी आशङ्का का विदुषी देवियों के द्वारा शमन कर दिया

श्रृंगेरीपीठ के शङ्कराचार्य
अनन्तश्रीविभूषित श्री विद्यारण्य जी महाराज

विद्यारण्यमुनि की शोभायात्रा का एक दृश्य जो कि हम्पी (विजयनगर), कर्नाटक के विरुपाक्ष मन्दिर के स्तम्भयुक्त अग्रमण्डप की अन्त: छत (सिलिंग) पर चित्रांकित है। इसमें श्री विद्यारण्यमुनि स्वर्ण पालकी पर सवार हैं। साथ में परिकरों की भारी संख्या है जिसमें अनेकों हॉथी, ऊँट, अश्वारोही, स्वर्ण-रजत छड़ियों के धारक, चामर डुलाने वाले, तूर्यवादक ध्वजधारक, छत्रधारक एवं अन्य परिचारक प्रदर्शित किये गये हैं। यह चित्रांकन विद्यारण्यमुनि के काल का ही है। इससे सिद्ध होता है कि शंकराचार्य (श्रृंगेरी) राजचिह्नों को न केवल धारण करते थे अपितु उनकी सवारी भी उसी तरह निकला करती थी। वस्तुत: चारों पीठों के शंकराचार्यवर्य परम्परा से इन चिह्नों को धारण करते रहे हैं, जो कि मठाम्नाय के अनुसार उपयुक्त ही है।

सचिव

गया और स्वयं विद्यारण्य मुनि ने शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य के रूप में उन सभी अलङ्करणों को धारण किया ।

[429]शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य श्री विद्यारण्यमुनि के द्वारा एक सार्वभौम चक्रवर्ती के उपचारों को धारण करने के तथ्य की साक्षी देता है उन्हीं के काल का एक भित्तिचित्र । तुङ्गभद्रा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित हम्पी (विजयनगर), कर्नाटक में अतिप्राचीन 'विरूपाक्ष मन्दिर' के विशाल स्तम्भयुक्त अग्रमहामण्डप की अंतश्छद भव्य चित्रकलाकृतियों से भरपूर है जिनमें से अति महत्वपूर्ण विधाचित्र है श्री विद्यारण्य मुनि की विशाल शाही शोभायात्रा का निरूपण जो कि चित्रकला का एक उत्कृष्ट नमूना है । इस चित्रांकन में श्री विद्यारण्य मुनि के आगे-पीछे हाथियों, अश्वारोही सैन्य बल, ऊँटों, तूर्यवादकों, सार्वभौमत्व के प्रतीक चिह्न स्वर्ण-रजत धर्मदण्ड धारकों, चामर धारकों, छत्र आदि धारकों तथा अन्य परिचारकों सहित परिकरों की विशाल भीड़ को प्रदर्शित किया गया है । परिकरों के उक्त समुदाय के मध्य में रत्नजटित स्वर्णपालकी पर सवार श्रीविद्यारण्यमुनि को चित्रित किया गया है । यह ईसवी सन् की 14वीं सदी के एक प्रभावशाली दृश्य को प्रस्तुत करता है । कुछ लोगों का यह मानना है कि श्री विद्यारण्य की उपर्युक्त शोभायात्रा का चित्राङ्कन उनके जीवनकाल में ही उक्त शोभायात्रा में शामिल किसी चित्रकार द्वारा किया गया था जिसकी उस कलाकृति का प्रतिरूपण विरुपाक्ष मन्दिर की अन्तश्छद में अन्य चित्रकार द्वारा श्री विद्यारण्यमुनि के ब्रह्मलीन होने के लगभग 50 वर्ष बाद किया गया अर्थात् ईसवी सन् की 15वीं सदी के पूर्वार्द्ध में । [430]विजय नगर के महाराजा हरिहर (द्वितीय) के ईसवी सन् 1385 (शक संवत् 1307) के एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि विद्यारण्यमुनि के ब्रह्मलीन होने के शीघ्र पश्चात् उन्होंने ब्रह्मलीन संत की पुण्य स्मृति में आधुनिक किग्ग में शृङ्गेरी के पास एक मन्दिर बनवाकर ब्राह्मणों हेतु 'अग्रहार' भी निर्मित करवाया । इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उसी वर्ष हरिहर (द्वितीय) ने स्वामी विद्यारण्य मुनि की पुण्यस्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने हेतु 'विरूपाक्ष मन्दिर' में उनकी शोभायात्रा के चित्र की अनुकृति भी करवाया । [431]ईसा की 16वीं सदी की साहित्यिक कृति 'विरूपाक्ष वसन्तोत्सव चम्पू' में रथयात्रा महोत्सव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दो भव्य रथ होते थे जिनमें से एक में विद्यारण्यमुनि सवार रहते थे । उनके ऊपर देवी स्वर्ण वर्षाती थीं ।

जिस प्रकार से नरेश जब किसी समारोह में भाग लेता है, सेनाओं के सेनापति जब

कर्मक्षेत्र में तैनात होते हैं, न्यायाधीश जब न्यायालय में होते हैं तब वे अपने-अपने लिए विहित विशेष वस्त्रों एवम् चिह्नों को धारण करते हैं अन्यथा अपने घर में नहीं । उसी प्रकार से शृङ्गेरी मठ समेत चार आम्नाय मठों के जगद्गुरुशङ्कराचार्य लोग सार्वजनिक समारोहों या अपने मठों में विशेष पर्वों पर सभी इन्द्रोपचारों को धारण करते हैं । यह सब आप शृङ्गेरी मठ के अ0श्री वि0ज0 श0 स्वामी भारती तीर्थ जी से पूछ सकते हैं उनके मठ में चांदी का सिंहासन, सोने का मुकुट, छत्र, चामर आदि सबकुछ है और विशेष अवसरों पर वे इन सभी अलङ्करणों को धारण करते हैं ।

महामण्डलेश्वर जी का कहना है कि - 'चौबीस घंटे चाँदी के सिंहासन व सोने के मुकुट के पीछे वे ही पड़े रहते हैं जिनको साधारण लोगों के सामने अपना बड़प्पन दिखाकर पैसा एकत्रित करना मात्र रहता है ।' महामण्डलेश्वर जी अब यह बताइये कि कुम्भ पर्व के अवसर पर प्रयाग, नासिक, उज्जैन, हरिद्वार में सभी अखाड़ों के महंत, श्रीमहंत, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, आचार्यमहामण्डलेश्वर आदि चाँदी के सिंहासनों पर आरूढ़ होकर छत्र, चामर, स्वर्ण या रजत दण्डी सहित वाहनों पर सवार होकर तड़क-भड़क के साथ शाही स्नान करने के लिए विशाल जनसमुद्र के बीच क्या अपना बड़प्पन दिखाकर पैसा एकत्रित करने के लिये ही निकलते हैं ? शङ्कराचार्यों के लिये तो आदि शङ्कराचार्य ने इन सब चिह्नों को धारण करने का विधान किया है परन्तु अन्यों के लिये तो ऐसा कोई विधान उन्होंने नहीं किया है । स्वयं आप भी उक्त अवसरों पर रजत सिंहासनारूढ़ क्या इसीलिए होते हैं कि अपना कुछ बड़प्पन दिखाकर साधारण लोगों से पैसा एकत्रित कर सकें ?

आप इन सबका उत्तर क्या देंगे, इनका उत्तर मैं ही दे देता हूँ । जिस प्रकार एक सार्वभौम नरेश के अधीनस्थ नरेश सार्वभौम नरेश की अनुज्ञा से राजचिह्नों को धारण करते हैं, उसी प्रकार से सार्वभौम जगद्गुरु शङ्कराचार्यों की अनुज्ञा से ही अखाड़ों के उपर्युक्त महाशयगण इन चिह्नों को उनके माण्डलिक के रूप में धारण करते हैं साधारण लोगों को बड़प्पन दिखाकर पैसा एकत्रित करने के लिए नहीं ।

शृङ्गेरी मठ के जगद्गुरुशङ्कराचार्य की गरिमा तो महामण्डलेश्वर जी आप उनको पीठस्थ आचार्य अथवा महन्त कहकर गिरा रहे हैं क्योंकि इस विशेषण के द्वारा आप उनको अपने तुल्य सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं जबकि मैंने तो उन्हें अन्य तीन शङ्कराचार्यों के समान मानते हुए उनका स्थान आप से सात स्तर उच्च रखा है । ऐसा

प्रतीत होता है कि अन्य आम्नाय मठों का परिदर्शन आपने अभी नहीं किया है । महोदय वे भी भव्य हैं एवं वहाँ भी प्रतिदिन भिक्षुओं, संन्यासियों, अतिथियों आदि को निःशुल्क भोजन, आवास आदि की सुविधायें प्रदान की जाती हैं ।

'फूट डालो और राज करो' की नीति का प्रयोग कर अब आप अधिक दिन तक अपनी रोटी शृङ्गेरी मठ के चूल्हे पर नहीं सेंक सकेंगे । मेरी इस पुस्तक से अब वहाँ के अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरुशङ्कराचार्य महाराज को भी स्पष्ट हो जायेगा कि यह महामण्डलेश्वर उनका स्तर शङ्कराचार्य से गिराकर महन्त की श्रेणी में ले आने का प्रयास कर रहा है । यह तो मित्र वेष में शत्रु है अथवा बन्दर जैसा सेवक है जो मक्खी उड़ाने हेतु तलवार चलाकर अपने स्वामी का ही वध कर देता है ।

पूर्वपक्ष-८२

भाष्यकार गीताभाष्य अध्याय १३ श्लोक २ में स्पष्ट लिखते हैं - **"तस्माद् सम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः"**।

अतः सुरेश्वराचार्यादि ने स्वयमेव पुस्तक देख-देखकर पढ़ लिया यह सब असत् कल्पना मात्र है । बृहदारण्यक वार्त्तिक लेख भी कोई दो-चार दिन या महीने का काम नहीं था । आनन्दाश्रम में मुद्रित वह पुस्तक दो हजार से अधिक पृष्ठों की है । वह भी गप्पाष्टकमाला नहीं है ।

उत्तरपक्ष-८२

उन्होंने कैसे पढ़ा था यह मेरी पुस्तक के शोध का न तो विषय है और न ही इस सम्बन्ध में एक भी वाक्य मेरी पूर्व पुस्तक में कहा गया है सम्भवतः स्वप्न में आपके समक्ष किसी ने इस कल्पना को प्रस्तुत किया हो ? फिर भी जब आपने परिकल्पना प्रस्तुत कर ही दी है तो कुछ न कुछ विचार करना ही पड़ेगा । भाष्यकार का पूरा कथन निम्न प्रकारेण है -

"आत्महा स्वयं मूढः अन्यान् च व्यामोहयति शास्त्रार्थसंप्रदायरहितत्वात्

श्रुतहानिम् अश्रुतकल्पनां च कुर्वन् । तस्माद् असंप्रदायवित् सर्वशास्त्रविद् अपि मूर्खवद् एव उपेक्षणीयः ।''

अर्थात् - ''वह आत्महत्यारा, शास्त्र के अर्थ की सम्प्रदाय परम्परा से रहित होने के कारण, श्रुति विहित अर्थ का त्याग और वेद-विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके, स्वयं मोहित हो रहा है और दूसरों को भी मोहित करता है । सुतरां जो शास्त्रार्थ की परम्परा को जानने वाला नहीं है वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी हो तो भी मूर्खों के समान उपेक्षणीय ही है।''

इससे स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ का ज्ञान परम्परा से प्राप्त होना चाहिए वह चाहे मौखिक हो अथवा लिखित । जब आचार्य ने लिखित रूप में शास्त्रार्थ उपलब्ध करवा दिया था तब सुरेश्वराचार्य जैसे विद्वान् स्वयमेव भाष्यग्रन्थों को देखकर पढ़ लिये तो दोष क्या है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक आपको सुरेश्वराचार्य कृत मूलबृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य वार्तिक देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है । मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सम्पूर्ण बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य वार्तिक एक ही जिल्द में बद्ध प्रकाशित किया गया है इसमें कुल 698 पृष्ठ हैं । सम्भवतः आनन्दाश्रम में मुद्रित वह पुस्तक बृहदारण्यक उपनषिद् तथा उस पर शाङ्करभाष्य आदि के साथ वार्तिक के प्रकाशन के कारण दो हजार से अधिक पृष्ठों की हो गयी हो, परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् व शाङ्करभाष्य तो सुरेश्वराचार्य के लिखे नहीं हैं अतएव आपका उपर्युक्त कथन वस्तुतः गप्पाष्टक माला ही है ।

पूर्वपक्ष-५३

शृङ्गेरीवालों का कहना है कि अपनी परम्परा को अतिप्राचीन बताकर स्वमहिमप्रख्यापनार्थ पचीस सौ वर्ष अन्य मठस्थ कहते हैं ।

उत्तरपक्ष-५३

शृङ्गेरी वालों का ही पूर्वोक्त कथन है इसको तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि शृङ्गेरीमठ की ओर से कोई लिखित आधिकारिक प्रमाणपत्र आप प्रस्तुत नहीं करते क्योंकि पूर्व में अनेक मिथ्याभाषण कर आप अपनी विश्वसनीयता खो चुके हैं ।

परन्तु प्रश्न यह है कि आचार्य का काल अब से पच्चीस सौ आठ वर्ष पूर्व मानने से अन्य तीन आम्नाय मठों - शारदामठ-द्वारका, गोवर्द्धनमठ-पुरी तथा ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम की महिमा कैसे बढ़ जाती है, और चतुर्थ आम्नाय शृङ्गेरीमठ की महिमा कैसे घट जाती हैं ? अन्य तीन आम्नाय मठों के अनुसार शृङ्गेरीमठ की स्थापना ई0पू0 490 में कार्तिक मास में हुई थी (युधिष्ठिर शक संवत् 2648 में) । इससे स्पष्ट है कि वे शृङ्गेरीमठ को अर्वाचीन तो नहीं सिद्ध कर रहे हैं । और यदि आदिशङ्कराचार्य का काल प्राचीन मानने से ही अन्य आम्नाय मठों की महिमा बढ़ने वाली होती तो वे आचार्य का काल लगभग 5000 वर्ष पूर्व भी मान सकते थे क्योंकि उपलब्ध प्राचीन गुरुओं में व्यास, शुकदेव, गौड़पाद तथा गोविन्दपाद इन्हीं चार आचार्यों का नाम अब तक आदिशङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में संप्राप्त है । व्यास का आचार्यत्वकाल युधिष्ठिर शक के प्रारम्भ अर्थात् ई0पू0 3138 तक मानने पर उसके बाद केवल 3 नाम बचते हैं उन तीन आचार्यों के लिये 139 वर्ष मानने पर आचार्य शङ्कर का आविर्भाव काल अब से 5000 वर्ष पूर्व मानने में कोई बाधा नहीं थी । रही बात जैन-बौद्धमत के निराकरण की बात, तो इसका समाधान श्री विष्णुपुराण में ही दिया गया है कि ये मत पराशर से बहुत काल पूर्व ही प्रचारित किये गये थे ।

यदि आचार्य का काल प्राचीन मानने से ही तीन आम्नाय मठों की प्रतिष्ठा बढ़ने वाली होती तब वे आचार्य का काल अबसे 5000वर्ष पूर्व क्यों न मानते ? क्यों अब से 2508 वर्ष पूर्व ही मान रहे हैं ? उनका मान्यमत क्यों ऐतिहासिक साक्ष्यों की कसौटी पर खरा उतर रहा है ? और इससे शृङ्गेरी मठ की महिमा कैसे घट रही हैं ?

महोदय कुतर्क और वितण्डा की भी एक सीमा होती है सीमा का अतिक्रमण करने वाले का कैसा अन्त होता है यह आप बृहदारण्यक उपनिषद् में पढ़ लीजियेगा ।

पूर्वपक्ष-८४

अधिवक्ता शब्द का वाक्कील अर्थ किसी ने अमान्यकर असली अर्थ जानने का प्रयास करने का आग्रह दिखाया है । ज्ञानमण्डल वाराणसी से प्रकाशित बृहत् हिन्दी कोष में अधिवक्ता का वकील अर्थ दिया है, अतः यही सुधार करने का प्रथम आदेश व आग्रह किया जाय तो तत्पश्चात् यहाँ के बारे में सोच लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा ।

उत्तरपक्ष-८४

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हम यहाँ पर कुछ अति आवश्यक तथ्यों को प्रस्तुत करेंगे जिस पर विद्वज्जन सावधानी पूर्वक ध्यान देंगे।

मेरी पुस्तक "अमिट कालरेखा" (अर्वाचीनमतखण्डन) को प्राप्त करने के बाद अनन्तश्रीविभूषित महामण्डलेश्वर जी की योग्य शिष्या सुश्री चारुलता, मुम्बई विश्वविद्यालयीय कालेज की पूर्व प्राध्यापिका ने महामण्डलेश्वर जी की अनुमति से मुझे एक बहुत अशिष्ट पत्र दिनाङ्कित 31-7-2000 ई. लिखा। उक्त पत्र को परिशिष्ट '1(क)' के रूप में इस पुस्तक के अन्त में प्रकाशित किया गया है। उक्त पत्र में उन्होंने लिखा कि उनके गुरूजी के नाम के पूर्व श्री न लिखकर तथा कुछ लोगों (शङ्कराचार्यों) के नाम के आगे अनन्तश्री लिखकर मैंने यह प्रदर्शित कर दिया कि मेरा लक्ष्य उनके गुरु को नीचा दिखाना था। ऐसा कर मैंने अपना वकीलपना ही प्रकट किया है झूठ को सच सिद्ध करना और सच को झूठ सिद्ध करना वकीलों के बाँये हाथ का खेल है, इसी का प्रदर्शन मेरे पूर्व ग्रन्थ में किया गया है। आगे उन्होंने लिखा कि - उत्तरपक्षी जैसा व्यक्ति महामण्डलेश्वर जी रचित "अद्वैतविजय वैजयन्ती" को हिन्दी अनुवाद के सहित भी तीन जन्म में यथावत् नहीं समझ पायेगें ऐसी उत्तरपक्षी की विद्वत्ता उत्तरपक्षी के पूर्व पुस्तक से प्रकट हुयी है। दुनिया भर के अनावश्यक तथ्यों को जोड़कर वाचकों को भ्रमित करने की वकीलता उत्तरपक्षी ने अपनी पुस्तक में की है कहते हुए अन्त में उन्होंने आक्षेप-प्रत्याक्षेप की धमकी दी।

उक्त पत्र का उत्तर मेरी ओर से दिनाङ्कित 1-10-2000ई. के पत्र द्वारा अति विनम्र एवं शिष्ट भाषा में दिया गया। वह पत्र इस पुस्तक में परिशिष्ट 1(ख) के रूप में यथावत् प्रकाशित किया गया है। पत्र के अन्त में मैंने लिखा था - "**कृपया ध्यान रखिये भविष्य में पुस्तक की स्वस्थ समीक्षा से सम्बन्धित वाद-विवाद ही स्वीकार्य होगा व्यक्तिगत आक्षेप-प्रत्याक्षेप के पत्रों की उपेक्षा कर दी जायेगी।**" वकील, वकीलपना जैसे शब्दों का प्रयोग बहुत विपरीत अर्थ में सुश्री चारुलता जी के पत्र में किया गया था जिस हेतु इस सम्बन्ध में मेरी ओर से लिखे गये उक्त पत्र में लिखा गया-

"सम्भवतः आपको 'वकील' और 'अधिवक्ता' के अर्थ के सम्बन्ध में

विभ्रम है। एक विश्वविद्यालय की पूर्व प्राध्यापिका होने के कारण आपसे यह अपेक्षा की जाती है कि उपर्युक्त दोनों शब्दों के अर्थ और उनकी वैधानिक स्थितियों के बारे में किसी विधि विशेषज्ञ तथा कुरानशरीफ व अरबी भाषा के विशेषज्ञ से जानने का प्रयास करें। आप्त वाक्य है - शब्दों के प्रयोग में धर्म है, अतः शब्दों का अनुचित प्रयोग कर अधर्माचरण न करें।'' इसका भी गुरुशिष्या ने विपरीत ही आशय लगाया और अपनी आलोच्य पुस्तक में मेरे विधि व्यवसाय तथा मेरे सहधर्मा विधि व्यवसायियों के लिए अपशिष्ट एवं घोर आपत्तिजनक वाक्यों का प्रयोग महामण्डलेश्वर महोदय ने किया जिनमें से कुछ वाक्य नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं।

महामण्डलेश्वर जी अपनी पुस्तक में लिखते हैं -

''समारोहोत्तर काल में अन्य पीठाधिपतियों में कानाफूसी शुरू हुई। महान् प्रयत्न से या उच्चतर फीस से एक वाक्कील को उन्होंने तैयार किया- जिनका काम प्रायः निरपराधों को फांसी पर चढ़ाना और सापराधों को निर्दोष छुड़ाना रहता है।

बम्बई में हमारा एक परिचित मशहूर वाक्कील है। उनसे मैंने पूछा आप ब्राह्मण है, ऐसे झूठें केसों को क्यों लेते हैं? उत्तर दिया - '' हम कोई ब्राह्मण नहीं है, धर्म-कर्म वाले नहीं हैं। जो अच्छी फीस दे उनको मैं जिताता हूँ '' (यह भी अतिशयोक्ति है)। वैसा ही एक वाक्कीलक शाङ्कर-पीठासीन एवं उनके भक्तों को मिल गया। झूठ को सच बनाने और सच को झूठ बनाने में वह कितना कुशल है यह ग्रन्थ देखने से ही मालूम पड़ जाता है। परन्तु साधारण लोग यही सोचते हैं कि इतने प्रमाण जुटाने वाले कितने भारी विद्वान् होगें, परन्तु उनपर विचार करने पर मालूम पड़ जाता है कि यह सब प्रमाण - आभास मात्र हैं, और कुछ बनावटी प्रमाण हैं, दूसरों को या फीस देने वाले को उल्लू बनाने का तरीका मात्र है .....।

यह भी किसी मुकदमें में झूठी पार्टी को जिताने के लिए दिन रात एक करने वाले वाक्कीलकों की बात होती तो कुछ गले उतरती। श्रीमान् जी....।

शृङ्गेरी मठ -- को अप्रामाणिक कोटि में पहुँचाने का दुष्प्रयास करने वालो में यही वाक्कील महोदय सर्वाग्रणी का स्थान पा सकता है। -- शृङ्गेरी

पीठ - को आज भी येन केन प्रकारेण बदनाम करने की कुटिलता मात्र वाक्कीलकादि करते हैं । ..... आक्षेप्ता महोदय का वचन पर्याप्ततया प्राप्त फीस की करामात दिखती है । -- गुरुणा प्रणीत इत्यादि भी सनातन धर्मावलम्बियों में गुरुओं के प्रति विद्यमान गौरव भाव प्रदर्शन है । इस बात को कोर्ट में झूठा बहस करने वाले वकील क्या जान सकते हैं । -- अधिवक्ता शब्द का पवित्र अर्थ जानने के लिए अरबी भाषा के ज्ञाता किसी मौलवी से पूछने की सलाह देने वाला अधिवक्ता का अर्थ जो भी समझता हो या करना चाहता हो, किन्तु इस प्रकार का निम्नतम श्रेणी का विचार रखने वाला पूर्वदर्शित बम्बई वाले उस वाक्कील से आगे-आगे कदम रखने वाला ही सिद्ध होता है परन्तु यह सब अनभिज्ञ एवं धूर्तत्वेन प्रसिद्ध व्यक्तियों पर लागू होता है । शास्त्र प्रामाण्य स्वीकर्ताओं पर नहीं । हाँ, वाक्कीलों को ऐसे व्यक्तियों का सम्बन्ध हमेशा बना रहता है । उसी संस्कार का परिणाम है कि व्याडिवचनानुकरण भर्तृहरि ने किया - धर्मकीर्तिसागरघोषवचनानुकरण धर्मकीर्ति ने किया इत्यादि । अपने-अपने चश्में से ही तो देखेंगे ।''

महामण्डलेश्वर जी महाझूठ बोलने वाले एक महाधृष्ट निर्लज्ज व्यक्ति हैं यह तो उनके इन कथनों से स्पष्ट हो ही गया है कि - अब भी दक्षिण भारत में कार्षापण मुद्रा चलती है, लुधियाना में वे एक मन्दिर में द्वारकापीठासीन अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द जी के साथ ठहरे थे आदि । उपर्युक्त पंक्तियों में अपने झूठेपन का साक्ष्य उन्होंने यह कह कर प्रस्तुत किया है कि किसी ने उन्हें अधिवक्ता शब्द का अर्थ किसी मौलवी से पूछने की सलाह दी है । जबकि उद्धृत पत्रांशों से स्पष्ट है कि मेरी ओर से महामण्डलेश्वर जी की योग्य शिष्या को 'अधिवक्ता' शब्द का अर्थ किसी विधि विशेषज्ञ तथा 'वकील' शब्द का अर्थ कुरानशरीफ व अरबी भाषा के विशेषज्ञ से जानने हेतु कहा गया था । अब विद्वज्जन ही निर्णय करें कि कौन मिथ्यावादी है ।

उच्च शुल्क लेकर 'अमिटकालरेखा-अर्वाचीनमतखण्डन' लिखने का आक्षेप लगाकर महामण्डलेश्वर ने अपने महाबण्डलेश्वर होने का साक्ष्य प्रस्तुत कर दिया है । यह कहकर वे अपनी अल्पज्ञता, अज्ञानता और विषय सापेक्ष मूर्खता को नहीं छिपा सकते हैं । पुस्तक की अर्न्तदृष्टियों को खण्डित करने के लिए न तो महामण्डलेश्वर जी के पास ज्ञान था और न ही प्रमाण ऐसी स्थिति में उपर्युक्त विद्वेषमूलक मूर्खतापूर्ण अभिकथन कर

महामण्डलेश्वर जी ने 'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचें' की उक्ति को ही चरितार्थ किया है ।

अपने स्वयं के वक्तव्य से क्रीत लेखक तो पूर्वपक्षी ही प्रतीत होते हैं । अपनी पुस्तक में पृष्ठ 6 व 7 पर वें लिखते है - 'केवल शृङ्गेरी पीठ वालों ने पूर्ण समर्थन का वचन दिया और किया भी । अनेक महामण्डलेश्वर शृङ्गेरी गये । तत्कालीन पीठस्थ श्रीअभिनव विद्यातीर्थजी महाराज ने स्वयं व्यवस्था कराई । सभा हुई । हजारों लोग सभा में उपस्थित हुए । -- ऐसी स्थिति में आधुनिक गवेषक सम्मत शृङ्गेरी समर्थित समय को निर्धारित करना स्वाभाविक था ।'

महामण्डलेश्वर जी ने कहा है कि वाक्कीलकों का अनभिज्ञ एवं धूर्तत्वेन प्रसिद्ध व्यक्तियों से सम्बन्ध बराबर बना रहता है जिसके कारण उनमें संसर्ग दोष आ जाता है। अब हम महामण्डलेश्वर जी का किस प्रकार के लोगों से सम्बन्ध है यह प्रकट करते हैं-

1. महामण्डलेश्वर जी ने कहा है कि बम्बई में उनका परिचित एक मशहूर वाक्कील है जिसका कोई धर्म कर्म नहीं है अच्छी फीस पाने पर झूठे केसों को लेकर झूठे लोगों को जिताता है ।

2. महामण्डलेश्वर जी अपनी पुस्तक में लिखते है -

"अभिलेखादि की बात है । मेरा एक सहाध्यायी (शायद नाम रमानाथ मिश्र था) अभिलेख शिलालेखादि बाँचने वालो में था । मैंने पूछा तुमने इतनी सब लिपियों को कैसे सीख लिया । उसने कहा कि कुछ अक्षरों को अन्दाज से जान लिया है । बाकी सब ऊपर से ठोक देता हूँ और ये मूर्ख लोग उसे यथार्थ समझ कर मुझे पैसा दे देते हैं, बात इतनी ही है ।"

इतना ही नहीं महामण्डलेश्वर जी कूट अभिलेख बनाने की कला में स्वयं ही पारंगत हैं तभी तो कूट अभिलेख बनाने की विधि वे निम्न प्रकार से बताते हैं -

"तथोक्त विवरण पर ही क्यों रह गये ? पहाड़ों में नये पुराने पत्थर बहुत मिलते है । अक्षर खोदने वाले भी मिलते हैं । कुछ मसाला ऊपर से लगा दो तो पुरातन मालूम पड़ेगा । इस प्रकार का अभिलेख भी प्रमाण हो जायेगा ।"

3. महामण्डलेश्वर जी के संन्यासी मित्र किस प्रकार सार्वजनिक मंच से झूठ बोलकर श्रोताओं को गुमराह करते हैं, उसका नमूना महामण्डलेश्वर जी ने अपनी पुस्तक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है -

"विलेपार्ले संन्यासाश्रम में विशेष कार्यक्रमों में स्टेज पर कुछ बड़े, कुछ साधारण और कुछ विद्यार्थी महात्मा बैठते हैं । एक बार श्री स्वामी वासुदेवानन्द महाराज जी ने उनका परिचय देने माइक हाथ में लिया । एक किनारे से सबका परिचय देना था। वे बोलने लगे - स्टेज पर प्रथम नम्बर पर जो सन्त बैठें है उनका नाम स्वामी पञ्चानन जी है सर्वशास्त्र निष्णात हैं, महान् योगी हैं, दक्षिण प्रान्त के हैं इत्यादि । वैसे ही उत्तरोत्तर बढ़ा चढ़ा कर सबका परिचय दिया । मैंने बाद में पूछा ये पञ्चानन जी मुझसे लघु कौमुदी पढ़ते हैं, लड़का है ! आपने उसको सर्वशास्त्रनिष्णातादि विशेषण दिया। अन्य भी कई सन्तों की प्रायः वही स्थिति है । वे बोले - अरे, पूर्वजन्म में ये सब शास्त्र निष्णात योगी रहे होगें । नहीं तो ये संन्यासी ही कैसे बनते ?"

4. महामण्डलेश्वर जी के काशी के एक सहपाठी चाँदी का एक सिंहासन दिखाकर गाँवों में जाकर स्वयं को शङ्कराचार्य बताकर साधारण जनता को किस प्रकार भ्रमित कर धनोपार्जन करते थे उसे वहाँ मण्डलेश्वर जी के ही शब्दों में पढ़िए -

"हमारे काशी के एक सहपाठी दशनाम ब्रह्मचारी को संन्यास दिलाकर श्रीकरपात्री जी ने सुमेरुपीठ काशी के शङ्कराचार्य बनाया । पहले वे कथा प्रवचन करते थे तो एक दो महीने में मुश्किल से दो चार सौ रुपये मिलते थे । शङ्कराचार्य बनने के बाद स्वयमेव वे मुझसे बोले - चांदी सिंहासनादि लेकर किसी भी गाँव में भी जाय और दो चार दिन उपदेश दें तो दस बीस हजार मिल जाता है ।"

महामण्डलेश्वर जी शाङ्कर सम्प्रदाय के हैं अथवा नहीं अब तो इस विषय में भी मुझे शंका होने लगी है क्योंकि शाङ्कर सम्प्रदाय में दशनामी अर्थात् तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी सन्यासी होते है तथा चारनामी अर्थात् स्वरूप, प्रकाश, आनन्द, चैतन्य ब्रह्मचारी होते हैं । ऐसी स्थिति में 'दसनाम ब्रह्मचारी को संन्यास दिलाकर' कहने वाले का यहाँ दो प्रत्यनुमान उपस्थित होता है -

1. यह कि ऐसा व्यक्ति शाङ्कर सम्प्रदाय का न होकर नकली शाङ्कर सम्प्रदायी है ।

2. शाङ्कर सम्प्रदायी तो है परन्तु महामूढ़ हैं जिसे अपने सम्प्रदाय के बारे में कुछ ज्ञान नहीं है ।

पाठकों को हम याद दिला दें कि चार आम्नायमठों के पीठाधीश्वर ही शङ्कराचार्य उपाधि धारण करने के लिए अधिकृत है तथा शङ्कराचार्य को सम्बन्धित पीठ के शङ्कराचार्य अथवा यदि सम्बन्धित पीठ के शङ्कराचार्य बिना किसी को अभिषिक्त किए

चल बसते हैं तो अन्य तीनों पीठों के शङ्कराचार्य सम्बन्धित रिक्तपीठ पर विहित लक्षणों से सम्पन्न किसी परिव्राजक को शङ्कराचार्य बनाते हैं । ऐसी स्थिति में महामण्डलेश्वर जी के मित्र के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय यह बताने की आवश्यकता नहीं है ।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि महामण्डलेश्वर जी का निकटस्थ बम्बई (सम्प्रति मुम्बई) का वकील रुपया लेकर झूठें केसों को जिताने वाला धर्म कर्म विहीन व्यक्ति है। उनका दूसरा मित्र एवं सहाध्यायी रमानाथ मिश्र मिथ्याभिलेख वाचक एवं दूसरों को मूर्ख बना कर रुपया ऐंठने वाला ठग है । कूट अभिलेख बनाने की कला में महामण्डलेश्वर जी स्वयं निपुण हैं ऐसा उनके द्वारा बतायी गई विधि से स्पष्ट है । उनके तीसरे संन्यासी मित्र मंच पर से झूठ बोलकर श्रोताओं को गुमराह करने में दक्ष हैं । महामण्डलेश्वर जी के चौथे काशी के सहपाठी मित्र चाँदी का सिंहासन गाँववालों को दिखाकर तथा अपने को शङ्कराचार्य कहकर ग्रामवासियों से रुपया ऐंठने में सिद्धहस्त हैं । महामण्डलेश्वर काशी में जब पढ़ते थे तब उनके ऊपर नियन्त्रण करने का प्रयास करने वाला एक अनभिज्ञ भण्डारी था । महामण्डलेश्वर जी यह भी कहते है कि अनपढ़ गुरु चेला वाले नागाओं ने उन्हें महामण्डलेश्वर बनाया है । इससे स्पष्ट है कि अनभिज्ञ, धूर्तत्वेन प्रसिद्ध व्यक्तियों, महामिथ्यावादियों, ठगों, कूट रचना करने वालो से बराबर नजदीकी सम्बन्ध होने के कारण महामण्डलेश्वर जी, इतिहासभूगोलादि ज्ञानों से अनभिज्ञ, महाझूठ बोलने वाले, कूट अभिलेखनिर्माणोपदेशक, सिंहासनादि दिखाकर धन ऐंठने वाले बहुत से दुर्गुणों से सम्पन्न हो गये हैं क्योंकि उनकी अपनी ही उक्ति है कि ये सब सम्बन्ध दोष के परिणाम हैं ।

महामण्डलेश्वर जी को यह भी ज्ञात नहीं कि वास्तविक शब्द 'वकील' है जोकि अरबी भाषा का शब्द है यह कुरानशरीफ में 14 बार 14 विभिन्न आयतों में प्रयुक्त हुआ है । यथा -

[432]सूर : आले इमरान ।

[433]सूर : निसा ।

[434]सूर : यूसुफ ।

[435]सूर : बनी इसराईल ।

[436]सूर : फुर्कान ।

[437]सूर : कसस ।

[438]सूर : मुज्जमिल ।

उपर्युक्त आयतों में वकील शब्द का अर्थ [439]हज़रत मौलाना, फतेह मोहम्मद खाँ जालन्धरी व कौसर यजदानी द्वारा कारसाज़ ज़ामिन दारोगा, निगहबान, मददगार एवं गवाह किया गया है । [440]मुहम्मद फारुख खाँ ने वकील शब्द का उन आयतों में अर्थ करता धरता निगहबान, जिम्मा लेने वाला किया है । [441]अहमदिया सम्प्रदाय द्वारा प्रकाशित 'कुर्आन मजीद' की उपर्युक्त आयतों में वकील शब्द का अर्थ निरीक्षक, गवाह, कार्यसाधक किया है । 'कुरान शरीफ' में वकील शब्द अल्लाह अथवा खुदा के लिए एक सम्मानसूचक शब्द के रूप में प्रयुक्त किया गया है इसलिए महामण्डलेश्वर जी एवं उनकी योग्य शिष्या को जिसने अज्ञानतावश इस शब्द का गलत अर्थों में प्रयोग किया था, कुरान शरीफ व अरबी भाषा के विशेषज्ञ से जानने हेतु कहा गया था परन्तु इन दुराग्रहियों ने वकील का और मखौल उड़ाने के लिए वाक्कील शब्द सृजित कर अपनी महामूर्खता व घोर अशिष्टता का परिचय दिया है ।

मैंने 'अधिवक्ता' शब्द का अर्थ किसी विधि विशेषज्ञ से जानने के लिए कहा था परन्तु दुराग्रही, निम्नविचारों वाला, अधोमुखी प्रतिभासम्पन्न इस कुतर्की महामण्डलेश्वर ने इसके बदले में अपनी बम्बई (सम्प्रति मुम्बई) वाले मित्र वकील से भी मुझे आगे-आगे कदम रखने वाला कहने की महाधृष्टता कर डाला । अरे विधिज्ञानशून्य महामूढ़ महामण्डलेश्वर वकीलों एवं अधिवक्ताओं के सम्बन्ध में माननीय उच्चतम न्यायालय भारत की कितनी ऊँची राय है यह पढ़ -

[442]"प्रत्येक विधि व्यवसायी न्यायालय का अधिकारी है और न्याय-हित हेतु सहायता करता है । अधिवक्ताओं का दायित्व न्यायालय तथा उनके मुवक्किल के प्रति एक जैसा होता है । जब हम किसी अधिवक्ता के लोक एवं न्यायालय के साथ उसके दायित्व एवं कर्तव्यों की प्रवृत्ति पर दृष्टिपात करते है तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मुवक्किल का मात्र अभिकर्ता नहीं है । विधि-व्यवसायी तिहरा सम्बन्ध रखता है; एक लोक के साथ, अन्य न्यायालय के साथ और तीसरा अपने मुवक्किल के साथ; यह इसकी अद्वितीय विशिष्टता है । अन्य वृत्तियाँ या आजीविकाएँ इन सम्बन्धों में से एक या दो से युक्त हो सकती है परन्तु अन्य किसी में भी तिहरा कर्तव्य नहीं रहता है । विधिव्यवसायी का कर्तव्य लोक के प्रति विशिष्ट होता है जिसमें उसे

जिस न्यायालय में वह स्वयं विधि व्यवसाय में संलग्न है उसमें सभी मुवक्किलों के सभी कार्यों स्वीकार करना पड़ता है चाहे मुवक्किल अथवा केश कितना ही अनाकर्षक क्यों न हो।"

"एक विधि व्यवसायी अपने मुवक्किलों को अपनी इच्छानुसार नहीं चुन सकता। वह हर किसी व्यक्ति के, जो कि न्यायालय में आता है केस स्वीकार करने हेतु बाध्य है। चाहे वह कितना ही धूर्त क्यों न हो। चाहे उसका काम कितना ही निर्योग्य व अलोकप्रिय क्यों न हो। विधिव्यवसायी को अनिवार्यतः अन्त तक उसका बचाव करना होता है। उसे केस स्वीकार कर सब कुछ सम्मानजनक ढंग से करना होता है क्योंकि उसका कर्तव्य केवल मुवक्किल तक सीमित नहीं है। वे सभी जो विधिव्यवसाय करते हैं समय-समय पर उनकी भेंट ऐसे सिविल एवं आपराधिक मामलों से हो जाती है जिनको वे अस्वीकार करना चाहते हैं, परन्तु एक जिम्मेवारी कर्तव्य समझकर स्वीकार कर लेते हैं। यह कार्य वे लोक के लिए करते हैं। विधिव्यवसायियों का यह कर्तव्य और अधिकार है कि वे बिना सत्ता के भय के, बिना न्यायमूर्तियों के भय के और बिना अपने मुवक्किल द्वारा पीठ में छुरा घोंपे जाने के भय से उन्मुक्त एवं स्वाधीन भाव से बोलें। कुछ हद तक वह न्याय का पुरोहित है।"

"यह मानना, कि वह अपने मुवक्किल का जो वह चाहे कहने वाला वक्ता है अथवा उसके निर्देशों पर काम करने वाला यन्त्र है एक भूल है। इनमें से वह कुछ नहीं है। वह महत् कार्य के प्रति निष्ठावान् होता है। वह कार्य है सत्य और न्याय।"

अब विधिज्ञानशून्य, मूढ़मति, दुराग्रही महामण्डलेश्वर जी की समझ में आ गया होगा कि अधिवक्ता और वकीलों का माननीय उच्चतम न्यायालय की दृष्टि में क्या महत्त्व है। माननीय उच्चतम न्यायालय ने उन्हें न्याय का पुरोहित, न्यायालय का अधिकारी तथा न्याय एवं सत्य हेतु महत् कार्यों का सम्पादक कहा है। महामन्दमति महामण्डलेश्वर को यह भी बता देना श्रेयस्कर होगा कि 1961 तक लीगल प्रैक्टिसनर्स एक्ट 1879 के अन्तर्गत विधिव्यसायियों के कई वर्ग होते थे। यथा -

अधिवक्ता, वकील या उच्चन्यायालय के न्यायवादी, अभिवक्ता, मुख्तार अथवा

राजस्व अभिकर्ता । बाद में अधिवक्ता अधिनियम 1961 के द्वारा उपर्युक्त सभी वर्गों को एकीकृत कर मात्र अधिवक्ता को विधि व्यवसाय करने का अधिकार दिया गया शेष सभी वर्ग समाप्त कर दिये गये । मेरा पंजीकरण अधिवक्ता अधिनियम 1961 के अन्तर्गत हुआ है इसलिए वैधानिक धरातल पर मैं अधिवक्ता हूँ वाक्कील नहीं, क्या यह अल्पमति महामण्डलेश्वर अब भी नहीं मानेगें ।

महामण्डलेश्वर जी आप जिस उपाधि को धारण करते हैं उसके सम्बन्ध में [443]माननीय उच्चतम न्यायालय भारत ने कहा है कि इन सब उपाधियों के धारक दशनामी दण्डियों के लिए विहित आवश्यक पवित्र आचरण से पतित हैं । इस प्रकार माननीय उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार आप पतित अतीत या अदण्डी संन्यासी ठहरते हैं । माननीय उच्चतम न्यायालय भारत ने अपने उपर्युक्त निर्णय श्रीकृष्ण प्रति मथुरा अहीर में कहा है कि तीर्थ, आश्रम, सरस्वती और आधे भारती अब भी आचार्य शङ्कर के वास्तविक दण्डी माने जाते हैं । ऐसे में माननीय उच्चतम न्यायालय भारत के निर्णय के अनुसार दण्डियों के लिए विहित पवित्र आचरण से पतित गिरि उपाधिधारी महामण्डलेश्वर जी चले हैं वकीलों (अधिवक्ताओं) एवं शङ्कराचार्यों के आचरणों की समीक्षा करने ।

सार-संक्षेप

1. श्री शारदामठ द्वारका के अभिलेखों, ईसवी सन् की नवम सदी की पुस्तक 'शङ्कराचार्य नो समय' (जिसमें दिये गये आचार्य शङ्कर के जीवन से सम्बन्धित तिथिक्रम को मैसूर महाराज के पंडित धर्माधिकारी के पुत्र पं0 वेङ्कटाचल शर्मा शास्त्री ने अपने 1914 ईसवी सन् की पुस्तक श्री शङ्कराचार्य चरित्रम में यथावत प्रस्तुत किया है) तथा 1899 ई0 सन् में प्रकाशित शारदामठ-द्वारका के 73वें शङ्कराचार्य श्रीमत् राजराजेश्वर शङ्कराश्रम स्वामी की पुस्तक 'विमर्श' (जिसमें ईसवी सन् की नवमी सदी के राजा सर्वजित वर्मा के ताम्रपत्र अभिलेख से आचार्य शङ्कर के जीवनकाल के घटनाक्रम को तिथि सहित पुनः प्रस्तुत किया गया है) में आचार्य शङ्कर का जन्म युधिष्ठिर शक सम्वत् 2631 (तुल्य ईसवी सन् पूर्व 507), वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन तथा कैलाश गमन युधिष्ठिर शक सम्वत् 2663 (तुल्य ई. सन् पूर्व 475), कार्तिक शुक्ल 15 के दिन होना लिखा है।
2. श्रीगोवर्धनमठ-पुरी के अतिप्राचीन अभिलेखों के अनुसार आदिशङ्कराचार्य का आविर्भाव विक्रम सं. 450 वर्ष पूर्व (गत) कलि सं. 2594 (तुल्य ई. सन् पूर्व 507) वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन तथा कैलाशगमन (गत) कलि सम्वत् 2626, कार्तिक शुक्ल 15 के दिन हुआ था ।
3. ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम की परम्परानुसार आचार्य शङ्कर का आविर्भाव (चालू) कलि संवत् 2595 (तुल्य ईसवी सन् पूर्व 507), वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन तथा कैलाश गमन (चालू) कलि संवत् 2627 (तुल्य ईसवी सन् पूर्व 475), कार्तिक शुक्ल 15 के दिन हुआ था ।
4. शृङ्गगिरिमठ के प्राचीन अभिलेखों के अनुसार आचार्य शङ्कर का जन्म विक्रम शक 14 में हुआ था । अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि शृङ्गगिरिमठ के उक्त अभिलेखों में ईसवी सन् पूर्व 521 में प्रवर्तित संम्वत् का उल्लेख है । इस संवत् का उल्लेख अब सम्राट् अशोक के ब्रह्मगिरि लघुशिलाभिलेख, चित्रदुर्ग जनपद, कर्नाटक प्रान्त; अहरौरा लघु शिलाभिलेख, मिर्जापुर जनपद, उत्तरप्रदेश प्रान्त; सहसाराम लघुशिलालेख, शाहाबाद जनपद, विहार प्रान्त; गुर्जरा लघुशिलाभिलेख, जनपद दतिया तथा रूपनाथ लघुशिलाभिलेख जनपद जबलपुर, मध्यप्रदेश प्रान्त

में प्राप्त हो चुका है । उक्त अभिलेखों में इस संवत् के वर्ष 256 का उल्लेख है । ब्रह्मगिरि कर्नाटक के चित्रदुर्ग जनपद में है और चित्रदुर्ग जनपद चिकमंगलूर जनपद की पश्चिमोत्तर सीमा से सटा हुआ एक प्रतिवेशी जनपद है । इसी चिकमंगलूर जनपद में शृङ्गगिरिमठ अवस्थित है । मूलतः ब्रह्मगिरि शिलाभिलेख सम्प्रति आन्ध्रप्रदेश अन्तर्गत कूर्नुल जनपदस्थ ऐर्रागुडी के निकट सोनागिरि (जोन्नागिरि) से इसिला (सिद्धपुर के आसपास के क्षेत्र) के महामात्यों के लिये लिखा गया था । चित्रदुर्ग जनपद में अवस्थित जटिंग रामेश्वर तथा सिद्धपुर और आन्ध्रप्रदेश के कूर्नुल जनपदान्तर्गत ऐर्रागुडी एवं राजुला मन्द गिरि में भी इसी तरह का अभिलेख पाया गया है ।

डॉ. भण्डारकर उक्त सम्वत् 256 को गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध किसी घटना से जुड़े सम्वत्सर के बीते 256 वर्षों का उल्लेख मानते है अर्थात् चालू सम्वत् 257 । सम्राट् अशोक के शाहबाजगढ़ी अभिलेख में लिखा है - "अढवष अभिसितस देवनप्रियसप्रियद्रशिष्यरञो कलिगविजित"। अर्थात् -'अढाई वर्षों से अभिषिक्त देवों के प्रियदर्शी राजा ने कलिंग जीता' । महावंश में कहा गया है कि अपने अभिषेक के तीसरे वर्ष में अशोक ने बौद्धधर्म को अपना लिया अर्थात् कलिंग युद्ध के शीघ्र पश्चात् । ब्रह्मगिरि अभिलेख में कहा गया है कि उक्त अभिलेख के लिखे जाने तक अशोक को बौद्धमत अपनाये ढ़ाई वर्ष बीत चुके थे । चूँकि सम्राट् अशोक ने अपने अभिषेक के ढाई वर्ष पश्चात् कलिंग को जीता एवं शीघ्र पश्चात् बौद्धमत अपना लिया इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि ब्रह्मगिरि का अभिलेख सम्राट् अशोक के अभिषेक के पाँच वर्ष बाद लिखा गया । डॉ. डी.सी. सरकार आदि बहुसंख्यक इतिहासविदों का अभिमत है कि सम्राट् अशोक का अभिषेक ईसा पूर्व 269 में हुआ था । इस आधार पर ब्रह्मगिरि अभिलेख की तिथि ईसा पूर्व 264 प्राप्त होती है । ईसा पूर्व 264 के पूर्व उक्त संवत् के 256 वर्ष बीत चुके थे जिससे उक्त गत सम्वत् का परिगणान ईसा पूर्व 264+गत सम्वत् 256 = ईसापूर्व 520 से सिद्ध होता है जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उक्त सम्वत् का प्रवर्तन ईसा पूर्व 521 में किया गया था । शृङ्गगिरिमठ के प्राचीन अभिलेखों में उल्लिखित यही (चालू) सम्वत् जिसका ईसा पूर्व 521 में प्रवर्तन किया गया था असंदिग्धरूप से सिद्ध होता है ।

सम्राट् अशोक ने अपने कुछ अभिलेखों में संवत्सर, तिथि और मास का उल्लेख किया है इसकी पुष्टि चीनी यात्री फाहियान, जो कि अब से लगभग 16 सौ वर्ष पूर्व भारत आया था के पाटलिपुत्र से सम्बन्धित विवरण से भी होती है । यथा- "अशोक ने ..... पहला महास्तूपजो बनवाया नगर के दक्षिण 3ली से अधिक दूरी पर है । ..... स्तूप के उत्तर तीन चार सौ पग पर अशोक राजा ने नेले नगर बसाया । नेले नगर में पत्थर का एक स्तम्भ है, तीस हाथ से अधिक ऊँचा ऊपर सिंह है । स्तम्भ पर खुदा है "नगर वसन का हेतु, वर्ष , तिथि और मास" इस प्रकार शृङ्गेरी मठ के प्राचीन प्रामाणिक अभिलेखों के आधार पर भी आचार्य शङ्कर का जन्म ईसा पूर्व 507 (ई. पूर्व 521-शक काल 14) में सिद्ध होता है ।

5. आदिशङ्कराचार्य को समर्पित सम्राट् सुधन्वा के ताम्रपत्र अभिलेख में युधिष्ठिर शक सम्वत् 2663 (तुल्य ई.सन् पूर्व 475), आश्विन शुक्ल 15 की तिथि अंकित है । सम्राट् सुधन्वा चाहमान राजवंश की सूची में जो कि चाहमान से प्रारम्भ होती है पीढी के अनुसार छठे क्रम पर आते है । उक्त सूची में राजा वासुदेव 41वीं पीढ़ी के राजा के रूप में अङ्कित हैं । प्रबन्ध कोश आदि अति प्राचीन ग्रन्थों में इनका राज्याभिषेक विक्रम संवत् 608 तु. ई. सन् 551 में होना लिखा है । इसकी पुष्टि इनके उपलब्ध सिक्के से भी होती है जो कि ई. सन् की छठवीं सदी का है तथा जिस पर इनका नाम वासुदेव चाहमान भी अङ्कित है । इस राजवंश के 47वें पीढ़ी के राजा दुर्लभराज का विक्रम सम्वत् 850 अर्थात् ई. सन् 793 का अभिलेख भी उपलब्ध है । इसी वंश की 62वीं पीढ़ी में अन्तिम हिन्दू सम्राट् दिग्विजयी पृथ्वीराज चौहान (3) हुए थे जिन्हें कन्नौज नरेश जयचन्द के देशद्रोह के कारण 1192 ई. में तरावली (तराई) के द्वितीय महासंग्राम में वीरगति प्राप्त हुई थी । 47वीं पीढ़ी के राजा दुर्लभराज से लेकर 62वीं पीढ़ी के राजा पृथ्वीराज चौहान (3) तक सभी राजाओं से सम्बन्धित अभिलेख उपलब्ध है । ऐसी स्थिति में जबकि 793 ई. सन् में सम्राट् सुधन्वा से गणना करने पर उनकी 42वीं पीढ़ी में आने वाला (चाहमान) राजवंश की सूची (चाहमान राजवंश की सूची की 47वीं पीढ़ी का) राजा दुर्लभराज राज्य कर रहा था तब सम्राट् सुधन्वा के समकालीन आचार्य शङ्कर का आविर्भाव काल ईसवी सन् 788 मानना एक आधारविहीन गगनपुष्प की भाँति अति मिथ्या

कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

6. नेपाल के प्राचीन इतिहास का आङ्ल अनुवाद 1877ई. सन् डेनियल राईट द्वारा प्रकाशित किया गया था, अनुवादक थे मुंशी शिवकुमार सिंह तथा पं. गुणानन्द । नेपाल के प्राचीन इतिहास का सार संक्षेप आङ्ल भाषा में प्रस्तुत करते हुए डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी व डॉ. जी. बुह्लर ने 'सम कन्सिंडरेशन ऑन हिस्ट्री ऑफ नेपाल' में अपना मन्तव्य भी दिया है जिसे इण्डियन एण्टिक्वेरी के नवम खण्ड में पृष्ठ 411-28 पर 1884 ई. में प्रकाशित किया गया था । कोटा वेङ्कटाचलम् ने भी 'क्रोनोलाजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री' लिखा है । इन सभी नेपाल के इतिहास ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि आदिशङ्कराचार्य राजा वृषदेववर्मा के तथा एक परवर्ती शङ्कराचार्य राजा वरदेव के शासनकाल में नेपाल गये थे । प्राचीन नेपाली इतिहास के अनुसार चालू कलि सम्वत् 2615 तुल्य ई.पूर्व 487 में आचार्य शङ्कर नेपाल गये थे । दूसरे राजा वरदेव, जिनके शासनकाल में परवर्ती शङ्कराचार्य के नेपाल जाने का उल्लेख किया गया है का काल श्लोक में कलि सम्वत् शूल (=3) द्वन्द्व (=2) रसा (=1) अग्नि (=3) अर्थात् 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार (गत) कलि सम्वत् 3123 तुल्य ईसवी सन् 22 । इस श्लोक में आये 'रसा' का अर्थ पृथ्वी (=1) न कर आङ्ल अनुवादकों ने रसातल (=6) कर इसे (गत) कलि सम्वत् 3623 तुल्य ईसवी सन् 522 लिख दिया है । इस राजा के शासनकाल में गुरु गोरखनाथ के भी नेपाल जाने का उल्लेख किया गया है जिससे इनका काल ईसवी सन् पूर्व की प्रथम शताब्दी तथा ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी का सन्धि काल असंदिग्धरूप से सिद्ध होता है अतएव उक्त श्लोक में रसा का अर्थ पृथ्वी (=1) करना ही समीचीन है ।

राजा वृषदेव वर्मा से गणना करने पर उनकी छठवीं पीढ़ी में आने वाले राजा वसन्तदेव का अभिषेक गत कलि सम्वत् 2800 तुल्य ईसापूर्व 301 में होना लिखा है । वहीं यह भी उल्लेख है कि राजा वृषदेव वर्मा की 14 वीं पीढ़ी में आने वाले राजा विश्वदेव वर्मन के शासनकाल के अन्तिम दिनों में भारतवर्ष में विक्रम संवत् का प्रवर्तन करने वाले शक्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य उज्जयिनी से नेपाल गये । वहाँ उन्होंने नेपाल के सभी निवासियों का ऋण चुका कर अपने संवत् को प्रचलित किया तथा नीलतारा के पास हरिसिद्धि देवी को प्रतिष्ठित किया।

राजा विश्वदेव वर्मन के जामात्र महासामंत अंशुवर्मा का विक्रम संवत् 34 तुल्य ई. पू. 23 का अभिलेख भी उपलब्ध है । विश्वदेव वर्मन की छठवीं पीढ़ी (अभिलेखों के अनुसार) अथवा 5वीं पीढ़ी (वंशावली के अनुसार) में आने वाले राजा नन्ददेव को जब यह ज्ञात हुआ कि पड़ोसी देश भारतवर्ष में शालिवाहन शक संवत् का प्रचलन हो गया है तब उसने भी नेपाल में शालिवाहन शक संवत् को प्रचलित कर दिया । इन सभी प्रमाणों के आधार पर राजा वृषदेव वर्मन का काल ई.पू. 487 निश्चितरूपेण सत्योल्लेख है अतएव इनके काल में ई.पू. 487 में नेपाल जाने वाले आदिशङ्कराचार्य को ईसवी सन् की अष्टम व नवम सदी का कहना अनुचित, असंगत व असत्य है । यही नहीं नेपाल में ई. सन् 22 में भी राजा वरदेव के शासनकाल में एक परवर्ती शङ्कराचार्य के नेपाल जाने का उल्लेख है ।

7. कोङ्गदेश के राजा तिरु विक्रमदेव के ईसवी सन् 178 (शा.शक संवत् 100) के ताम्रपत्र अभिलेख में लिखा है कि इन राजा को (एक) शङ्कराचार्य ने जैनमत से शैवमत में परिवर्तित किया । इस तथ्य की पुनरावृत्ति ई. सन् की नवम सदी के मर्कार ताम्रपत्र अभिलेखों तथा लगभग उसी काल के कोङ्गदेश के राजा द्वारा लिखित ग्रन्थ 'कोङ्गदेश का राजकाल' में भी की गयी है जिसकी उसी काल की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है । इससे ई० सन् की द्वितीय शताब्दी में भी एक परवर्ती शङ्कराचार्य की उपस्थिति का पुष्ट प्रमाण मिलता है ।

8. आदिशङ्कराचार्य ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को लक्ष्यकर अपने भाष्य ग्रन्थों की रचना की थी जिसके कारण सरलता से विषय प्रतिपादन करने हेतु तथा कठिन विषयों को सहजबोधगम्य बनाने के उद्देश्य से उन्होंने अपने समय की प्रचलित मुद्रा तथा उस समय के प्रसिद्ध राजधानीय नगरों जो कि भारत प्रसिद्ध राजमार्ग पर अवस्थित थे का उदाहरण अपने भाष्यग्रन्थों में दिया है । इसी क्रम में माण्डूक्य उपनिषद् भाष्य में आचार्य ने आत्मा के चार पादों को सहजबोधगम्य बनाने हेतु उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित कार्षापण मुद्रा का उदाहरण देते हुए कहा कि कार्षापण की भाँति आत्मा के चार पाद (अंश) होते हैं गौ की तरह नहीं । ई. पूर्व छठी सदी से मौर्यों के पूर्व तक अर्थात् ई.पू. चौथी शताब्दी तक कार्षापण सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित एक सार्वजनीन मुद्रा थी । कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि

मौर्यों ने आहत सिक्कों (कार्षापण) के स्थान पर ढलवे सिक्कों (पण) का प्रचलन आरम्भ किया तो भी कुछ समय तक कार्षापण को उन्होंने कोश प्रवेश्य बनाये रखा । ई. सन् पूर्व की दूसरी सदी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत में तथा ई. सन् की दूसरी सदी तक सम्पूर्ण दक्षिण भारत से कार्षापण मुद्रा प्रचलन से बाहर हो चुकी थी यह सभी प्रसिद्ध मुद्राशास्त्रियों का मत है तथा इसकी पुष्टि उत्खनन, अभिलेखों एवं कार्बन 14 तिथिकरण से भी होती है । ऐसी स्थिति में ईसवी सन् के अष्टम-नवम शतक में आचार्य शङ्कर का आविर्भावकाल मानने का कोई औचित्य नहीं है।

9 आचार्य शङ्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में स्रुघ्न और पाटलिपुत्र नामक नगरों का उदाहरण देते हुए कहा है कि स्रुघ्न में वर्तमान देवदत्त उसी दिन पाटलिपुत्र में वर्तमान नहीं रहता है तथा जो भी स्रुघ्न से मथुरा जाकर मथुरा से पाटलिपुत्र जाता है वह भी स्रुघ्न से पाटलिपुत्र जाता है ऐसा कहा जा सकता है । इससे स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर के काल में स्रुघ्न एवम् पाटलिपुत्र दो प्रसिद्ध समृद्ध राजधानीय नगर थे तथा स्रुघ्न से पाटलिपुत्र जाने वाला राजमार्ग एक प्रसिद्ध राजमार्ग था । पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में बार बार स्रौघ्न प्रासादों एवम् प्राकारों का उल्लेख किया है । स्रुघ्न के उत्खनन का वैज्ञानिक प्रणाली कार्वन-14 तिथिकरण के अनुसार परीक्षण करने पर पुरातत्वविद् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ई. सन् 300 तक इस नगर का विनाश हो चुका था । ईसवी सन् की 7वीं सदी के पूर्वाद्ध में भारत भ्रमण करने वाले ह्वेनसाङ्ग ने भी लिखा है कि स्रुघ्न नगर का बहुत पूर्व विनाश हो चुका था तथा इसके खण्डहर 20 ली की परिधि में बिखरे पड़े थे । ईसवी सन् की दसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस नगर के ध्वंसावशेषों के मध्य सुघ, दयालपुर मण्डल गढ़ और बुरिया नामक ग्राम बसे । इससे स्पष्ट है कि ईसवी सन् की चौथी सदी से 10 वीं सदी के पूर्वाद्ध तक स्रुघ्न में कोई आबादी न थी । इसी प्रकार प्राचीन पाटलिपुत्र के स्थल कुम्रहार, महाबीर घाट एवं एक अन्य स्थान के उत्खनन एवं उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के वैज्ञानिक परीक्षण तथा विश्लेषण से पुरातत्वविद् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ई. सन् 600 के पश्चात् पाटलिपुत्र नगर का पतन हो चुका था तथा ईसवी सन् की 11वीं सदी में इसके अवशेषों के मध्य पुनः आबादी का बसना आरम्भ हुआ । इस प्रकार ईसवी सन् की 7वीं सदी से 10वीं सदी तक पाटलिपुत्र में कोई आबादी न थी और न ही

इसका नगरीय अस्तित्व था ।

ऐसी स्थिति में जबकि स्त्रुघ्न और पाटलिपुत्र नगरों का अस्तित्व ही नहीं था उस समय ई. सन् की अष्टम-नवम सदी में आचार्य के होने की कल्पना करना मात्र एक विभ्रम ही कहा जा सकता है । जबकि वास्तविकता तो यह है कि आचार्य के यथार्थ भाष्यलेखन काल ई.पू. 5वीं सदी में स्त्रुघ्न और पाटलिपुत्र के समृद्धशाली नगर होने का प्रमाण साहित्यिक सामग्रियों तथा उत्खनन दोनों से ही प्राप्त होता है ।

10. कल्हण की राजतरंगिणी से तथा कश्मीर में शङ्कर पर्वत पर स्थित राजा जलौक द्वारा बनवाये गये शिवमन्दिर के पुरातात्विक परीक्षण से यह सिद्ध हो जाता है कि ई. सन् की 5 वीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश में आचार्य कश्मीर गये थे । 'विमर्श' एवं 'शङ्कराचार्य नो समय' के अनुसार युधिष्ठिर शक संवत् 2662 तु. ईसवी सन् पूर्व 476 में कश्मीर में आचार्य का जाना लिखा है । राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर नरेश राजा जलौक का भी यही काल सिद्ध होता है । कल्हण ने जलौक के गुरु (आचार्य शङ्कर) को तत्कालीन अनेक बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाला व्यास की शिष्य परम्परा का संन्यासी कहा है । इन्हीं की प्रेरणा से राजा जलौक की रानी ईसान देवी ने श्रीयन्त्र की जगह-जगह प्रतिष्ठा करवाकर मातृचक्र की पूजा को बढ़वाया । जलौक ने श्रीनगर के पास पहाड़ी पर मन्दिर बनवाकर आचार्य शङ्कर की यात्रा की स्मृति में इस पहाड़ी का नाम शङ्कर पर्वत रख दिया । इसी काल में आचार्य सर्वज्ञ (शारदा) पीठ पर विराजमान हुए थे ।
11. गुर्जरमण्डल के शासक राजा सर्वजितवर्मा अपरनाम अमोघवर्ष के विक्रम संवत् 941 (तुल्य ईसवी सन् 884) वैशाख, शुद्ध चतुर्दशी के दिन शारदामठ द्वारका के 29वें शङ्कराचार्य श्री नृसिंहाश्रम (ई. सन् 855 से 904) को एक ताम्रपत्र अर्पित किया था ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर को ई. सन् की अष्टम-नवम सदी में ले जाना मात्र एक भ्रान्त धारणा का प्रतिफल ही कहा जा सकता है ।
12. 1385 ई. सन् के विरूपाक्ष मन्दिर के भित्ति चित्र, विरूपाक्ष वसन्तोत्सव चम्पू तथा रेणुतन्त्र से ज्ञात होता है कि शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य श्री विद्यारण्यमुनि छत्र, चामर, सिंहासन, स्वर्ण पालकी, हाथी आदि सार्वभौमत्व सूचक चिह्नों का प्रयोग

करते थे ।

13. सांख्य कारिका पर लिखित गौडपाद भाष्य पर माठर ने विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में माठरवृत्ति लिखा था । बौद्ध भिक्षु परमार्थ 546 ई. में अपने साथ गौडपाद भाष्य व माठरवृत्ति को चीन ले गया । वहाँ 569 ई. सन् में उसकी मृत्यु हुई । इसी बीच (546 ई. से 569 ई.) के मध्य उसने गौडपाद भाष्य व माठरवृत्ति का चीनी अनुवाद किया जिससे गौडपाद की प्राचीनता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है ऐसी स्थिति में उनके प्रशिष्य आदि शङ्कराचार्य को ईसवी सन् की अष्टम-नवम सदी का मानना मात्र एक दुराग्रह ही कहा जा सकता है ।

14. काञ्ची के राजा बल्लभ महाराज द्वारा ईसवी सन् 1455 के एक ताम्रपत्र अभिलेख में एक शङ्कराचार्य के तन्त्री को शङ्कराचार्य की उपस्थिति में कुछ भूमिदान देने और कुछ मन्दिरों में विशेषाधिकार प्रदान करने का उल्लेख किया गया है । उक्त ताम्रपत्र पर शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य की मुद्रा भी लगी है । मदुरा नायक राजा विजयरङ्ग-चोक्कनाथ द्वारा ई. सन् 1708 में 'लोकगुरु श्रीमत् शङ्कराचार्य स्वामुलवारु' को एक ताम्रपत्र के माध्यम से दान देने का उल्लेख है। इसमें 'लोकगुरु श्रीमत् शङ्कराचार्य स्वामुलवारु' पद के अतिरिक्त 'शारदामठ' का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि यह भूदान शृङ्गेरीमठ के शङ्कराचार्य को दिया गया था । इसी प्रकार 1773 ई. में वालाजा के नवाब ने 'लोकगुरु शङ्कराचार्य शृङ्गेरी' को काञ्ची में वर्णाश्रमाचार से सम्बन्धित विवाद में निर्णय देने हेतु कहा था । कोङ्ग देश के राजा तिरु (=श्री) विक्रमदेव के ईसवी सन् 178 के ताम्रपत्र अभिलेख तथा नेपाल नरेश वरदेव (ई.सन् 22) के काल के विवरणों में भी परवर्ती शङ्कराचार्यों के लिये केवल 'शङ्कराचार्य' पद का प्रयोग किया गया है उनके भिन्न-भिन्न नाम नहीं दिये गये हैं । यही कारण है कि परवर्ती शङ्कराचार्यों के आविर्भाव काल को आदि शङ्कराचार्य का आविर्भावकाल मान लेने की सुधीजन भी भूल कर बैठते हैं ।

15. 'भगवत्' विशेषण का प्रयोग टीकाकार आनन्दगिरि ने अपने गुरु शुद्धानन्द हेतु कई शताब्दियों पूर्व किया है जिससे स्पष्ट है कि यह विशेषण मात्र आदि शङ्कराचार्य के लिये अद्वैत शाङ्कर सम्प्रदाय में रूढ़ नहीं है उनके लिये 'भगवत्पाद' पद रूढ़ है । अतएव कम्बोडिया के राजा इन्द्रवर्मा (877ई. से 889ई. जो कि

राजा जयवर्मा का उत्तराधिकारी था) के गुरु शिवसोम के गुरु भगवत् शङ्कर श्री गोवर्द्धनमठ-पुरी के 81वें शङ्कराचार्य शङ्कर (871ई. से 885ई.) के शिष्य थे । जिस अभिलेख में भगवत् शङ्कर का उल्लेख है वह 887 ई. का है ।

16. महामण्डलेश्वर जी द्वारा प्रस्तावित आचार्य शङ्कर का नवीन आविर्भावकाल 795ई. से 890 ई. के अनुसार आदिशङ्कराचार्य की आयु 95 वर्ष ठहरती है जब कि अब तक सभी के द्वारा सर्वमान्य आचार्य शङ्कर की आयु 32 वर्ष ही मानी जाती है । कुछ नगण्य लोग परवर्ती शङ्कराचार्यों को आदि शङ्कराचार्य मानने की भूलकर उनकी आयु क्रमशः 34, 36 या 38 वर्ष मानते हैं परन्तु 95 वर्ष तो अब तक किसी ने नहीं माना यह तो सकल प्रमाण एवम् सम्प्रदाय विरुद्ध एक हास्यास्पद प्रस्ताव मात्र है जो कि प्रथम दृष्ट्या ही सभी को अमान्य है । इस युग में कौमुदी पढ़ाने वालों का यह कथन कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' कोई मानने वाला नहीं है । अपने इस प्रस्तावित काल के समर्थन में महामण्डलेश्वर जी ने एक भी प्रमाण न देकर मात्र अँधेरे में एक तीर चलाने जैसा कार्य किया है ।

17. आवाहन अखाड़े की स्थापना 547 ई. सन् में, अटल अखाड़े की स्थापना 644ई. सन् में, महानिर्वाणी अखाड़े की स्थापना 749 ई. सन् में तथा आनन्द अखाड़े की स्थापना 799ई. सन् में हुई थी ऐसा सप्रमाण स्वामी दिव्यानन्द जी महाराज भिक्षु, तपोवन हरिद्वार के शिष्य विवेक ज्योति ने अपने ग्रन्थ में लिखा है । ये सभी अखाड़े शाङ्कर सम्प्रदाय के हैं । आचार्य शङ्कर का आविर्भावकाल 788-820 ई. मानने पर घोर विसंगति उपस्थित हो जाती है क्योंकि इस तिथि के आधार पर आवाहन, अटल व महानिर्वाणी अखाड़ों की स्थापना, आचार्य के जन्म से क्रमशः 241वर्ष, 141वर्ष व 39वर्ष पूर्व तथा आनन्द अखाड़े की स्थापना आचार्य के 11वें वर्ष में जबकि उन्होंने भाष्य आदि कुछ नहीं लिखा था सिद्ध होती है जो कि कथमपि स्वीकार्य नहीं हो सकती ।

18. मठाम्नाय-महानुशासनम् में स्वयं आचार्य शङ्कर ने चार आम्नायमठों- श्रीशारदामठ-द्वारका, श्रीगोवर्द्धनमठ-पुरी, श्रीज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम तथा श्रीशृङ्गेरीमठ के आचार्यों को स्वयं को शङ्कराचार्य कहने तथा इन्द्रोपचार (सिंहासन, छत्र, चामर आदि) धारण करने का निर्देश दिया है । नेपाल के इतिहास एवं ऊपर अभिकथित अभिलेखों के प्रमाणों, भित्ति चित्र एवं विरूपाक्ष वसन्तोत्सव चम्पू

आदि से स्वतः स्पष्ट है कि शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य समेत सभी परवर्ती शङ्कराचार्य, शङ्कराचार्य पदवी आदि शङ्कराचार्य के द्वारा मठाम्नाय-महानुशासनम् में दिये गये आचार्य शङ्कर के निर्देशों के अनुसार आदिशङ्कराचार्य के कैलाशगमन के ही दिन से सिंहासन, छत्र, चामर आदि इन्द्रोपचारों सहित धारण करते चले आ रहे हैं।

9. विष्णुपुराण के अनुसार बौद्ध, जैनश्वेताम्बर तथा जैन दिगम्बर मतों के प्रवर्तक माया मोह नामक व्यक्ति थे। अग्निपुराण में शुद्धोदन के पुत्र को पश्चात्कालीन महामोह (=माया मोह) का अवतार कहा गया है। गौतम बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का नाम महामाया देवी था। इनका जन्म वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को 'लुम्बिनी वन' नेपाल में हुआ था। जाति से ये क्षत्रिय थे। भगवान् विष्णु के अवतार बुद्ध के पिता का नाम अजन था तथा इनका जन्म कीकट (गया, बिहार) में हुआ था। ऐसा श्रीमद्भागवतमहापुराण में लिखा है। वे जाति से ब्राह्मण थे यह भविष्यपुराण तथा सन्तपरम्परा में प्रचलित पंक्तियों से ज्ञात होता है। इनका जन्म पौष शुक्ल सप्तमी के दिन हुआ था यह आनन्द रामायण में लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् विष्णु के अवतार बुद्ध तथा महामोह के अवतार बुद्ध दोनों दो भिन्न व्यक्ति थे। माया मोह द्वारा प्रवर्तित बुद्धों की परम्परा में अनेकों बुद्ध हो चुके है इसका प्रमाण गौतम बुद्ध के उपदेशों के संग्रह त्रिपिटक आदि से मिलता है जहाँ स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती छः सम्प्रदाय प्रवर्तक बुद्धों का नाम गिनाया है। ई. सन् पूर्व चतुर्थ सदी के बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तरम्' तथा ई. सन् पूर्व प्रथम शताब्दी के अश्वघोष कृत 'बुद्धचरितम्' में अनेकों बुद्धों की बात की गई है। ई.पूर्व तीसरी शताब्दी के सम्राट् अशोक के एक अभिलेख में पूर्वगमन बुद्ध के स्तूप का उनके द्वारा जीर्णोद्धार व विस्तार करने की बात लिखी गई है। गुप्तकालीन ग्रन्थ महावंश, दीपवंश, थूपवंश आदि में अनेकों बुद्धों का उल्लेख है, महावंश में उन चौबीस पूर्ववर्ती बुद्धों के नाम दिये गये जिनकी गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति हेतु उपासना की थी। फाहियान ने ई. सन् की पाँचवी सदी के आरम्भ में अपने भारत यात्रा के वृतान्त में लिखा है कि उसने श्राबस्ती नगर के दक्षिण पश्चिम दिशा में बारह योजन पर नाभिका में (बुद्धवंश में इसे क्षेमावती कहा गया है) क्रकुच्छन्द बुद्ध के जन्मस्थल पर बने स्तूप, श्राबस्ती से उत्तरदिशा में एक योजन पर तिलौरा और गोबरी के पास पूर्वगमन बुद्ध के जन्मस्थल पर

बने स्तूप तथा श्रावस्ती के पश्चिम 50 ली (9मील दूरी) पर टण्डवा नामक ग्राम में कश्यप बुद्ध के जन्मस्थल पर बने स्तूप का दर्शन किया । इन तीनों स्तूपों के खण्डहर आज भी मौजूद है । फाहियान ने संकाश्य, साकेत तथा गृध्रकूट में उपर्युक्त तीन बुद्धों तथा एक गौतम बुद्ध कुल चार बुद्धों के विचरण स्थलों पर भी स्तूपों के होने का उल्लेख किया है । उसने यह भी लिखा है कि श्रावस्ती में देवदत्त के अनुयायी थे जो कि पूर्ववर्ती तीन बुद्धों की तो पूजा करते थे परन्तु गौतम बुद्ध की नहीं ।

हरिस्वामिनी के ई. सन् 450-51 के सांचीप्रस्तर अभिलेख में चारबुद्धों की नियमित पूजा हेतु अक्षयनीवीं स्थापित करने का उल्लेख है । फाहियान ने श्रीलंका के एक दन्तोत्सव का वर्णन किया है जो कि उन बुद्ध के दाँतों की शोभायात्रा से सम्बन्धित था जिनका निर्वाण ई. पूर्व 1055 में हुआ था । अजन्ता (भारत) तथा यनकाङ्ग (चीन) की गुफाओं में 1600वर्ष से भी अधिक प्राचीन अनेकों बुद्धों की मूर्तियाँ तथा भित्तिचित्र आज भी वर्तमान् है । लंकावतार सूत्र में अनेकों बुद्धों का सनाम उल्लेख है । इसके अतिरिक्त तिब्बत में धर्मकीर्ति बुद्ध समेत कम से कम 33 बुद्धों की मूर्तियाँ उपलब्ध है जो सहस्त्रों वर्ष प्राचीन है । कम्बोडिया, थाईलैण्ड, मायनमार (ब्रह्मदेश अथवा वर्मा), चीन आदि देशों में भी अनेकों बुद्धों की सहस्त्रों वर्ष प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध है । ऐसी स्थिति में बहुबुद्धों की वास्तविकता को नकारने वाले महामण्डलेश्वर जी स्वयं ही पोपलीलाकार सिद्ध होते है अन्यथा उन्हें अज्ञानी ही कहा जा सकता है ।

20. हरिवंशपुराण में लिखा गया है कि सूर्यवंशी राजा हर्यस्व ने कुरुवंशी (सोमवंशी) यदु को पुत्ररूप में प्राप्त किया, यही यदु सोमवंशी राजा यदु के अवतार थे जिसके कारण हर्यस्व का सूर्यवंश सोमवंश भी कहलाने लगा । इसी यदु के वंश में श्रीकृष्ण आदि यादव हुए थे । ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेपोपाख्यान में इसप्रकार के व्यक्तियों को अपने मूलवंश तथा अङ्गीकृत वंश दोनों ही वंशों के गोत्रों, प्रवरों का धारक कहा गया है । ऐसे वंशों के लोग द्वयामूष्यायन कहलाते थे । चाहमानों के आबू शिलालेख में उन्हें सोमवंशी कहा गया है । पृथ्वीराज रासो में भी उन्हें सोमवंशी कहा गया परन्तु पृथ्वीराज विजय व सुरजन चरित आदि ग्रन्थों में चाहमानों को सूर्यवंशी कहा गया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि चाहमान

द्वयामूष्यायण यदुवंशियों की उसी शाखा के अपत्य है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण हुए थे । महाभारत युद्ध के पूर्व युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ राज्य को स्थापित किया था । कालान्तर में महाभारत विजय के पश्चात् वे कुरुवंश के परम्परागत राज्य हस्तिनापुर के स्वामी भी बन गये । यादवों के विनाशकारी युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ को स्वस्थापित अपने इन्द्रप्रस्थ राज्य का युधिष्ठिर ने उत्तराधिकारी बना दिया । कुलपरम्परागत प्राप्त हस्तिनापुर के राज्य का उत्तराधिकार उन्होंने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को सौप दिया था ऐसा महाभारत, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है । इसी समय से सोमवंशी (यदुवंशी) वज्रनाभ के वंशजों ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु अपने को सोमवंश चुडामणि युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त राज्य का स्वामी कहना आरम्भ किया क्योंकि वज्रनाभ को युधिष्ठिर से उत्तराधिकार के रूप में इन्द्रप्रस्थ राज्य प्राप्त हुआ था । ई. सन् की सातवी सदी के मध्यकाल में इसी वंश के राजा चाहमान हुए उन्होंने असुरों (असीरिया के निवासियों) को पराजित कर असुर साम्राज्य का विनाश कर दिया । असुरों के विरुद्ध संग्राम में चाहमान, प्रतिहार, परमार, चालुक्य (सोलंकी) ने अग्रिम भूमिका निभाई थी जिसके कारण ये अग्रिकुल के कहे गये अग्रिकुल का ही परोक्ष अग्निकुल है यह शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से सिद्ध होता है । इसीलिए वंशभाष्कर आदि चाहमान वंशवृत्तों में चाहमानों को अग्निकुल भी कहा गया है । चह परिकल्पने तथा मान पूजायाम् के अनुसार चाहमान शब्द का अर्थ '(विजय की) परिकल्पना साकार करने के कारण जिसका मान हुआ' सिद्ध होता है जो कि एक उत्कृष्ट अर्थ है । चह परिकल्कने के अनुसार चाहमान शब्द का अर्थ '(असुरों को) प्रताडित करने के कारण जिसका मान हुआ' सिद्ध होता है ये दोनों ही अर्थ चाहमान वंशियों की गौरवशाली परम्परा के द्योतक है इससे सिद्ध हुआ कि चाहमान वंशी सुधन्वा सोमवंश चुडामणि युधिष्ठिर की परम्परा से प्राप्त राज्य के स्वामी तथा सोमवंशी नरेश भगवान् कृष्ण के अपत्य थे ।

21. महामण्डलेश्वर जी ने आचार्य के भाष्य में स्फोटवाद सम्बन्धी पूर्वपक्ष को भर्तृहरि का माना है । परन्तु उनकी इस अज्ञानता को स्वयं भगवान् भाष्यकार ने अपने उत्तरपक्ष में स्फोटवाद से सम्बन्धित वैयाकरणों के मत के खण्डन में भगवान् उपवर्ष के मत को रख कर, प्रकट कर दिया है । यदि वह मत किसी ईसवी सन्

की सप्तम सदी के कथित भर्तृहरि का था तब उसका खण्डन महर्षि पाणिनी के गुरु वर्ष के भ्राता उपवर्ष ने कैसे किया था? मेरी पूर्व पुस्तक में सप्रमाण तीन भर्तृहरियों का उल्लेख किया गया है । इत्सिंग द्वारा उल्लिखित ई. सन् की सप्तम सदी के भर्तृहरि बौद्ध थे, दूसरे भर्तृहरि विक्रमादित्य के भाई तथा गोरखनाथ के शिष्य थे जोकि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में हुये थे ये शतकत्रय के रचयिता थे तथा तीसरे भर्तृहरि कट्टर वैदिक थे इनके गुरु का नाम वसुरात था ये ई. सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी में हुए थे वाक्यपदीय इन्हीं की रचना है । इन भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में स्वयं लिखा है कि वैयाकरणों की संक्षेप रुचि के कारण 'संग्रह' ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन बन्द हो गया तब पतञ्जलि महर्षि ने उसके न्याय बीजों को महाभाष्य में निबद्ध किया । किन्तु अल्प बुद्धि वालों को उससे कुछ निर्णय लेना मुश्किल पड़ गया तब सभी ने 'संग्रह' ग्रन्थ के न्यायबीजों को महाभाष्य से हटा दिया जिन्हें बाद में दक्षिण भारत से प्राप्त कर चन्द्राचार्य ने उनका वृक्ष के समान विस्तार किया फिर भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने उसमें स्वानुभव जोड़कर उसे भर्तृहरि को पढ़ाया अन्त में भर्तृहरि ने पुराणन्यायमीमांसादि से बहुत कुछ लेकर उसमें अपने स्वानुभव को जोड़कर वाक्यपदीय ग्रन्थ रचा । महामण्डलेश्वर जी यह नहीं समझ पाते कि संग्रह सूत्रात्मक था या श्लोकात्मक । विख्यात वैयाकरण ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी भाष्य (प्रथमावृत्ति) की भूमिका में लिखा है कि चार सूत्रों का एक श्लोक बनता है । पाणिनी के अष्टाध्यायी को ह्वेनसाङ्ग ने 32 अक्षरों वाले एक हजार श्लोकों वाला ग्रन्थ कहा है ।

इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि के वाक्यपदीय में संग्रह, महाभाष्य, चन्द्राचार्य एवं वसुरात के ग्रन्थों तथा पुराणन्यायमीमांसादि अनेक ग्रन्थों की पंक्तियाँ सन्निहित हैं। ऐसे में भर्तृहरि की स्वीकारोक्ति को न मानने वाला अपनी तुच्छ महत्वाकांक्षा की पुष्टि हेतु अनर्थकारी निष्कर्ष करने वाला मात्र वितण्डावादी ही कहा जा सकता है ।

22. धर्मकीर्ति नामक अनेक बौद्ध विद्वान् हुए है । बुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध का नाम धर्मकीर्ति था तिब्बत में इनकी अति प्राचीन मूर्तियाँ पायी जाती है तथा वहाँ पर अब भी इनकी पूजा की जाती है । अजन्ता (भारत) तथा यनकाङ्ग (चीन) की 1600 वर्ष से भी अधिक प्राचीन गुफाओं में इनकी मूर्तियाँ तथा भित्तिचित्र उपलब्ध है । एक धर्मकीर्ति ई. सन् की 11वीं सदी में हुए थे । अन्य धर्मकीर्ति नामक महान्

नैयायिकों एवं अनेक बौद्ध ग्रन्थों के तथा व्याकरण के भाष्यों पर टीका लिखने वाले व महावंश में खिलभाग को जोड़ने वाले महाप्राज्ञ ईसवी सन् की 11वीं व 12वीं संदी के सन्धिकाल में हुए थे । इनकी विद्वत्ता के कारण सिलोन (वर्तमान् काल के श्रीलंका का जाफना प्रायद्वीप) के राजा ने इन्हें अपना राजगुरु बना लिया था । इन्होंने दाथ वंश आदि अनेको मौलिक ग्रन्थों को रचा । चौथे धर्मकीर्ति हैं महामण्डलेश्वर जी के कथित धर्मकीर्ति जिनके बारे में 'संस्कृत वाङ्मय कोष' तथा 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' आदि ग्रन्थों में लिखा गया है कि कुछ दिन पूर्व (अब से लगभग 70 वर्ष पूर्व) तक ब्राह्मण नैयायिकों के ग्रन्थों में हुए नामोल्लेख के अलावा इनके बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं थी । इनके बारे में कुछ जानकारी तब हुई जब महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत से इनके तीन ग्रन्थों प्रमाणवार्त्तिक, न्यायबिन्दु तथा वादन्याय का पता लगाकर तथा उनका संस्कृत पाठ प्राप्तकर भारत में प्रसिद्ध किया । इनके अन्य कथित सभी ग्रन्थ मात्र तिब्बती में प्राप्त है।

ऐसी स्थिति में जबकि लगभग 70वर्ष पूर्व तक जिसके बारे में कुछ भी पता नहीं था तथा भारतवर्ष में जिस विद्वान् के एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे अकस्मात् तथाकथित तिब्बत देश से एक विद्वान् द्वारा प्राप्त तीन ग्रन्थों को ईसवी सन् की सातवी सदी के किसी धर्मकीर्ति का ही मान लेना जिसके बारे में कोई विवरण प्राप्त नहीं है, बड़े अचम्भे की बात है । वर्तमानकाल में हिन्दी के एक साहित्यकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'अनामदास का पोथा' नामक एक पुस्तक छपाया जिसमें पुरा काल के विवरण दिये गये उस ग्रन्थ की प्रस्तावना में डॉ. द्विवेदी ने लिखा था कि यह उन्हें किसी व्यक्ति से प्राप्त हुआ था और उसको यथावत् प्रकाशित करवा दे रहे है । कालान्तर में जब उक्त पुस्तक को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली तब द्विवेदी जी ने रहस्योद्घाटन किया कि यह उनकी अपनी ही कृति थी । क्या पता तथाकथित धर्मकीर्ति के उक्त तीन ग्रन्थ महापण्डित राहुल साकृत्यायन के 'अनामदास का पोथे' ही हों ? चीनी परम्परा में कहा गया है कि विन्ध्यवास ने वार्षगण की सांख्यकारिका (सांख्य सप्तति अथवा हिरण्य सप्तति) को पुनः एकत्र कर लिखा था । भारत में इसे ईश्वर कृष्ण द्वारा रचित कहा जाता है । इसमें 70 कारिकायें थी परन्तु इस समय 69 ही उपलब्ध हैं । गौडपाद भाष्य के आधार पर एक

कारिका स्वयं लिखकर लोकमान्य बालगंगाधर ने 70 संख्या की पूर्ति कर दिया है । इस आधार पर इस बात की पूरी की पूरी सम्भावना है कि धर्मकीर्ति बुद्ध की कृतियों का, जो कि यत्र तत्र बिखरी हुई दशा में दुष्प्राप्य हो चुकी थी का पुनः संग्रह कर और भर्तृहरि की भाँति उसमें कुछ स्वानुभव जोड़कर किसी धर्मकीर्ति नामक विद्वान ने पुनर्लेखन कर डाला हो ।

बौद्ध परम्परा में वसुबन्धु को माठर का परवर्ती माना जाता है । इन माठर ने गौडपाद के सांख्यकारिका भाष्य पर वृत्ति लिखी है जिसको 546 ई. में परमार्थ चीन ले गये थे ओर 546 ई. से 569 ई. के मध्य उन्होंने गौडपाद भाष्य तथा माठर वृत्ति का चीनी भाषा में अनुवाद किया था । वसुबन्धु का काल ई. सन् की द्वितीय से चतुर्थ सदी के मध्य माना जाता है । श्रीउदयवीर शास्त्री ने माठर का काल विक्रम सम्वत् पूर्व की प्रथम शताब्दी बताया है । डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भाष्यकार गौडपाद से वृत्तिकार माठर को परवर्ती माना है ऐसी स्थिति में गौडपाद के प्रशिष्य आचार्य शङ्कर के द्वारा ईसवी सन् की सप्तम सदी के किसी तथाकथित धर्मकीर्ति के वचनों को उद्धृत करने वाला कैसे माना जा सकता है ।

मात्र पंक्तिसाम्य के आधार पर काल निर्धारण को मैं एक अवैज्ञानिक प्रणाली मानता हूँ परन्तु उस प्रणाली की अविश्वसनीयता को प्रदर्शित करने हेतु मैं कुछ ऐसी पंक्तियों का प्रमाण दे रहा हूँ जो सुरेश्वराचार्य को कम से कम ई. सन् की 7वीं सदी का सिद्ध करती हैं । अकलङ्क ईसवी सन् की 7वीं सदी के मध्यकाल में हुये थे इनके शिष्य विद्यानन्द ने अपनी अष्टसाहस्री टीका में सुरेश्वराचार्य के वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक से - 'आत्मापि सदिदं ब्रह्म .... सद्वितीयतेक्ष्यते' (संबध वार्तिक /909) श्लोक को यथावत् उद्धृत किया है । विद्यानन्द की इस कृति का समय ई. सन् की 7वीं सदी का उत्तरार्द्ध माना जाता है ऐसी स्थिति में सुरेश्वराचार्य कम से कम ई. सन् की छठवीं-सातवीं सदी के सन्धिकाल के सिद्ध हो जाते हैं । डॉ. राधाकृष्णन ने लिखा है कि भवविवेक कृत तर्कज्वाला में गौडपाद कृत माण्डूक्यकारिका को उद्धृत किया गया है । तर्कज्वाला का तिब्बती अनुवाद ई. सन् की छठी शताब्दी में हो चुका था इस आधार पर गौडपाद कम से कम ई. सन् की पाँचवी सदी के सिद्ध होते है । ऐसी स्थिति में उनके प्रशिष्य का अष्टम नवम सदी के संधिकाल में होना क्योंकर सम्भव हो सकता है । इन्हीं

xx तथा गुप्तावतार बाबा श्री की सार्थ सौन्दर्य लहरी से ६४ कलाओं का पांचवां समूह

सब जटिलताओं के समाधान से बचने के लिए स्वनामधन्य विद्वानों ने तीन गौडपादों की सृष्टि कर डाली - सांख्यकारिका के भाष्यकार गौडपाद, माण्डूक्यकारिकाकार गौडपाद तथा आचार्य शङ्कर के दादागुरु गौडपाद । इससे सिद्ध है कि सुरेश्वराचार्य द्वारा नामित धर्मकीर्ति धर्मकीर्ति बुद्ध हैं न कि ईसवी सन् की सप्तम सदी के तथाकथित नवीनतम अन्वेषित धर्मकीर्ति।/ 'चतुषष्टिकला' के अन्तर्गत महामण्डलेश्वर जी द्वारा कथित नीवीस्रंसन गुह्यस्पर्शादि किसी प्रामाणिक धर्मशास्त्र में परिगणित नहीं है । इस पुस्तक में श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्करभाष्य से मैंने चौसठ कलाओं का एक समूह, श्रीमद्भागवतमहापुराण की श्रीधरी टीका से 64 कलाओं का दूसरा समूह, प्रपञ्चसार-शारदातिलक, प्रश्नोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् की सामग्री से चौसठ कलाओं का तीसरा समूह तथा प्रपञ्चसार, शारदातिलक व महाभारत की सामग्री से 64 कलाओं का चौथा समूह xx प्रस्तुत किया है उनमें नीवींस्रंसन गुह्यस्पर्शादि कही भी पठित नहीं है । एक विदेशी विद्वान् डॉ. अकीफ मानाफ जे. ने ब्रह्माण्ड को 64 कलाओं वाला कहा है उन्होंने यह भी कहा है कि योगी जब योग सिद्धि प्राप्त करता है तो उसे आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इनमें से प्रत्येक सिद्धि आठ-आठ अतिरिक्त कलाओं अर्थात् कुल चौसठ कलाओं तक उसकी पहुँच करवा देती हैं । ऐसे में चौसठ कलाओं के अन्दर नीवींस्रंसन और गुह्यस्पर्शादि की परिकल्पना करने वाले के लिए विज्ञजन स्वयं विशेषण चुनें ।

24. ईसवी सन् की आठवीं सदी के सान्ध्यकाल से ई.सन् की दसवीं सदी के सान्ध्यकाल तक उत्तरभारत में बौद्धमतावलम्बी पालवंशी राजागण तथा दक्षिण भारत में जैनमतावलम्बी राष्ट्रकूटवंशी राजागण राज्य कर रहे थे । अतएव आचार्य शङ्कर का काल अष्टम नवम सदी का सन्धिकाल मानने पर तो उनके अवतार का प्रयोजन ही निष्फल प्रतीत होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में यही मानना पड़ेगा कि तत्कालीन राजाओं पर वे कोई प्रभाव नहीं डाल पाये और राज्याश्रय प्राप्त जैन बौद्धमत को एक राज्याश्रय विहीन सोलह वर्ष के बालक द्वारा मात्र अगले सोलह वर्षों में उखाड़ फेकना सर्वथा अकल्पनीय और अविश्वसनीय है क्योंकि महामण्डलेश्वर जी का भी यही मानना है कि जैसा राजा वैसी प्रजा । जबकि दूसरी ओर ई. पूर्व 487 से ई. पू. 475 के बीच हम भारतवर्ष में राज्य करने वाले लगभग सभी

प्रमुख राजाओं को आचार्य शङ्कर के प्रभाव स्वरूप पुनः सनातनधर्म में परावर्तित हुआ पाते हैं ।

25. कोल्लम संवत् शङ्कराचार्य से नहीं बल्कि परशुराम से सम्बन्धित है । इसे परशुराम काल के नाम से जाना जाता है इसमें 1000-1000 वर्ष के चक्र होते थे परन्तु वर्तमानकाल में उस पद्धति का त्याग कर दिया गया है सिंहादि गणना के अनुसार 17 अगस्त 2000 ई. से कोल्लम संवत् 1176 चल रहा है । इसे कोल्लम आण्डू कहते है । मलयालम भाषा में कोल्लम का अर्थ पश्चिमी तथा आण्डू का अर्थ वर्ष होता है । कोल्लम का अर्थ 'मार डालना' कहना इस संदर्भ में मात्र भाषागत अज्ञानता का प्रतिफल ही है ।

26. शृङ्गेरीमठ के आधिकारिक ग्रन्थ गुरुवंश काव्यम् से ज्ञात होता है कि 1726-27 ई. सन् में पेशवा बाजीराव के मैसूर अभियान में उनकी सेनाओं ने श्रीरंगपट्टम पर भयानक आक्रमण किया था । इस आक्रमण में कई मठ जला डाले गये थे । मराठा इतिहासकार वासुदेवशास्त्री खरे तथा श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े द्वारा प्रकाशित प्राचीन लेख संग्रहों से ज्ञात होता है कि 1776 ई. में कोन्हरे राव पटवर्धन ने करवीर मठ को भस्म कर दिया था तथा परशुराम भाउ ने सन् 1791 ई. में टीपू पर किये गये आक्रमण काल में कूडली मठ का नाश किया एवम् उसी समय रघुनाथराव पटवर्धन ने शृङ्गेरीमठ को विध्वस्त किया । सुन्दरलाल ने लिखा है कि टीपू के विरुद्ध 12 दिसम्बर 1790 ई. को कार्नवालिस एक बड़ी सेना लेकर कलकत्ते से रवाना हुआ । उसके इस अभियान में निजाम तथा पेशवा की सेना ने साथ दिया । 1791 ई. में संयुक्त सेनाओं ने टीपू को पराजित कर श्रीरंगपट्टम पर कब्जा कर लिया । 23 फरवरी सन् 1792ई. को दोनों दलों में सन्धि हो गयी जिसके अनुसार टीपू का ठीक आधा राज्य लेकर कम्पनी, निजाम तथा पेशवा ने आपस में बराबर-बराबर बाँट लिया। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं कि पेशवा की सेनायें मैसूर में श्रीरङ्गपट्टम, शृङ्गेरी आदि स्थलों तक 1791 ई. में पहुँच कर उन क्षेत्रों को विजित किया था। इस विजय अभियान में मठ भी नष्ट किये गये थे । इस ऐतिहासिक सत्य को न स्वीकार करना किसी निहित स्वार्थवश किया जाने वाला दुराग्रह अथवा ऐतिहासिकज्ञानानभिज्ञता ही कहा जा सकता है ।

27. आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लासः में एक स्थान में आचार्य का काल सत्यार्थ प्रकाश के लेखन काल से 2200 वर्ष पूर्व बताया है जिसके आधार पर महामण्डलेश्वर जी ने शङ्कराचार्य काल 2200+125= अब से 2300 वर्ष पूर्व स्वामी जी के आधार पर प्राप्त होना लिखा है । एकादश समुल्लास में दूसरे स्थान पर महर्षि ने लिखा है शङ्कराचार्य जी के तीन सौ वर्ष पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य नामक कुछ प्रतापी राजा हुआ जिसने सब राजाओं के मध्य प्रवृत्त हुई लड़ाई को मिटाकर शान्ति स्थापित किया । इस समय विक्रम संवत् 2058 है इसमें 300वर्ष का योग करने पर आचार्य का काल आज से 2358 वर्ष पूर्व प्राप्त होता है । स्पष्ट है कि स्वामी जी का मुख्य उद्देश्य वहाँ पर शङ्कराचार्य जी का काल निर्धारण करना न था अतएव वहाँ पर उन्होंने आचार्य का लगभग काल बताया है यही माना जा सकता है क्योंकि दो स्थलों पर दो भिन्न काल बताये गये हैं । उन्होंने विक्रम से लगभग 300 वर्ष पूर्व बताया जो कि वस्तुतः विक्रम से 450 वर्ष पूर्व सिद्ध हो चुका है ।

28. एक प्राचीन श्लोक में आचार्य शङ्कर का काल गत कलि संवत् 2593 प्राप्त होता है । श्लोक है -

तिष्ये प्रयात्यनल शेवधि बाणनेत्रे, यो नन्दने दिनमणावुदगध्वभाजि ।
राधेऽदितेरुडुनि निर्गतमसालग्नेऽप्याहूतवान् शिवगुरुः स च शंकरेति ॥

यहाँ पर अनल=3, शेवधि=9, बाण=5 तथा नेत्र=2 के अनुसार 3952 संख्या प्राप्त होती है । संस्कृति की परिपाटी 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार यह गत कलि सम्वत् 2593 में परिणित हो जाती है । यहाँ पर जिस गत कलि सम्वत् का उल्लेख है उसका परिगणन युधिष्ठिर शक सम्वत् से 38 वर्ष पश्चात् ई.पू. 3100 से होता है । इसका उल्लेख विजय नगर के राजा श्रीरङ्ग के ताम्रपत्र अभिलेख में भी किया गया है । उसमें शालिवाहन शक सम्वत् 1658 के तुल्य गत कलि सम्वत् 4836 कहा गया है । शक संवत् को ई. सन् में परिवर्तित करने पर 78 वर्ष का योग करना पड़ता है इस प्रकार ई. सन् 1736 प्राप्त होता है । अब गत कलि 4836 में से ई. पू. 3100 को घटाने पर ई. सन् 1736 वर्ष प्राप्त होता है । कुछ अन्य अभिलेखों में शा. शक सम्वत् 1579 तु0 गत कलि

सम्वत् 4758, शा. शक सम्वत् 1591 तुल्य कलि सम्वत् 4769 तथा शा. शक सम्वत् 1611 तु. गत कलि सम्वत् 4789 का उल्लेख पाया जाता है जिससे ई. पूर्व 3100 से परिगणित गत कलि सम्वत् की पुष्टि होती है । इन अभिलेखों से सम्बन्धित विवरण 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कापर प्लेट इन्सक्रिप्सन्स' में पृष्ठ 187, 229 व 239 पर सम्प्राप्त हैं । इस प्रमाण से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक में ई. पूर्व 3100 से परिगणित गत कलि सम्वत् का उल्लेख है और इस आधार पर आचार्य का जन्मकाल ई. पूर्व 3100- गत कलि 2593 = ई. पूर्व 507 वर्ष ही प्राप्त होता है । यही काल 'जिनविजय' के प्रमाण से भी सिद्ध होता है । परावर्तित करने का प्रमाण उस राजा के 178 ई. के ताम्रपत्र अभिलेख, ईसवी सन् की नवम सदी के मर्कार ताम्रपत्र अभिलेखों तथा इसी काल में कोङ्गदेश के राजा द्वारा लिखित ग्रन्थ 'कोङ्गदेश का राजकाल' से भी पुष्टि होती है । नेपाल में राजा वरदेव के शासनकाल में ई. सन् 22 में भी एक परवर्ती शङ्कराचार्य के नेपाल जाने का उल्लेख मिलता है । विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में आचार्य शङ्कर के दादागुरु गौडपाद के सांख्यकारिका पर लिखे भाष्य पर माठर द्वारा वृत्ति लिखने का प्रमाण प्राप्त होता है इस भाष्य और वृत्ति को लेकर 546 ई. में बौद्ध भिक्षु परमार्थ चीन गये थे जहाँ उन्होंने 569 ई. के पूर्व इनका चीनी भाषा में अनुवाद कर दिया था । ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर का परम्परागत मान्य आविर्भावकाल युधिष्ठिर शक संवत् 2631 (तुल्य ई. सन् पूर्व 507), वैशाख शुक्ल, पञ्चमी तथा कैलाशगमन काल युधिष्ठिर शक सम्वत् 2663 (तुल्य ईसवी सन् पूर्व 475) कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा निर्विवाद रूप से प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरता है तथा महामण्डलेश्वर द्वारा पूर्व में कहा गया आचार्य का काल 788 ई. से 820 ई. तथा नवीनतम प्रस्तावित काल 795 ई. से 890 ई. पूर्णतया असत्य एवं असंगत सिद्ध होकर प्रमाणों की कसौटी पर शत प्रतिशत खण्डित हो जाता है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि आचार्य शङ्कर ई. पूर्व पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में राज्य कर रहे माहिष्मती नरेश सुधन्वा, नेपाल नरेश वृषदेववर्मा तथा कश्मीर नरेश जलौक के समकालीन थे। उनके समय में कार्षापण मुद्रा सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित सार्वजनीन मुद्रा थी। मुद्राशास्त्र तथा उत्खनन एवं ऐतिह्य प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि कार्षापण मुद्रा ई. पूर्व छठी शताब्दी से ई. पूर्व चौथी शताब्दी तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित सार्वजनीन मुद्रा थी। इस मुद्रा का प्रचलन उत्तरभारत में ई. पूर्व द्वितीय शताब्दी तथा दक्षिण भारत में ई. सन् की दूसरी शताब्दी तक बन्द हो चुका था। आचार्य के काल के समृद्ध नगर स्रुघ्न का ईसवी सन् की तीसरी सदी के अन्त तक तथा पाटलिपुत्र का ईसवी सन् की छठी सदी के अन्त तक पतन हो चुका था। 178 ई. सन् में कोङ्ग देश के राजा श्री विक्रम देव को एक परवर्ती शङ्कराचार्य द्वारा जैन मत से शैव मत में परावर्तित करने का प्रमाण उस राजा के 178 ई. के ताम्रपत्र अभिलेख ई.सन् नवम सदी के संस्कार ताम्रपत्र अभिलेखों तथा इसी काल में कोङ्ग देश के राजा द्वारा लिखित ग्रन्थ ''कोङ्ग देश का राजकाल' से भी पुष्टि होती है। नेपाल में राजा वरदेव के शासनकाल में ई. सन् 22 में भी एक परवर्ती शङ्कराचार्य के नेपाल जाने का उल्लेख मिलता है।

विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी में आचार्य शंकर के दादागुरु गौड़पाद की सांख्यकारिका पर लिखे भाष्य पर माठर द्वारा वृत्ति लिखने का प्रमाण प्राप्त होता है। इस भाष्य और वृत्ति को लेकर 546 ई. में बौद्ध भिक्षु परमार्थ चीन गए थे जहाँ उन्होंने 569 ई. के पूर्व इनका चीनी भाषा में अनुवाद कर दिया था। ऐसी स्थिति में आचार्य शङ्कर का परम्परागत मान्य आविर्भावकाल युधिष्ठिर शक सम्वत् 2631 (तुल्य ई. सन् पूर्व 507) वैशाख शुक्ल पञ्चमी तथा कैलाशगमनकाल युधिष्ठिर शक सम्वत् 2663 (तुल्य ई. सन् पूर्व 475) कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा निर्विवाद रूप से प्रमाणों की कसौटी पर खरा उतरता है तथा महामण्डलेश्वर द्वारा पूर्व में कहा गया आचार्य का काल 788 ई. से 820 ई. तथा नवीनतम प्रस्तावित काल 795 ई. से 890 ई. पूर्णतया अमान्य एवं असंगत सिद्ध होकर प्रमाणों की कसौटी पर शत प्रतिशत खण्डित हो जाता है।

स्वकथ्य

मैंने महामोह असुर रूपी महामण्डलेश्वर जी के वितण्डावाद को निदर्यतापूर्वक प्रमाणरूपी नृसिंही नखों से पूर्णतया विदीर्ण कर दिया है । महामण्डलेश्वर जी को मैं चुनौती देता हूँ कि मेरी ही भाँति मेरी सभी पंक्तियों को यथावत पूर्वपक्ष के रूप में रखकर वे सप्रमाण उद्धरणों का निश्चित स्रोत सन्दर्भ देते हुए, जैसा कि मैंने किया है स्वस्थ समीक्षा करें । उनकी इस समीक्षा की मुझे प्रतीक्षा रहेगी । उनके साथ इस खण्डन की प्रक्रिया समाप्त होने के पश्चात् ही अब मैं अपने वृहद् ग्रन्थ 'अमिटकाल रेखा (प्राचीन मत मण्डन)' को प्रकाशित करूँगा । आशा करता हूँ कि अपनी अगली पुस्तक में महामण्डलेश्वर महोदय 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' की पद्धति का परित्याग कर पुष्ट प्रमाणों सहित स्वस्थ समीक्षा करने का प्रयास करेंगे।

स्त्रोत सन्दर्भ

1 इण्डियन एण्टीक्वेरी । खण्ड 16। पृष्ठ 161
2. भारतीय संस्कृति और विश्व संपर्क । खण्ड 2 । पृष्ठ 268
3. वहीं । खण्ड 1 । पृष्ठ 133
4. अर्ली चौहान डायनेस्टीज । भूमिका । पृष्ठ 12
5. भारत का गजेटियर । खण्ड 1 । पुष्ठ 551
6. वीर विनोद । प्रथम भाग । पृष्ठ 63
7. अर्ली चौहान डायनेस्टीज । पृष्ठ 16
8. वहीं । पृष्ठ 19-20
9. भारत का आर्थिक इतिहास । भाग - 1। पृष्ठ 155 लेखक-रोमेश दत्त
10. वहीं
11. भारत का गजेटियर । खण्ड 1 । पृष्ठ 575
12. ईशावास्योपनिषद (शाङ्कर भाष्य) ।2
13. ईशावास्योपनिषद (शाङ्कर भाष्य) ।11
14. ईशावास्योपनिषद (शाङ्कर भाष्य) ।18
15. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य) ।8।23
16. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य) ।8।24
17. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य) ।8।25
18. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य) ।8।26
19. वृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्कर भाष्य) ।1।5।16
20. छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्कर भाष्य) ।4।15।5
21. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्कर भाष्य) ।8।24
22. ब्रह्म सूत्र (शाङ्कर भाष्य) ।4।1।15; वेदान्त दर्शन - डॉ. पाल डायसन। पृ. 393
23. ब्रह्म सूत्र (शाङ्कर भाष्य) ।4।1।19; वेदान्त दर्शन - डॉ. पाल डायसन। पृ. 394
24. ब्रह्म सूत्र (शाङ्कर भाष्य) ।4।2।20

25. ब्रह्म सूत्र (शाङ्कर भाष्य) ।4।3।7
26. श्री शंकर दिग्विजय - माधवाचार्य विरचित ।7।51
27. श्री शंकर दिग्विजय - माधवाचार्य विरचित ।7।55
28. श्री शंकर दिग्विजय - माधवाचार्य विरचित ।16।105 से 106 तक
29. श्री शंकराचार्य चरित्रम । पृष्ठ 11
30. वहीं । । पृष्ठ 26
31. संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे । पृ. 1101
32. महाभारत । आदि पर्व । 74।129 - प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर
33. महाभारत । आदि पर्व । 3। 114 - प्रकाशक गोविन्द राम हासानन्द
34. संस्कृत - इंग्लिश डिक्शेनरी - मोनियर विलियम्स । पृ. 1210
35. उत्तर राम चरितम् 6।23
36. मुद्रा राक्षसम् ।3।23 (टिप्पणी 6)
37. वृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्कर भाष्य 4।1।1
38. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य 1।3।33
39. शतपथ ब्राह्मण 5।1।1।13
40. शतपथ ब्राह्मण 5।1।1।12
41. शतपथ ब्राह्मण 5।1।1।2
42. ~~[illegible]~~य महानुशासनम् /7
43. शतपथ ब्राह्मण 2।5।4।9
44. राजवाड़े लेख संग्रह । पृ. 128
45. वीर विनोद; मेवाड़ का इतिहास । प्रथम भाग । पृ. 409 व 10
46. वीर विनोद; मेवाड़ का इतिहास। द्वितीय भाग। खण्ड1 । पृ.101व102
47. श्री शङ्कर दिग्विजय ।1।62
48. श्री शङ्कर दिग्विजय ।15।1
49. श्री शङ्कर दिग्विजय ।15।10
50. श्री शङ्कर दिग्विजय ।15।15
51. श्री शङ्कर दिग्विजय ।15।18
52. गुरुवंश काव्यम् - काशी लक्ष्मण शास्त्री 3।58

53. श्री रामचरित मानस । लंका काण्ड। 57।1
54. भारतीय दर्शन। खण्ड 2। पृ. 100
55. श्रीरामचरित मानस । अरण्यकाण्ड । 28/4
56. श्रीमद्भागवतमहापुराण । स्कन्ध 10/45/36 (श्रीधरी टीका)
57. शब्दार्थ चिन्तामणि । खण्ड 1। पृष्ठ 523-24
58. हिन्दू धर्म कोष । पृष्ठ 165-166
59. श्रीमद्भागवतमहापुराण । 10/45/36 पाद टिप्पणी (गीताप्रेस प्रकाशन)
60. श्रीशङ्कर दिग्विजय - अनुवादक,आचार्य बलदेव उपाध्याय परिशिष्ट (ख) पृष्ठ- 594-95
61. प्रश्नोपनिषद् । 6/4 पर शाङ्करभाष्य
62. वृहदारण्यक उपनिषद् । 3/9/4 पर शाङ्करभाष्य
63. महाभारत । शान्तिपर्व । 320/97-116
64. हिन्दूधर्मकोष - डॉ. राजबली पाण्डेय । पृष्ठ 165
65क. निरुक्त । 11/12
65ख. शतपथ ब्राह्मण । 12/8/3/13
65ग. श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्कर भाष्यार्थ - पृ. 95 पाद टिप्पणी (श्वे. उ.।1।4पर)
66. श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्कर भाष्यार्थ 1।4 पृ. 102
67. श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्कर भाष्यार्थ 1।4 पृ. 95
68. वैदिक कास्मोलाजी - वाल्यूम - 3 ऐरावत दास । पृ. 27
69. श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्कर भाष्यार्थ - 1।4 पृ. 102 व 103
70. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 7।47
71. गुरुवंश काव्यम् 3।27।,28 व 29
72क. आलोच्य पुस्तक । पृष्ठ 46
72ख. आलोच्य पुस्तक । पृष्ठ 39
73. आलोच्य पुस्तक । पृष्ठ 39
74. आलोच्य पुस्तक । पृष्ठ 51
75. श्री विष्णु सहस्त्रनाम - शाङ्कर भाष्य - गीता प्रेस गोरखपुर । श्लोक 90
76. महाभारत । शान्तिपर्व । अध्याय 305। श्लोक 14 व 17

77. कम्परेटिव कास्मोलॉजी - अकीफ मानफ जे., पी.एच.डी. । पृष्ठ 102
78. श्रीरामचरित मानस । अरण्य काण्ड । 9
79. श्रीरामचरित मानस । किष्किन्धा काण्ड ।1।1
80. श्रीरामचरित मानस । अयोध्या काण्ड । 27।2
81. गुरुवंश काव्यम् - काशी लक्ष्मण शास्त्री 4।14
82. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 15।168
83. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 15।166
84. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 15।167
85. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 16।88
86. माण्डूक्योपनिषद् । गौडपादीयकारिका । अलातशान्ति प्रकरण । 42 ।9
87. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 9।59,61
88. तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी) -प्रथम परिच्छेद । 1,2, व 4
89. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 10।119
90. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 15।170
91. श्रीमद्भगवद्गीता । 10/12
92. महानुशासनम् ।22 (श्री शंकर दिग्विजय-माधवाचार्य के अन्त में परिशिष्ट 'घ' पृ. 615)
93. मीमांसा दर्शन । 1/2/16
94. आदि शंङ्कराचार्य - जीवन और संदेश : डॉ. दशरथ शर्मा। पृ. 1 व 2
95. अर्थशास्त्रम् - कौटिल्य । प्रकरण 1 । अध्याय 1।1 व 6 (डॉ. वाचस्पति गैरोला का संस्करण)
96. अर्थशास्त्रम् - कौटिल्य । प्रकरण 2 । अध्याय 4
97. मनुस्मृति 7।43
98. याज्ञवल्क्य स्मृति 1।311
99. शुक्रनीति 1।152;153
100. महाभारत । शान्ति पर्व । अध्याय 59 । श्लोक 33
101. श्रीमद्भागवद् महापुराण । 10/45/34
102. एकादशोपनिषद् भाष्य - ईशावास्योपनिषद् ।6

103. पुराण परिशीलन - महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी । पृ. 362
104. श्री विष्णु पुराण 4।21।1-8
105. श्री विष्णु पुराण 4।21।17,18
106. हरिवंश पुराण । भविष्य पर्व । 1/3-16
107. हरिवंश पुराण । भविष्य पर्व । 1/8
108. महाभारत । महाप्रस्थानिक पर्व । अ. 1।7-9
109. श्रीमद्भागवत् महापुराण । 11।31।25,26
110. श्री गर्ग संहिता । 62।36,37 (गीताप्रेस गोरखपुर प्रकाशन पृ.547)
111. शतपथ ब्राह्मण 13।5।4।3
112. शतपथ ब्राह्मण 1।8
113. श्रीमद्भागवत् महापुराण 9।15,16
114. ऐतरेय ब्राह्मण 33।6
115. श्रीमद्भागवत् महापुराण 9।17
116. श्रीमद्भागवत् महापुराण 12।1
117. श्री विष्णु पुराण 4।4।104 से 112
118. श्री विष्णु पुराण 4।22। 1 से 13
119. श्रीमद्भागवत् महापुराण 9।6।4,5
120. श्रीमद्भागवत् महापुराण 9।1।11,12
121. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण । उत्तरकाण्ड । 101।8-11
122. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण । उत्तरकाण्ड ।102।7 से10
123. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण । उत्तरकाण्ड ।107।17 व 108।3,4
124. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण । उत्तरकाण्ड ।108।9,10
125. क्षत्रिय वंशावली - ठाकुर उदय नारायण सिंह
126. पृथ्वीराज रासो (समय 1) आदि पर्व । छन्द 569,570 । रूपक 302 व 303
127. राजस्थान का इतिहास - कर्नल टाड । पृ. 12
128. वीर विनोद-मेवाड़ का इतिहास। द्वितीय भाग। खण्ड 1 । पृ. 151-52
129. पुराण परिशीलन - म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी । पृ. 257

130. वीर विनोद - मेवाड़ का इतिहास । प्रथम भाग । पृ. 232
131. श्री दशम ग्रन्थ (रत्नावली) । बचित्र नाटक । अ. 2 से 5 पृ.167 से 183 साहित्य अकादमी प्रकाशन
132. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब खण्ड 1 । भूमिका में वर्णित दस गुरुओं की वंशावली । पृ. 45 से 51 - प्रकाशक दादा चेलाराम पब्लिकेशन्स
133. द गुरु ग्रन्थ साहिब इट्स फिजिक्स एण्ड मेटा फिजिक्स - गुनिन्दर कौर। पृ. 20,21
134. ब्रह्मसूत्र - शाङ्कर भाष्य 1।3।33
135. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 7।11
136. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 16।105
137. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 7।60
138. गुरुवंश काव्यम् - काशी लक्ष्मण शास्त्री 3।37
139. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य (अनुवादक-आचार्य बलदेव उपाध्याय के द्वारा प्रस्तुत परिशिष्ट 'घ' । महानुशासनम्। श्लोक 26 पृ. 616)
140. सत्यार्थ प्रकाश - स्वामी दयानन्द सरस्वती । द्वादश समुल्लास
141. बिम्बिसार और उसकी कूटनीति - डॉ. अर्पिता सिन्हा; राजतरङ्गिणी- कल्हण प्रथम तरङ्ग ।99-102
142. महावंश - भूमिका पृ. 28
143. मृच्छकटिकम् - महाकवि शूद्रक । अङ्क 10
144. श्री शंकर दिग्विजय - माधवाचार्य । सर्ग 15
145. सत्यार्थ प्रकाश - स्वामी दयानन्द सरस्वती । एकादश समुल्लासः
146. श्री शङ्कर दिग्विजय -माधवाचार्य 1।92,93
147. राज तरङ्गिणी - कल्हण । 1।108-124
148. महावंश 5।34
149. महावंश 5।73-80
150. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 275-301
151. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 373
152. गुप्त साम्राज्य - डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त । पृ. 360

153. गुप्त साम्राज्य - डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त । पृ. 471-72
154. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 445
155. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 440-447
156. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 465
157. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 469
158. प्राचीन भारत का इतिहास - प्रो. श्रीनेत्र पाण्डेय । पृ. 393। खण्ड 2
159. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 486
159क. प्राचीन भारत का इतिहास-प्रो. श्रीनेत्र पाण्डेय । पृ. 599-601 व 618 खण्ड २
159ख. प्राचीन भारत का इतिहास - प्रो. श्रीनेत्र पाण्डेय । पृ. ~~526-532~~ 434 खण्ड २
159ग. राजतरङ्गिणी - कल्हण । चतुर्थ तरङ्ग
159घ. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । 526-532
159ङ. दक्षिण भारत - डॉ. बलराम श्रीवास्तव । पृ. 329-36 व 342
159च. प्राचीन भारत का इतिहास - पो. श्रीनेत्र पाण्डेय । पृ. 581 खण्ड-२
159छ. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 546
159ज. भारतीय इतिहास एक दृष्टि - डॉ. ज्योति प्रसाद जैन । पृ. 219-231
159झ. भारत के प्राचीन नगरों का पतन - डॉ. रामशरण शर्मा । पृ. 53 द्रष्टव्य
160. श्रीगर्ग संहिता । अ. 6 । श्लोक 26 से 33
161. जैमिनीयाश्वमेध पर्व । अध्याय 15
162. श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/10
163. वहीं 1/3
164. वृहदारण्यक उपनिषद् 3/9
165. रामचरित मानस । लंकाकाण्ड । 16 ख
166. राजतरङ्गिणी । प्रथम तरंग । 99-135
167. माधवाचार्य कृत शङ्कर दिग्विजय का आङ्लभाषान्तर । इन्ट्रोडक्शन पृष्ठ 21- स्वामी तपस्यानन्द । (अंशतः) तथा हिन्दू धर्मकोश - डॉ. राजबली पाण्डेय । पृष्ठ 615
168. अवधूतोपनिषद् । 1-3
169. शारदामठाम्नाय । 4

170. महानुशासनम् । 26
171. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य । 7/38
172. श्वेताश्वतरोपनिषद् । 6/21 शाङ्करभाष्य
173. द्वारका सर्व संग्रह । पृष्ठ 16-18 (गुजराती संस्करण)
174. आप्टे का संस्कृत हिन्दी कोश- पृष्ठ 1010 (पुनर्मुद्रित संस्करण1993)
175. सत्यार्थ प्रकाश । एकादस समुल्लासः
176. हिस्ट्री ऑफ नेपाल - सम्पादक डेनियल राइट पृ0 80 (प्रथम संस्करण 1877 ई0 का 1995 ई0 में पुनर्मुद्रण)
177. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य 2/3/7/10
178. महानुशासनम् /7
179. वहीं /19
180. वहीं / 8
181. वहीं /12
182. आप्टे : संस्कृत हिन्दीकोश/ पृ. 296
183. महानुशासनम् / 9
184. सत्यार्थ प्रकाश / एकादश समुल्लासः
185. पाणिनीयो धातुपाठः । चुरादिः । 1626 व 1843 (मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायी सूत्रपाठ : 1)
186. अर्ली चौहान डायनेस्ट्रिज - डॉ. दशरथ शर्मा पृ0 5
187. वहीं / पृ0 3,4
188. हरिवंश पुराण / विष्णुपर्व/ अ. 37 व 38
189. ऐतरेय ब्राह्मण / अ0 35/ ख. 5 व 6
190. गोत्र प्रवर भाष्कर - भट्टोजि दीक्षित / पृ0 10
191. शतपथ ब्राह्मण/6/1/1/11
192. महाभारत/महाप्रस्थानिक पर्व/अ.1/श्लोक 7-9
193. श्रीमद् भागवत महापुराण/स्कन्ध 11/अ.31/25,26
     वहीं /भागवत महात्म्य /1/3
194. श्रीगर्ग संहिता/अ.62/श्लोक 36,37 गीता प्रेस प्रकाशन-पृ.547

195. वहीं/अ.6/द्वारका खण्ड/23,33 वहीं पृ.277
196. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्तकोष - डॉ. सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव । पृ.649
197. पतंजलि कालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री पृ. 85
198. राजस्थान का इतिहास - कर्नल टाड । पृ. 644, 666 ।
199. डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ मार्डर्न इण्डिया - एच. सी. राय । खण्ड -2। पृ. 1052 ।
200. श्रेण्य युग - डॉ. रमेश चन्द्र मजुमदार । पृ. 185 ।
201. प्राचीन भारत का इतिहास - डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय । खण्ड 2 । पृ. 503।
202. राजस्थान का इतिहास - कर्नल टाड । पृ. 364, 666 ।
203. वहीं । पृ. 671 ।
204. अर्ली चौहान डायनेस्टीज - डॉ. दशरथ शर्मा । पृ. 6, 7 व 10 ।
गोत्र प्रवर भास्कर - भट्टोजी दीक्षित । पृ. 10 ।
क्षत्रिय वंशावली - ठाकुर उदय नारायण सिंह । पृ. 39 ।
205. विमर्शः पृ. 26 ।
206. श्री शङ्कराचार्य चरित्रम् । पृ. 11 ।
207. आदि शङ्कर द सेवियर ऑफ मैनकाइण्ड - प्रधान संपादक श्री एम. डी. कुलकर्णी । पृ. 283 (श्री भ. वे. इ. सं. मन्दिर, वी. 7-8, श्रीपाल अपार्टमेण्ट्स, आराधना टाकीज के पास, पंच पाखण्डी, थाणे 400602 द्वारा प्रकाशित) ।
208. श्री गुरुवंश पुराण (द्वितीय खण्ड) - श्रीमत् दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम। पृ. 304 ।
209. विमर्शः - श्रीमद् राजराजेश्वर शङ्कराश्रम । पृ. 25,26 ।
210. श्री शङ्कराचार्य चरित्रम । पृ. 10,11 ।
211. कलकत्ता से प्रकाशित हिन्दी दैनिक समाचार पत्र 'सन्मार्ग' के 31 मार्च 2000 संस्करण में प्रकाशित समाचार।
212. भारत एवं लन्दन से प्रकाशित 'एशियन एज' आङ्ल दैनिक समाचार पत्र के 31 मार्च 2000 कलकत्ता संस्करण में प्रकाशित समाचार ।
213. श्री गुरुवंश पुराण-स्वामी शिवबोधाश्रम । खण्ड 2। पृ. 628 व 914-20।

214. उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठ - हिम्मतलाल उमियाशंकर दवे । पृ. 29,37 । (विरुदावली को छोड़कर प्रथम संस्करण 14.9.1988ई0) गुजराती में
215. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य । भूमिका । पृष्ठ 44
216. गुरुवंश पुराण - स्वामी शिवबोधाश्रम । खण्ड 2 । पृ. 525, 26 ।
217. वहीं । पृ. 513 ।
218क. उत्तराम्नाय ज्योतिष्पीठ - हिम्मतलाल उमियाशंकर दवे । पृ. 36, 37 ।
218ख. श्रीमद्भगवद्गीता । 18/78
219. श्री गुरुवंश पुराण । द्वितीय खण्ड । श्री दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम । पृ. 254, 55 ।
220. भारतीय धर्मशास्त्रों में संन्यास आश्रम । पृ. 240-42 ।
221. शुक्रनीतिः । 1/183-187 ।
222. गुरुवंश पुराण - स्वामी श्री शिवबोधाश्रम - खण्ड 2, 3 व 4 ।
223. श्रीरामचरितमानस । उत्तरकाण्ड । 105 ख / 1
224. गुरुवंश पुराण । खण्ड 2 । पृ0 519 व 523 ।
225. (क) द्वितीय अपर सिविल न्यायधीश (अवर खण्ड) इलाहाबाद द्वारा 1989 ई. के वाद संख्या 513 में पारित न्याय निर्णय व आदेश दिनांकित 22 फरवरी 1999 ई. ।

   (ख) प्रकीर्ण सप्तम अपर जनपद न्यायाधीश, इलाहाबाद द्वारा 1999 ई. की प्रकीर्ण सप्तम अपील संख्या 41 में पारित न्याय निर्णय व आदेश दिनांकित 27 अप्रैल 2000 ई. ।

   (ग) सत्यानुसंधान - ज्योतिर्मठ द्वारा 1976 ई. में प्रकाशित । भूमिका । पृ. 9-15

   (घ) गुरुवंश पुराण - श्रीदण्डीस्वामीशिवबोधाश्रम खण्ड 2 । पृ. 511-577
226. माननीय उड़ीसा उच्चन्यायालय द्वारा स्वामी अधोक्षजानन्द तीर्थ जी - प्रति - उड़ीसा राज्य और अन्य, ओ. जे. सी. सं. 6833 वर्ष 2000 में पारित निर्णय एवं आदेश दिनांकित 4.9.2000 एवं समादेश याचिका तथा उड़ीसा राज्य की ओर से प्रस्तुत किया गया विरोध शपथ पत्र ।

227. महाभारत । उद्योग पर्व । अ. 35/5/38
228. महाभारत । शान्ति पर्व । अ.23/18-36
229. महाभारत । अनुशासन पर्व अ.137।19
230. मनुस्मृति । अध्याय 8।1-12
231. श्रीमद्भागवत महापुराण । दशम स्कंध । अ.66।1-29
232. श्री विष्णु पुराण । चतुर्थ अंश । अ.24/37-प्रकाशक गीता प्रेस गोरखपुर
233. पुराण विमर्श - आचार्य बलदेव उपाध्याय । पृष्ठ 393 पाद टिप्पणी -3
234. श्री विष्णु पुराण। चतुर्थ अंश । अ.24/42
235. पुराण विमर्श - आचार्य बलदेव उपाध्याय । पृ. 394 पर उद्धृत
236. महावंश । द्वितीय परिच्छेद । 32
237. प्राचीन भारत का इतिहास । भाग 1 । पृ. 694 -डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय
238. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यम् । 2/24/28
239. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्यम् । 2/2/6/33
240. श्रीमद्भगवद्गीता । 13/4
241. ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य । 1/2/1/6
242. श्री विष्णु पुराण । तृतीय अंश । अ. 17 व 18
243. छान्दोग्य उपनिषद 6/2/1 व उस पर शाङ्कर भाष्य
244. श्री गुरुवंश पुराण । प्रथम खण्ड । पृ. 134-35 श्रीमद्दण्डी स्वामी बोधाश्रम
245. बुद्धचर्या । पृ.1 से 3 राहुल सांकृत्यायन
246. बुद्ध चरितम् । 1/19 अश्वघोष
247. बुद्ध चरितम् । 1/34
248. श्रीमद्भागवत् महापुराण । 6/8/19
249. श्रीमद्भागवत् महापुराण । 10/40/22
250. श्री शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य ।12/18
251. ब्रह्मसूत्र शङ्कर भाष्य । 2/1/1/1
252. अग्नि पुराण 16/2
253. बुद्ध चरितम् - अश्वघोष । 24/43/44
254. बुद्ध चरितम् - अश्वघोष । 16/5

255. बुद्ध चरितम् - अश्वघोष । 16/7

256. बुद्धचर्या में पृ. 1 पर राहुल सांकृत्यायन द्वारा उद्धृत तथा संस्कृत वाङ्मय कोश - डॉ. श्रीधर वर्णेकर । पृ. 315

257. महावंश । 1/5-10

258. बुद्ध चरितम् - अश्वघोष । 25/37

259. माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादीय कारिका । अलात शान्ति प्रकरण । 42 व इस पर शाङ्कर भाष्य

260. माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादीय कारिका । अलात शान्ति प्रकरण । 42 व इस पर शाङ्कर भाष्य । 19

261. माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादीय कारिका । अलात शान्ति प्रकरण । 42 व इस पर शाङ्कर भाष्य । 80

262. माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादीय कारिका । अलात शान्ति प्रकरर्ण । 42 व इस पर शाङ्कर भाष्य । 100

263. माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपादीय कारिका । अलात शान्ति प्रकरण । 42 व इस पर शाङ्कर भाष्य । 99

264. शतपथ ब्राह्मण । 5/3/5/1

265. संस्कृत वाङ्मय कोष । प्रथम खण्ड । पृष्ठ 343

266. संस्कृत साहित्य का इतिहास । पृष्ठ 380

267. भारतीय दर्शन । खण्ड 2 । पृष्ठ 220-21, पाद टिप्पणी 2,3,10

268. संस्कृत साहित्य का इतिहास । डॉ. वाचस्पति गैरोला । पृष्ठ 403 पर उद्धृत

269. भारतीय संस्कृत और विश्व सम्पर्क । खण्ड 2 । पृष्ठ 50

270. संस्कृत वाङ्मय कोष । प्रथम खण्ड । पृष्ठ 343

271. क्रोनिकल ऑफ सिलोन । पृष्ठ 22-23

272. संस्कृत वाङ्मय कोष । प्रथम खण्ड । पृष्ठ 343

273. श्रीमद्भागवतमहापुराण । 10/33-34

274. माण्डूक्योपनिषद् शाङ्कर भाष्य 12 गीताप्रेस प्रकाशन पृ. 26-27

275. भारतीय इतिहास के स्रोत सिक्के - रैप्सन (हिन्दी अनुवाद) पृ. 6-7

276. पाणिनि कालीन भारत वर्ष पृ. 260

277. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - प्रोफेसर डॉ. वासुदेव उपाध्याय पृ. 18-19
चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल - राधाकुमुद मुखर्जी पृ. 256
278. पाणिनि कालीन भारतवर्ष । पृ. 258
279. भारतीय पुरालिपि, मुद्रा एवं अभिलेखिकी- डॉ. एस. के. पाठक पृ. 49-52
280. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ प्रो. डॉ. वासुदेव उपाध्याय । पृ. 37
281. वहीं । पृ. 37-38
भारतीय पुरालिपि, मुद्रा एवं अभिलेखिकी-डॉ. एस.के.पाठक। पृ. 49-52
282. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी 5/1/29
283. वहीं 5/1/34
284. वहीं 5/1/27
285. महावंश-परिच्छेद 21/26
286. पतञ्जलिकृत महाभाष्य 1/2/64
पतंजलिकालीन भारत । पृ. 355
287. महाभाष्य 2/2/45
पतञ्जलिकालीन भारत । पृ. 356
288. महाभाष्य. 8/1/12
पतञ्जलिकालीन भारत-डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री । पृ. 356
289. महाभाष्य 1/3/72
पतञ्जलिकालीन भारत । पृ. 356
290. महाबग्ग 8/1/1/3, विनय टेक्सट्स सेक्रेड बुक्स फ्राम ईस्ट पृ. 171-72 से बिम्बिसार और उसकी कूटनीति में डॉ. अर्पिता सिन्हा द्वारा पृ. 83 पर उद्धृत ।
291. वात्स्यायन कृत कामसूत्र 1/2/30
पाणिनि कालीन भारतवर्ष । पृ. 379
292. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख-सम्पादक डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त खण्ड 1 पृ. 165-66
293. अंध्र शातवाहन राजवंश - एक अध्ययन
294क. प्रा.भा. के प्र. अभिलेख । खण्ड 1। पृ. 193/196

294ख. वहीं । पृ.158-159
295. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - डॉ.वासुदेव उपाध्याय । पृ. 118
296. वहीं । पृ. 118-119
297. प्राचीन भारत के प्रमुख् अभिलेख - सं. परमेश्वरी लाल गुप्त खण्ड 1 । पृ. 27
(क) किंग फिशर प्रकाशित विश्व इतिहास दिग्दर्शिका पृ. 97
298. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख- सं. डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त खण्ड 1 । पृ. 158-62
(क) वहीं खण्ड 1 । पृ. 143 व खण्ड 2 । पृ. 73
299. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख -सं. डॉ. परमेश्वरी लाल गुप्त खण्ड 2 । पृ. 2,3 व 6
300. वहीं । पृ. 26-27
301. वहीं । पृ. 41-43
302. वहीं । पृ. 84
303. वहीं । पृ. 86-88
304. वहीं । पृ. 91-92
305. वहीं । पृ. 116-19
306. वहीं । पृ. 120-21
307. वहीं । पृ. 122-24
308. वहीं । पृ. 124-27
309. वहीं । पृ. 132-38
310. वहीं । पृ. 153-55
(क) श्रेण्ययुग । पृ. 27,31 व 794
311. प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख - सं. डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त ख.2 पृ. 167
(क) तथा श्रेण्य युग पृष्ठ 794 से प्राप्त निष्कर्ष
312. वहीं । पृ. 173-76
313. वहीं । पृ. 179-80
314. वहीं । पृ. 190-92
315. वहीं । पृ. 211-214

316. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - प्रो0 डॉ0 वासुदेव उपाध्याय । पृ. 43
317. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - डॉ0 परमेश्वरीलाल गुप्त । पृ. 14
318. भारत के प्राचीन नगरों का पतन - डॉ0 रामशरण शर्मा । पृ. 153
319. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - डॉ0 वासुदेव उपाध्याय । पृ. 159
320. कौटिल्य का अर्थशास्त्र - अनुवादक वाचस्पति गैरोला अधिकरण 21 अध्याय 12/23-24 । क्र0 3 व 4 । पृ. 140
321. याज्ञवल्क्य स्मृति । 2/240
322. मृच्छकटिकम् । 1/23
323. संस्कृत-हिन्दी कोष । पृष्ठ 517
224. मनुस्मृति 8/136-137
325. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ । पृष्ठ 183
326. ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य 1/1/18
327. वहीं 4/2/5
328. दीपवंश 5/5, 6/19, 11/29
329. महावंश 15/21, 5/39
330. श्रेण्य युग । पृ. 93
331. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - प्रो0 डॉ0 वासुदेव उपाध्याय । पृ. 51-52
332. भारत के प्राचीन नगरों का पतन । पृ. 69
333. इण्डियन ऐंटिक्वेरी । खण्ड 9 । पृ. 178-180
वीर विनोद । द्वितीय भाग। खण्ड 3 । पृ. 1885-1887
334. हिस्ट्री ऑफ नेपाल - (पर्वतीय से आङ्ल अनुवाद) पृ. 75-76
सम कन्सिडरेशन ऑन द हिस्ट्री ऑफ नेपाल - डॉ. भगवानलाल इन्द्रजी व डॉ. वुह्लर (इण्डियन ऐंटिक्वेरी । खण्ड 9। पृ. 411-428 में प्रकाशित)
श्रेण्ययुग । पृष्ठ 92-93
335. कथा सरित्सागर । 1/3/1-79
336. काव्य मीमांशा । 10
337. बुद्धचर्या । पृ. 490-493
338. पतञ्जलिकालीन भारत । पृ. 125

339. चीनी यात्री फाहियान का यात्रा विवरण । पृ. 79-81
340. वहीं । पृ. 79 व 91
341. भारत के प्राचीन नगरों का पतन । पृ. 69
342. वहीं
343. वहीं । पृ. 68
344. वहीं । पृ. 70 पर महावीरघाट की उत्तराभिमुख काट
345. भारत । पृ. 92
346. भारत के प्राचीन नगरों का पतन । पृ. 228
347. पतञ्जलिकालीन भारत । पृ. 118-119
348. वहीं । पृ. 119
349. भारत के प्राचीन नगरों का पतन । पृ. 155
350. वहीं । पृ. 33
351. प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - प्रो. वासुदेव उपाध्याय । पृ. 176-77
प्राचीन भारतीय मुद्राएँ - डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त । पृ. 81
352. भारत के प्राचीन नगरों का पतन । पृ. 33
353. संस्कृत वाङ्मय कोष । द्वितीय खण्ड । पृष्ठ 398
354. प्राचीन चरित्र कोष । पृष्ठ 915-16
355. आदि पुराण- जिनसेन कृत : अनुवादक डॉ. पन्नालाल जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना । पृ. 37-38
356. वहीं । पृ. 33 व 47
357. भारतीय दर्शन । खण्ड 2 । पृष्ठ 389
358. संस्कृत साहित्य का इतिहास । डॉ. वाचस्पति गैरोला । पृष्ठ 393 पर उद्धृत
359. वहीं । पृष्ठ 403 पर उद्धृत
360. वहीं । पृ. 45 व 47
361. पद्मपुराण - आचार्य रविसेन कृत की प्रस्तावना में डॉ. पन्नालाल जैन । पृष्ठ 15 पर
362. आदिपुराण की प्रस्तावना में डॉ. पन्नालाल जैन । पृ. 47 पर
363. श्रीमज्जगद्गुरु शाङ्करमठ विमर्श - राजगोपाल शर्मा । पृ. 24

शङ्कर दिग्विजय के आङ्ल अनुवाद की भूमिका में श्री रामकृष्ण के स्वामी तपस्यानन्द । पृ. 23 पर

364. श्रीमद्भागवत महापुराण । 5/5/28; 5/6/9-11, 11/2/20-21
365. प्राचीन भारत - डॉ. विद्याधर महाजन । पृ. 127
366. एज ऑफ शङ्कर । टी. एस. नारायण शास्त्री । पृष्ठ 139-
367. ब्रह्मसूत्र । शाङ्करभाष्य । 1/3/8/28
368. श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्करभाष्य । 5/2
369. श्रीगुरुवंशपुराण । द्वितीय भाग । पृ. 397 - श्रीमद्दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम।
370. वहीं
371. श्री शङ्कराचार्य चरित्रम् । पृ. 55
372. समान्तर कोश । संदर्भ खण्ड । 396, 3-7 पृ. 222 प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया ।
373. श्रीमद्जगद्गुरुशाङ्करमठ विमर्श । पृष्ठ 23
374. प्राचीन भारत का इतिहास । पृष्ठ 602-3
375. रायल सक्सेशन इन इनसिएण्ट कम्बोडिया । पृष्ठ 36-61
376. श्रीमद्ज्जगद्गुरुशाङ्करमठ विमर्श । पृष्ठ 153
377. संस्कृत वाङ्मय कोष । प्रथम खण्ड । पृष्ठ 278
378. स्केच ऑफ द डायनेस्टिज ऑफ साउदर्न इण्डिया । पृष्ठ 204-9
379. शङ्कर विजय - चित्सुखाचार्य 32/12-16
380. श्रीशङ्कराचार्य चरित्रम् - वेंकटाचल शर्मा । पृ. 56
381. शङ्कर दिग्विजय - माधवाचार्य 2/54 पर आचार्य बलदेव उपाध्याय की टिप्पणी ।
382. श्रीशङ्कराचार्य चरित्रम् - वेङ्कटाचल शर्मा । पृ. 57
383. वहीं । पृ. 54
384. श्रीमज्जगद्गुरुशाङ्करमठविमर्श - सं. राजगोपाल शर्मा । पृ. 21
385. इण्डियन एण्टीक्वेरी । खण्ड 7 । पृ. 282
386. श्रीशङ्कराचार्य चरित्रम - वेङ्कटाचल शर्मा । पृ. 54
387. वहीं । पृ. 50-51

388. भारतीय ज्योतिष - पृ. 495-96 (हिन्दी अनुवाद उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित)
389. स्केच ऑफ डायनेस्टीज ऑफ साउदर्न इण्डिया । पृष्ठ 196
390. गुरुवंश काव्यम् - काशी लक्ष्मण शास्त्री । 17/38,39
391. श्रीगुरुवंश पुराण- श्रीमद्‌दण्डी स्वामी शिवबोधाश्रम । खण्ड 2। पृ. 158-59
392. राजवाड़े लेख संग्रह - पृ. 212 (प्रकाशक साहित्य अकादमी)
393. मराठा शक्ति का उदय - महादेव गोविन्द राना दे । पृ. 113-114
394. भारत में अंग्रेजी राज - सुन्दरलाल । प्रथम खण्ड। पृ. 283
395. वहीं । पृष्ठ 293-96
396. वहीं । पृष्ठ 340-41
397. श्रीगुरुवंश पुराण । खण्ड 2। पृ. 257-58
398. संस्कृत साहित्य का इतिहास । पृष्ठ 704
399. संस्कृत वाङ्‌मय कोष । द्वितीय खण्ड । पृष्ठ 462
400. विजय नगर - सं. वसुन्धरा फिलियोजट । पृष्ठ 20
401. श्रीमज्जगद्‌गुरुशाङ्करमठ विमर्श । पृ. 356
402. श्रीगुरुवंश पुराण । खण्ड 2। पृ. 422-23
403. श्रीशङ्करदिग्विजय - माधवाचार्य । 7/42
404. महानुशासनम् । 13
405. श्रेण्य युग । पृष्ठ 92
406. माण्डूक्य उपनिषद् गौडपादीय कारिका । शाङ्करभाष्य की भूमिका में पृष्ठ 4। गीताप्रेस गोरखपुर में प्रकाशन
407. श्वेताश्वतरोपनिषद् । 6/23
408. महानुशासनम् । 24
409. वहीं । 22
410. वहीं । 25
411. शङ्कराचार्य चरित्रम् । पृष्ठ 54
412. स्केच ऑफ द डायनेस्टीज ऑफ साउदर्न इण्डिया । पृष्ठ 189-90
413. वहीं । पृष्ठ 4 व 208

414. श्रीमद्जगद्गुरुशाङ्करमठ विमर्श । पृष्ठ 453-54

415. वहीं । पृष्ठ 446

416. वहीं । पृष्ठ 454-55

417. वहीं । पृष्ठ 637

418. (1980) 2 एस. सी. आर. । पृष्ठ 660-696 सुसंगत उद्धरण पृष्ठ 683 पर प्रकाशित है ।

419. श्रीशङ्करदिग्विजय (गुजराती संस्करण) - मुखपत्रम्

420. विमर्शः । पृष्ठ 89

421. दशम ग्रन्थ (रत्नावली) । वचित्र नाटक । 4-10। पृ. 179-81 । प्रकाशक साहित्य अकादमी ।

422. महानुशासनम् । 15

423. श्रीगुरुवंश पुराण । प्रथम खण्ड । पृ. 202- श्रीमद्दण्डीस्वामी शिवबोधाश्रम

424. संस्कृत वाङ्मय कोश । प्रथम खण्ड । पृ. 343

425. महाभारत । अनुशासन पर्व । 14/111-13, 166-75

426. संक्षिप्त शिवपुराण । शतरुद्रसंहिता । 32 । पृ. 314-15 । गीताप्रेस,गोरखपुर

427. गुरुवंश पुराण । खण्ड 2 । पृ. 425-26

428. महानुशासनम् । 16

429. विजय नगर पेण्टिंग्स - सी. शिवराम मूर्ति । पृष्ठ 29,65 प्रकाशक - भारत सरकार : प्रथम संस्करण जुलाई 1985 ई.

430. विजय नगर - संपादक वसुन्धरा फिसेजट । पृष्ठ 21 लियो

431. वहीं । पृष्ठ 52-53

432. सूर : आले इमरान । आयत 173

433. सूर : निसा । आयत 81, 109, 132 व 171

434. सूर : युसूफ । आयत 66

435. सूर : बनी इसराईल । आयत 2, 54, 65, 68 व 86

436. सूर : फुर्कान । आयत 43

437. सूर : कसस । आयत 28

438. सूर : मुज्जमिल । आयत 9

439. कुरआन मजीद - प्रकाशक एम. शफीक एण्ड संस
440. कुरआन मजीद - प्रकाशक मर्क़जी मक्तबा इस्लामी
441. कुर्आन मजीद - प्रकाशक नज़ाकत दावत-व-तब्लीग
442. जमीला बाई अब्दुल कादर प्रति शंकरलाल गुलाबचन्द व अन्य (1975) सप्लीमेण्ट एस.सी.आर. में पृ. 337-353 पर प्रकाशित ।
443. श्रीकृष्ण सिंह प्रति मथुरा अहीर । (1980) 2 एस. सी. आर. में । पृ. 660-696 पर प्रकाशित ।

परिशिष्ट १(क)

श्रीमान् परमेश्वरनाथ मिश्र,

हरि स्मरण

हमारे यहाँ के एक सज्जन ने आपकी लिखी हुई "अमिटकालरेखा" नामक पुस्तक हमें दी और बताया कि इस में तुम्हारे गुरुजी का खण्डन किया है । (आदिशङ्कराचार्य के काल विषयक लेख का) प्रथम हमने सोचा कि आप कोई बहुत बड़े भारी विद्वान् होगे, शास्त्रों एवं इतिहास के महान वेत्ता होगें । हमें प्रस्तुत पुस्तक से कुछ विशिष्ट तथ्य प्राप्त होगा । परन्तु पुस्तक खोलते ही भारी निराशा हुई कि आप के प्रकाशकीय में जो अशिष्ट एवं अभद्र भाषा प्रयोग देखा कि हमारे प.पू. गुरुजी तो क्या सामान्य व्यक्ति के लिए भी नाम के आगे "श्री" शब्द का प्रयोग सामान्य शिष्टाचारानुसार किया जाता है वह भी कही देखने नहीं मिला । बाद में किसी किसी को "अनन्तश्री" "परमपूज्य" आदि विभूषणों से विभूषित किया । इससे स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक तथ्य को सामने लाना आप का मुख्य लक्ष्य नहीं है किन्तु किसी को नीचा दिखाना आप का मुख्य ध्येय है । अन्यथा आप इस तुच्छ आशय से ऊपर उठकर "आविर्भाव समय" ग्रन्थ के मुख्य मुद्दों पर विचार करतें। ऐसा न करते हुए आपने अपना वकीलपना ही प्रकट किया है । झूठ को सच सिद्ध करना और सच को झूठ सिद्ध करना यह वकीलों के बाँये हाथ का खेल है । इसी का प्रदर्शन आपके ग्रन्थ में है ।

इस प्रकार भारतवर्ष की महत्ता को विश्व के सन्मुख रखने का प्रयास उसकी महत्ता को नष्ट करना है । बीच-बीच में आपने हमारे प.पू. गुरुजी के लिए "श्रीमद् भागवत नहीं पढ़ा, विष्णुपुराण नहीं पढ़ा, कोई भी मूल ग्रन्थ नहीं पढ़ा, वह नहीं पढ़ा, यह नहीं पढ़ा" -इत्यादि लिखा है । ऐसा कोई सामान्य से सामान्य मनुष्य भी प.पू. गुरुजी के लिए नहीं लिखेगा । श्रीमद्भागवत की मूल मन्त्रों एवं श्लोकों सहित आदि से अन्त तक व्याख्या करने वाले प.पू. गुरुजी पूरे भारतवर्ष के समस्त दशनामी संन्यासी समाज में श्रीमद् भागवत के अद्वितीय प्रवक्ता माने जाते है । अतः मूल ग्रन्थ श्रीमद्भागवत को प.पू. गुरुजी ने पढ़ा है या नहीं- वाली यह बात आपश्री स्वयं ही उन की भागवत कथा के श्रोताओं से पूछना यह आप के लिए अधिक उपयुक्त होगा ।

दक्षिण के माध्व सम्प्रदायवाले अद्वैतवादियों पर अनेक अपशब्दों से आक्षेप करते रहे और यहाँ तक उन लोगों ने यह कह डाला "असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम्" इत्यादि

गीतावचनानुसार यह अद्वैतवाद असुरों की विद्या है । अतएव वे जितने भी अद्वैतवादी है वे सब के सब असुर है । उन लोगों ने अद्वैतवाद को झूठा बताते हुए शास्त्रार्थ के लिए आवाहन किया । उस समय आप के ये "अनन्तश्री" एवं "परमपूज्य" लोगों के कपड़े खराब हो गये थे । और तो बाकी कड़वा घूट पीते रह गये थे । पूरे दक्षिण भारत के अखबारों में बार-बार इस विषय पर चर्चा चलने लगी थी । क्रमशः जिसका प्रचार उन लोगों ने काशी, हरद्वार, ऋषिकेश आदि स्थान तक कर डाला था । तत्कालीन शृङ्गेरीपीठाधिपति श्रीअभिनवविद्यातीर्थ स्वामी ने द्वादश शताब्दी समारोह के समय शृङ्गेरी पहुँचने पर परमपूज्य गुरुजी के समक्ष इन लोगों को उत्तर देने का प्रस्ताव रखा था । आश्चर्य है उस समय आप के ये "अनन्तश्री" एवं "परमपूज्यों" में से कोई भी आगे बढ़ने को तैयार नहीं हो रहा था । अन्ततः हमारे परमपूज्य गुरुजी शास्त्रार्थ हेतु बंगलूर गये । जहाँ ये द्वैतवादी एकत्रित थे । तीन दिन तक वहाँ शास्त्रार्थ चला । जिसमें द्वैतवादी परास्त हुए। यद्यपि उस समय द्वैतवादी अपना पराजय अन्दर से जानते हुए भी स्वीकार नहीं कर रहे थे । अतएव पूर्व सम्पन्न शास्त्रार्थ का विषय संक्षिप्तरूप से छपवाकर वितरित किया । लिखित रूप से भी शास्त्रार्थ बाद में चला । और जब दूसरी बार पुनः द्वैतवादियों के गढ़ बंगलूर जाकर हमारे परमपूज्य गुरुजी ने आवाहन किया । अन्ततः वहाँ के सुप्रसिद्ध अद्वैतसिद्धान्तानुयायी "श्री तिरुच्ची स्वामी" (श्रीकैलाश मठ- बंगलूर) के पास जाकर द्वैतवादियों ने माफी माँगी और यह स्वीकार किया कि आगे हम ऐसा कुप्रचार नहीं करेंगे ।

हम यह कोई कहानी नहीं लिख रहे हैं । माध्व सम्प्रदाय वालों से किये गये शास्त्रार्थ विषय का मुद्रण प्रकाशन "अद्वैत विजय वैजयन्ती" नाम से हिन्दी अनुवाद के साथ हो गया है । आपके "अमिट काल रेखा" को पढ़ने से हमको इतना तो मालूम पड़ा कि आप जैसा व्यक्ति उस सानुवाद ग्रन्थ को भी तीन जन्म में भी यथावत् रूप से नहीं समझ पायेंगे ऐसी विद्वत्ता आपके इस पुस्तक में प्रकट हुई है । आज से 40-50 वर्ष पूर्व काशी में रामानुज सम्प्रदायवालों ने अपने "शतदूषणी" (अद्वैत वेदान्त पर सौ दूषण) नामक वेंकटनाथ कृत ग्रन्थ को लेकर बोला करते थे कि माध्व सम्प्रदाय व्यासतीर्थ का खण्डन श्रीमधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' नामक ग्रन्थ से किया किन्तु हमारी "शतदूषणी" का उद्धार वे भी नहीं कर सके । प.पू. गुरुजी ने उस का भी निराकरणात्मक "अद्वैतपरिशुद्धि" नामक ग्रन्थ लिखा । यद्यपि उसी दौरान पं. श्री अनन्त कृष्णशास्त्रीजी ने "शतभूषणी" लिखी थी । आज भी काशी के विद्वान् "अद्वैतपरिशुद्धि" को अपनी शैली का अद्वितीय ग्रन्थ मानते हैं क्योंकि यह श्लोकबद्ध एवं सव्याख्या है । हमारे प.पू. गुरुजी के लिखे यह एक-दो ग्रन्थ ही नहीं अपितु सिद्धान्त प्रतिपादक, दार्शनिक, साहित्यिक चालीस ग्रन्थ और भी मुद्रित हुए है । उन सबको

देखे पढ़े बिना ही आपने लिखा है कि - "श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराणादि को हमारे प.पू. गुरुजी पढ़ा ही नहीं है। यह कहना लज्जा को भी लज्जित करने की बात है ।

"आविर्भाव समय" ग्रन्थ में दिये हुए तथ्यों को उलट पुलट करके अनैतिहासिक व्यक्तियों को आगे कर के खण्डनाभास करने का आपने व्यर्थ प्रयास मात्र किया है । आप की यह विशेषता "अमिटकालरेखा" के पन्ने पलटने मात्र से ही ज्ञात हो जाती है। काल निर्णयार्थ जैन ग्रन्थों का जो उद्धरण दिया है उस का स्पर्श मात्र भी आपने अपने ग्रन्थ में नहीं किया और एक मात्र "चोरी" शब्द को लेकर पन्ने के पन्ने काले कर दिये हैं । और तो और आपश्री यहाँ के कालनिर्णयार्थ न्यूयार्क तक की यात्रा भी करके आये । जबकि स्वयं आचार्य द्वारा रचित मूलग्रन्थों को देखने का प्रयास भी आप से नहीं हो पाया है । इतना ही नहीं हमें आश्चर्य इस बात का है "आविर्भाव समय" -- यह छोटा सा मात्र 34 पृष्ठों का ग्रन्थ भी आप आदि से अंत पर्यन्त द्वेष की ज्वाला से भुन जाने के कारण आप न्यायविद् होने के उपरान्त भी नहीं पढ़ सके हैं । उस के अंत में यह साफ लिखा है कि संन्यास परम्परा अनादि काल से चली आ रही है । उसमें 2500 वर्ष पूर्व कोई शङ्कर नाम के विद्वान् हुए हों, वे आचार्य भी हुए हों, तो उसमें कोई विवाद नहीं है हम केवल भाष्यकार आचार्य शङ्करभगवत्पाद के आविर्भाव समय के सम्बन्ध में ही विचार कर रहे हैं । अन्य का नहीं । उसके लिए प्रमाण मुख्य रूप से भाष्यग्रंथ एवं उन से सम्बन्धित वार्तिकादि ग्रन्थ ही होगें । दुनिया भर के अनावश्यक तथ्यों को जोड़कर वाचकों को भ्रमित करने की वकीलता आपने अपने इस पुस्तक में की है ।

मैंने प.पू. गुरुजी को यह ग्रन्थ दिखाया है उन्होंने आपाततः पढ़ भी लिया है और उन का कहना है कि आप इस ग्रंथ में जो भी सुधार करना चाहे तो अभी पन्द्रह दिन का समय है उसे सुधार लीजिए । तत्पश्चात् आपने जो भी लिखा है उसी को आप लोगों के द्वारा स्वीकृत प्रमाण मानकर प.पू. गुरुजी द्वारा उस का यथावसर निराकरण करते समय जो भी आक्षेप-प्रत्याक्षेप होगा उसके लिए आप लोग ही जिम्मेदार होगें ।

मुम्बई विश्वविद्यालयीय कालेज की पूर्व प्राध्यापिका
सुश्री चारुलता
बी. 101 ज्योति प्लाझा
एस.बी. रोड़ कांदिवली (प.) मुम्बई - 400067

परिशिष्ठ १ (ख)

<u>पञ्जीकृत डाक से प्राप्ति स्वीकृति प्रपत्र सहित</u>

दिनाङ्क 1-10-2000

सुश्री चारुलता,
बी. 101, ज्योति प्लाजा
एस0 बी0 रोड, कांदिवली (प0)
मुम्बई - 400067

सन्दर्भ : आपका पत्र दिनाङ्कित 31-7-2000
विषय : 'अमिट काल रेखा-अर्वाचीन मतखण्डन' पुस्तक

महोदया,

आपके उपर्युक्त पत्र के सम्बन्ध में एतस्मिन् पश्चात् अभिकथन अभिप्रेत हैं -

1. लेखक महोदय की विद्वत्ता तथा पुस्तक की उपादेयता से सम्बन्धित आपकी असंगत टिप्पणियाँ अंध-गुरुभक्ति, संकीर्ण साम्प्रदायिक मानसिकता से प्रादुर्भूत पूर्वाग्रहावृत्त मति का प्रतिफल प्रतीत होती हैं क्योंकि वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण रखने वाले ऐसे अनेक दिग्गज एवं मूर्धन्य विद्वानों ने जिनसे लेखक का अब तक साक्षात्कार भी नहीं हुआ है, लेखक महाभाग की विद्वत्ता एवं पुस्तक की उपादेयता को मुक्त कण्ठ से स्वीकारते हुए विशेषरूप से लेखक की विद्वत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है यथा -

(I) **डॉ. जयमन्त मिश्र**, पूर्व कुलपति मिथिला विश्वविद्यालय, बिहार।

(II) **डॉ. एस. जी. काँटावाला**, पूर्व प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष : संस्कृत, पालि एवम् प्राकृत विभाग।
पूर्व संकाय प्रमुख : कला संकाय ।
पूर्व निदेशक : पौर्वात्य संस्थान, महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात ।

(III) **डॉ. सी. वी. रावल**, पूर्व प्राध्यापक : दर्शनशास्त्र विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, अहमदाबाद, गुजरात।

(IV) **डॉ. गौतम वाडीलाल पटेल**, विभागाध्यक्ष : संस्कृत विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, नवरंगपुरा, अहमदाबाद, गुजरात ।

(V) **डॉ. गोपाल कृष्ण**, प्राध्यापक : इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

(VI) **श्री जानकीनाथ शर्मा**, सम्पादन विभाग : कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश ।

(VII) **आचार्य झम्मन मिश्र** 'व्याख्यान दिवाकर',रायपुर,मध्य प्रदेश।

(VIII) **डॉ. कमलेश कुमार सी. चोकशी**, रीडर : संस्कृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, गुजरात ।

(IX) **डॉ. नितिन एस. व्यास**, विभागाध्यक्ष : दर्शन शास्त्र विभाग, महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात।

(X) **डॉ. रमेश चन्द्र मुरारी**, व्याख्याता : संस्कृत अकादमी, द्वारका, गुजरात ।

एवं अनेकानेक विद्वान् उपर्युक्त विद्वानों में से क्रमांक 2,3 व 4 पर उल्लिखित विद्वानों के लेख गुजरात सरकार द्वारा द्वादश सदी स्मारक ग्रन्थ में भी प्रकाशित हुए थे । क्रमांक 4 पर उल्लिखित विद्वान् तो उक्त ग्रन्थ के सम्पादक भी थे ।

2. 'स्वामी जी' अन्त्याश्रमी होने के कारण द्वितीयाश्रमी लेखक के लिये सर्वदा प्रणम्य एवं परमादरणीय हैं । विषयगत मतभेद तो महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास और उनके शिष्य ऋषि जैमिनी के ग्रन्थों में भी परिलक्षित होता है तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि गुरु-शिष्य ने एक दूसरे को नीचा दिखाने के उद्देश्य से ही अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया था? यह कहना कि पुस्तक में 'स्वामीजी' के लिए कहीं भी 'श्री' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है मात्र सत्य तथ्य की ओर से दृष्टि विचलन ही माना जा सकता है । पुस्तक में 'विषय प्रवेश' के द्वितीय पृष्ठ की 22वीं पंक्ति में 'महामण्डलेश्वर श्री काशिकानन्द जी' तथा 7 वीं पंक्ति में 'काशिकानन्द गिरि महोदय' के रूप में 'स्वामीजी' का उल्लेख शिष्टाचारानुसार ही किया गया है जबकि वास्तविकता तो यह है कि 'स्वामीजी' के जिस 14 पृष्ठीय लेख का लेखक महोदय ने खण्डन किया है उसमें भी लेखक के रूप में स्वामी जी का

उल्लेख 'श्री' विहीन 'महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्द गिरि' किया गया है परन्तु अपनी पुस्तक में 'श्री, महोदय, जी' आदि पदों का प्रयोग कर लेखक महोदय ने स्वामी जी के प्रति व्यक्तिगत रूप से अपनी श्रद्धा का ही प्रदर्शन किया है ।

3. 'प्रकाशकीय' में भी प्रथम पृष्ठ की प्रथम पंक्ति में 'महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्द गिरि जी' 5वीं पंक्ति में 'स्वामी काशिकानन्द जी' 6वीं पंक्ति में 'महात्मा काशिकानन्द जी' तथा 7वीं व 22वीं पंक्तियों में 'महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्द जी' के रूप में 'स्वामीजी' का उल्लेख कर सर्वतोभावेन शिष्टाचार का सम्यक् अनुपालन किया गया हैं । प्रकाशकीय में 'स्वामीजी' की व्यक्तिगत आलोचना न कर उन आधुनिक अन्वेषकों की आलोचना की गई है जिनका अन्वेषण 'स्वामीजी' के लेख का आधार बना । वस्तुतः 'स्वामीजी' ने भी अपने सम्बन्धित लेख में एक तत्कालीन पीठस्थ शङ्कराचार्य व अन्य विद्वानों का नामोल्लेख रहित तथा उदयवीर शास्त्री का नामोल्लेख सहित उत्कट प्रत्याख्यान किया है तो क्या ऐसा करके उन्होने 'अशिष्टता' की है ? पुस्तक में सामान्यतया चार पीठों के सम्प्रति पीठस्थ शङ्कराचार्यों के लिए 'अनन्तश्री' एवं 'परमपूज्य' पदों का प्रयोग किया गया है जैसा कि शिष्टाचार के अनुक्रम में उन महात्माओं के लिए बहुधा किया जाता है । पता नहीं इस पर आपको क्यों आपत्ति है ? आपने अपने पत्र में लिखा है कि जब लेखक के 'अनन्तश्री' एवं 'परमपूज्य' लोगों अर्थात् शङ्कराचार्यों के कपड़े द्वैतवादियों के भय से खराब हो गये तब 'स्वामीजी' ने उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त कर प्रकारान्तर से शङ्कराचार्यों के वस्त्रों का परिमार्जन किया । आपके उक्त उल्लेख से प्रकट होता है कि शङ्कराचार्यों के प्रति राग-द्वेषजनित द्वन्द्वभाव से आपकी विवेक बुद्धि परिवृत्त हो गई है जो कि अनपेक्षित ही नहीं अपितु आपके शङ्कर मतावलम्बी होने पर भी प्रश्नचिह्न है । मठाम्नाय-महानुशासनम् अपरोल्लेख महासेतु में, जो कि आचार्य शङ्कर कृत शाङ्करमतावलम्बी दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों के लिये परमादणीय ग्रन्थ है आचार्य शङ्कर का स्पष्ट व्यादेश है कि उनके पीठ पर विधिवत् आरूढ़ आचार्य को 'स्वयं उन्हें ही' अर्थात् 'आचार्य शङ्कर ही' मानना होगा । अपने उक्त व्यादेश की प्रामाणिकता हेतु आचार्य शङ्कर ने श्वेताश्वतरोपनिषद् का एक वचन उद्धृत किया है यथा - 'जिसकी परमेश्वर में उत्कृष्ट यानी अकृत्रिम भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही

ब्रह्मविद्योपदेष्टा गुरु में भी है उस उत्तम महात्मा को ही कहे गये इन तत्वों का तात्पर्य बोध होता है ।' वृहदारण्यक भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है - ' ईश्वरत्व जातिगत भी होता है यथा एक राजकुमार का अपने से अधिक सामर्थ्यवान् मन्त्री और सेनापति पर ईश्वरत्व' - आचार्य के उक्त अभिकथन से स्वयं सिद्ध है कि कोई भी शाङ्कर परम्परा का परिव्राजक चाहे जितना बड़ा विद्वान् क्यों न हो उस पर आचार्य द्वारा स्थापित चार पीठों : शारदामठ-द्वारका, गोवर्धनमठ-पुरी, ज्योतिर्मठ-बदरिकाश्रम व शृङ्गेरी मठ पर विधिवत पदारूढ़ शङ्कराचार्यों का आचार्य परम्परा से ईश्वरत्व है । अतएव शङ्कर मतावलम्बी होने के कारण आपको यह मानना ही होगा कि 'स्वामीजी' पर भी सम्प्रति पीठस्थ शङ्कराचार्यों का ईश्वरत्व हैं । यह तो सर्वविदित तथ्य है कि एक अधीनस्थ का यह परम कर्तव्य होता है कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर अपने अधिपति की मर्यादा की रक्षा करें । अतएव 'स्वामीजी' ने द्वैतवादियों को पराजित कर शाङ्कर परम्परा की मर्यादा वृद्धि करते हुए स्वकर्तव्य का अनुपालन किया है जिसके लिए परिषद् और लेखक 'स्वामीजी' के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं ।

4. आपके पत्र में गुम्फित गुरुप्रशस्तिवाचनावलोकन से प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है कि 'स्वामीजी' अद्वैत वेदान्त के अद्वितीय विद्वान् हैं और 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की उक्ति उनके लिए सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि उन्होंने चालीस ग्रन्थों का प्रणयन कर विशेष कर 'अद्वैत परिशुद्धि' नामक ग्रन्थ द्वारा वह कर दिखाया है जो सम्भवतः वाचस्पति मिश्र, विद्यारण्य मुनि, आनन्दगिरि, मधुसूदन सरस्वती, भारती कृष्ण तीर्थ, हरिहरानन्द 'करपात्री', प्रभृति मनीषीगण भी न कर सके ? लेखक महाभाग का अभिमत है कि वेदान्त और ब्रह्मविद्या में संन्यासियों का विशेषाधिकार हैं अतएव तत्सम्बन्धित 'स्वामीजी' के ग्रन्थों पर तथा उनकी विद्वत्ता पर मन्तव्य देना अथवा टिप्पणी करना सामान्यतया विद्वान परिव्राजकों के अधिकार क्षेत्र में पड़ता है जिसके कारण इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त कर लेखक महोदय महान् परिव्राजकों के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण नहीं करना चाहते । जहाँ तक 'स्वामीजी' के उस आलोच्य लेख का प्रश्न है जिसके द्वारा उन्होंने आचार्य शङ्कर का काल '788 ई0 से 820 ई0' सिद्ध करने का प्रयास किया है, उस पर लेखक का सुचिन्त्य मत यह है कि 'स्वामीजी' ने लौकिक विद्या के विद्वानों के अधिकार क्षेत्र में एक 'इतिहास विद्' के रूप में अतिक्रमण कर एक विभ्रमकारी

तिथि को मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया जिसके कारण लेखक महोदय के समक्ष पुष्ट मान्य ऐतिह्य मानदण्डों के प्रामाणावलोक में 'स्वामीजी' के 'कृत्रिम मत' को खण्डित करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष न था । 'स्वामीजी' ने आदि शङ्कराचार्य के उस शिष्टाचरण का पालन नहीं किया जिसकी स्थापना उन्होंने संसारी मनुष्यों से सम्बन्धित उभयभारती द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर न देकर, लौकिक विद्वानों के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण न करके किया था। सर्वज्ञ होते हुए भी गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित प्रश्नों का स्वयं उत्तर न देकर परकाया प्रवेश का आश्रय लेकर राजा अमरुक के माध्यम से आचार्य शङ्कर ने उभय भारती के प्रश्नों का समाधान करना श्रेयस्कर समझा । इतिहास विद्या कर्मठ विद्वानों के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है निवृत्तिमार्ग के संन्यासी के अधिकार क्षेत्र में तो वेदान्त व ब्रह्मविद्या ही आते हैं । 'स्वामीजी' का यह अतिक्रमण लेखक को स्वीकार्य नहीं है अन्यथा तो चतुर्थाश्रमी स्वामी जी लेखक के लिए सर्वदा पूजनीय हैं और रहेंगे ।

5. स्वामी जी ने श्रीमद्भागवतादि पुराणों अथवा अन्य सम्बन्धित पुस्तकों को पढ़ा है या नहीं इसका प्रत्यक्ष ज्ञान लेखक को नहीं है । परन्तु उनके सम्बन्धित लेख के उस अंश को जो कि अमिट कालरेखा में बिन्दु 21 के पूर्वपक्ष में अन्तर्विष्ट है पढ़ने के बाद एक सामान्य प्रज्ञा वाले व्यक्ति के द्वारा भी जिस निष्कर्ष पर सहज में पहुँचा जा सकता है वही निष्कर्ष लेखक द्वारा निकाला गया है । 'स्वामीजी' के लेख में जो तथ्यगत भूलें संप्राप्त हैं तथा जिनका पुस्तक में बिन्दु 21 के उत्तर पक्ष में स्पष्टतः उल्लेख किया गया है उन विसंगतियों का उत्तर न देकर व्यक्तिगत आक्षेप तथा महिमा गायन के माध्यम से आपने लेखक को प्रभावित करने का प्रयास किया है जो कि आपकी मानसिक दुर्बलता का द्योतक माना जा सकता है । यदि यह मान लिया जाय कि 'स्वामीजी' ने उक्त ग्रन्थों को पढ़कर आलोच्य लेख लिखा था तब तो बाध्य होकर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि 'स्वामीजी' में मेधा (ग्रन्थ व ग्रन्थार्थ धारण क्षमता) का अभाव है । यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो मेधावी नहीं है वह विद्वान् नहीं हो सकता । इस अप्रिय निष्कर्ष से बचने तथा 'स्वामीजी' की महत्ता को बनाये रखने के उद्देश्य से 'स्वामीजी' के स्रोतों का उल्लेख करते हुए लेखक महाशय को यह लिखना पड़ा कि 'स्वामीजी' का सम्बन्धित लेख दूसरों के उद्धरणों पर आधारित है क्योंकि दूसरों के दोषपूर्ण उद्धरणों को उद्धृत करने से मूल स्रोत की सदोषता

द्योतित होती है उद्धरणकर्ता की नहीं, साथ ही उनके मेधावी होने पर भी प्रश्न चिह्न नहीं लगता । यही कारण है कि सामान्यतया उपजीव्य ग्रन्थों में स्रोतों का उल्लेख कर दिया जाता है ।

5. 'अमिट कालरेखा' में आचार्य शङ्कर के भाष्य ग्रन्थों में उल्लिखित उन ऐतिहासिक पुरूषों, स्थानों, मुद्राओं को आधार बनाया गया है जिनकी ऐतिहासिकता का प्रमाण 1000 वर्ष से भी पूर्व के ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है । आपने अपने पत्र में सप्रमाण एक भी ऐसे अनैतिहासिक व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया है जिसको आगे कर लेखक ने तथ्यों को उलट-पलट करने का प्रयास किया है प्रमाणों के अभाव में मात्र यही कहा जा सकता है कि उक्त उद्गार आपकी हताशा और कुण्ठा का परिणाम है । आपका यह कहना कि '34 पृष्ठों' के स्वामीजी के ग्रन्थ को द्वेष की ज्वाला से जल भुन जाने के कारण लेखक न्यायविद् होने के उपरान्त भी नहीं पढ़ सके हैं आपके स्वयं सहिष्णु अध्यवसायी होने पर प्रश्न चिह्न है । लेखक ने विषय प्रवेश के द्वितीय पृष्ठ के द्वितीय अनुच्छेद में 'स्वामीजी' के सम्बन्धित लेख का स्रोतोल्लेख किया है आपको ज्ञात हो कि वह लेख मात्र 14 पृष्ठों का हैं 34 पृष्ठों का नहीं । सम्भवतः 'स्वामीजी' के मत का खण्डन हुआ किसी से सुनकर आप अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठीं और इतनी भी सहिष्णु न रह सकी कि पूरी पुस्तक पढ़ कर तथ्यों के आधार पर उसकी स्वस्थ समीक्षा कर सकती । जहाँ तक जैन ग्रन्थों का प्रश्न है उसे लेखक महोदय ने आचार्य के कालनिर्धारण में स्वतः प्रमाण न मानकर उसकी उपेक्षा कर दी है परन्तु आपके सूचनार्थ यह स्पष्ट किया जा रहा है कि जैन ग्रन्थों के आधार पर भी आदिशङ्कराचार्य का वही काल सिद्ध होता है जो लेखक को अभीष्ट हैं । आप जैन ग्रन्थों के प्रमाणों को देकर काल निर्धारित करें जैन ग्रन्थों के ही प्रमाणों के आधार पर उसका सम्यक् खण्डन कर दिया जायेगा । आपने पुस्तक की समीक्षा न कर लेखक के लिए 'झूठ को सत्य साबित करने वाला'; 'वकील' 'वकीलपना' आदि शब्दों का प्रयोग कर एक ऐसा कार्य किया है जिसकी कोई भी विद्वान् प्रशंसा नहीं कर सकता । भला लेखक का 'स्वामीजी' से क्या द्वेष हो सकता है ? लेखक क्यों उनसे जल भुन सकता है ? लेखक और उनकी अध्यक्षता में कार्यरत परिषद् का कार्य तो भगवत्पाद आचार्य शङ्कर द्वारा स्थापित परम्परा एवं संस्कृति का रक्षण करना है अतएव लेखक महोदय

के द्वारा 'स्वामीजी' को नीचा दिखाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वे भी तो उसी परम्परा के परिव्राजक हैं जिसकी रक्षा के लिये परिषद् कृत संकल्प है । आपको ज्ञात हो कि लेखक महोदय किसी भी गुरु के दीक्षित शिष्य नहीं हैं जिसके कारण उनकी निष्पक्षता और तटस्थता सन्देह से परे है जो कि आपकी नहीं हो सकती । सम्भवतः आपको 'वकील' और 'अधिवक्ता' के अर्थ के सम्बन्ध में भी विभ्रम है । एक विश्वविद्यालय की पूर्व प्राध्यापिका होने के कारण आपसे यह अपेक्षा की जाती है कि उपर्युक्त दोनों शब्दों के अर्थ और उनकी वैधानिक स्थितियों के बारे में किसी विधि विशेषज्ञ तथा कुरान-शरीफ व अरबी भाषा के विशेषज्ञ से जानने का प्रयास करें । आप्त वाक्य है - शब्दों के प्रयोग में धर्म है, अतः शब्दों का अनुचित प्रयोग कर अधर्माचरण न करें ।

7. आपका यह कहना कि स्वामी जी ने केवल भाष्यकार शङ्कर के काल का निर्धारण 788-820 ई0 किया है और 2500 वर्ष पूर्व यदि कोई शङ्कर नाम के विद्वान् हों तो उसमें कोई विवाद नहीं, आपके तात्पर्यबोध पर प्रश्न चिह्न लगाता है । अपने सम्बन्धित लेख में 'स्वामीजी' ने नैय्यायिक पद्धति से आचार्य शङ्कर के आविर्भाव काल को 2500 वर्ष पूर्व मानने वालों को मोहग्रस्त सिद्ध करने का प्रयास किया है अथवा जिस तरह से अबोध बालकों को झूठा आश्वासन देकर फुसलाने का प्रयास किया जाता है वह किया है क्योंकि परम्परागत मान्यता के पोषक भाष्यकार शङ्कर और 2507 वर्ष पूर्व हुए शङ्कर को अभिन्न मानते हैं । स्वामीजी की पद्धति में आपके लिये लेखक महोदय का उत्तर यह है - भाष्यकार शङ्कर तो आज से 2507 वर्ष पूर्व ही हुए थे परन्तु यदि शङ्कर नामधारी कोई अन्य विद्वान् भी 788 ई0 में हुए हों तो इसमें लेखक महोदय को कोई आपत्ति नहीं है । आपके द्वारा लेखक को सुधार हेतु दी गई 15 दिन की अवधि समाप्त हुए लगभग सार्द्धमाह व्यतीत हो चुका है परन्तु अब तक पुस्तक की वस्तुनिष्ठ समीक्षा आपकी ओर से नहीं की जा सकी है । आपको विदित हो कि द्वितीयाश्रम के ब्राह्मणवंशावतंश परिषद् के अध्यक्ष उस आप्त वाक्य के अनुयायी हैं जिसमें कहा गया है -'वह ब्राह्मण ही क्या जो वाद से डर कर पलायन कर जाय' अतएव वे अपने द्वारा निर्धारित किये आचार्य शङ्कर के काल ई0पू0 507-475 का मण्डन करने तथा अर्वाचीन कृत्रिम काल ई0 788-820 का खण्डन करने हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ हैं परन्तु व्यक्तिगत आक्षेप प्रत्याक्षेप हेतु नहीं, किन्तु एक चतुर्थाश्रमी

ही अपनी मर्यादा भङ्ग कर व्यक्तिगत आक्षेप प्रत्याक्षेप में प्रवृत्त होने का प्रयास करेंगे तब लेखक महोदय को भी यथोचित उपक्रम का आश्रय ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा जिसके लिये आप जिम्मेदार होंगी । आपके लिये विशेष सूचना यह है कि 'अमिट काल रेखा' का दूसरा भाग 'प्राचीन मत मण्डन' मुद्रणालयाधीन है जो कि सहस्रों प्रमाणों से संपृक्त एक वृहदाकार ग्रन्थ है । इसके अलावा 'मठाम्नाय-महानुशासनम्' भी लेखक की आङ्ग्ल और हिन्दी द्विभाषीय व्याख्याओं से संवलित शीघ्र प्रकाश्य है । महानुशासनम् में आये उन शब्दों का जिनका आज तक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् भी असंगत अर्थ करते आये हैं लेखक महाभाग द्वारा सत्यार्थ प्रकाश किया गया है, तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि उक्त विद्वानों को नीचा दिखाने के लिये ही लेखक ने ऐसा किया है?

पत्र का आकार कुछ विस्तृत हो गया है अतः 'स्वामीजी' के चरणों में लेखक का साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम निवेदित करते हुए इस प्रार्थना के साथ पत्र का समापन किया जा रहा है कि परमात्मा आपको ऐसी सद्बुद्धि दें जिसकी अपेक्षा एक विश्वविद्यालय की विदुषी प्राध्यापिका से की जा सकती है । कृपया ध्यान रखें भविष्य में पुस्तक की स्वस्थ समीक्षा से सम्बन्धित वाद-विवाद ही स्वीकार्य होगा व्यक्तिगत आक्षेप-प्रत्याक्षेप के पत्रों की उपेक्षा कर दी जायेगी ।

कृते

सचिव,

शङ्कराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद

वृन्दावन काम्पलेक्स, अरुणा एपार्टमेण्ट

4, स्टेशन रोड लिलुआ, हावड़ा-711204

परिशिष्ट- २

कोंग देश के राजाओं की सूची
(कोंग अथवा (पश्चिमी) गंग राजवंश)

1. **वीर राय चक्रवर्ती**

   इस राजा का जन्म स्कंदपुर में हुआ था

2. **गोविन्द राय** (प्रथम)
3. **कृष्ण राय**
4. **काल वल्लभ राय**
5. **गोविन्द राय**

   यह दिग्विजयी था

6. **चतुर्भुज कनरदेव चक्रवर्ती**

   विल्सन इस राजा का नाम 'कुमार' भी बताते हैं ।

7. तिरु विक्रमदेव

इनका राज्याभिषेक स्कन्दपुर में हुआ था । शालिवाहन शक संवत् 100 तुल्य ईसवीं सन् 178 के अभिलेख में इन्हें "चोल, पाण्ड्य, केरल तथा मलयालम" का विजेता और कर्णाटक देश एवं कोंग देश पर राज्य करने वाला कहा गया है । उसी अभिलेख में यह भी कहा गया है कि इन राजा तिरु विक्रमदेव को शङ्कराचार्य ने जैनमत से शैवमत में परावर्तित किया । चूँकि यह अभिलेख उसी राज्य क्षेत्र से प्राप्त हुआ है जिसमें शृंगेरी मठ अवस्थित है इससे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि कर्णाटक देश के इस राजा का परावर्तन तत्कालीन शृंगेरी मठ के जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने किया था । इस ताम्र पत्र का उल्लेख राबर्ट सेवेल्ल ने 'आर्कियो लाजिकल सर्वे ऑफ साउदर्न इण्डिया' के 1884 ई0 के संस्करण में पृष्ठ 189 व 190 पर किया है ।

8. अरिवर्मन

इस राजा का एक ताम्रपत्र अभिलेख शालिवाहन शक संवत् 169 प्रभव तुल्य ईसवी सन् 247 का है जो कि तञ्जावुर , तालुका व जनपद तञ्जावुर, तमिलनाडु से प्राप्त हुआ था तथा 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम, मुम्बई' में रखा गया है । इस ताम्रपत्र को इण्डियन एण्टिक्वेरी के खण्ड 8 में पृष्ठ 212 पर प्रकाशित किया गया है । इस ताम्रपत्र

से सम्बन्धित विवरण 'एनुवल रिपोर्ट ऑफ अण्डियन एपिग्राफि' संख्या 14 वर्ष 1963 में उल्लिखित है । डायरेक्टर (एपिग्राफि) मैसूर द्वारा 1986 ई. सन् में प्रकाशित 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कॉपर प्लेट इन्सक्रिप्शन्स' में पृ. 74 पर भी इस ताम्रपत्र का विवरण सम्प्राप्त है । तिरु विक्रमदेव का ताम्रपत्र शालिवाहन शक संवत् 100 का है तथा अरिवर्मन के उत्तराधिकारी 'कोंगनी वर्मा राय' का एक ताम्रपत्र शालिवाहन शक संवत् 172 का उपलब्ध है जिससे यह ज्ञात होता है कि तिरुविक्रमदेव का शालिवाहन शक संवत् 100 का ताम्रपत्र उनके शासन के प्रारम्भिक वर्षों का तथा, अरिवर्मा का शालिवाहन शक संवत् 169 का ताम्रपत्र उनके शासन के अन्तिम वर्षों का है ।

9. कोंगनी वर्मा राय (प्रथम) अपरनाम माधव (प्रथम)

इनका राज्याभिषेक स्कन्दपुर में हुआ था । इन राजा का एक ताम्रपत्र अभिलेख शालिवाहन शक संवत् 172 सौम्य तुल्य ईसवी सन् 250 का चामलापुर, येलन्दुर तालुक, मैसूर जनपद, कर्नाटक से प्राप्त हुआ था । इस ताम्रपत्र से सम्बन्धित विवरण 'एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी संख्या 34 वर्ष 1961' में तथा 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कापर प्लेट इन्सक्रिप्सन्स' में पृष्ठ 74 पर प्रकाशित है ।

10. माधव (द्वितीय)

इन राजा के शासन के प्रथमवर्ष का एक ताम्रपत्र अनन्तपुर से प्राप्त हुआ था जिसे 'एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड 24' में पृष्ठ 234 पर प्रकाशित किया गया है । इस ताम्रपत्र का उल्लेख 'एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी संख्या 4 वर्ष 1937-38' तथा 'लिस्ट ऑफ इन्सक्रिप्सन्स कापीड वाई दी एपीग्राफी ब्रान्च' के 1939 ई. के संस्करण में पृष्ठ 123 पर भी किया गया है । हरिवर्मा और मारसिंह (प्रथम) नामक इनके दो पुत्र थे ।

11. हरिवर्मा

इनका राज्याभिषेक स्कन्दपुर में हुआ था परन्तु ये कर्नाटक देश में दलवानपुर में रहते थे । इनके भाई का नाम मारसिंह (प्रथम) था जिनका एक नाम सत्यवाक्य भी कहा जाता है ।

12. विष्णुगोप वर्मा

इनका राज्याभिषेक दलवानपुर में हुआ था । इन्होंने 'पूर्वदेश' को जीता । इन

राजा का एक ताम्रपत्र अभिलेख मैसूर, कर्नाटक में उपलब्ध है जो कि शालिवाहन शक संवत् 211 तुल्य ई. सन् 289 का है । इस ताम्रपत्र से सम्बन्धित विवरण 'एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी संख्या 10 वर्ष 1968' तथा 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कापर प्लेट इन्सक्रिप्शन्स' में पृष्ठ 75 पर उपलब्ध है । इस राजा के दो पुत्र - माधव (तृतीय) व कृष्णवर्मा तथा एक पुत्री थी । माधव (तृतीय) इस राजा का दत्तक पुत्र था ।

13. माधव (तृतीय)

इस राजा का एक ताम्रपत्र अभिलेख शालिवाहन शक संवत् 24 (?) का तालुक व जनपद त्रिचुरापल्ली, तमिलनाडु से प्राप्त हुआ था । इस ताम्रपत्र से सम्बन्धित विवरण 'एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी संख्या 1 वर्ष 1940' तथा 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कापर प्लेट इन्सक्रिप्शन्स' में पृष्ठ 75 पर सम्प्राप्त हैं । इस राजा ने इसे दत्तक लेने वाले राजा विष्णुगोप वर्मा के बाद में उत्पन्न हुए पुत्र श्रीकृष्णवर्मा के हित में राज्य त्याग कर दिया । इन्होंने 'दत्तक सूत्र वृत्ति' नामक पुस्तक लिखा था । वाङ्मयकोष द्वितीय खण्ड पृष्ठ 461 में उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल ई. सन् की चौथी सदी लिखा है जोकि इनके अभिलेख के काल से पूर्णतया मेल खाता है जो कि शक संवत् 240 से 249 के मध्य का अर्थात् ई. सन् 318 से 327 के मध्य का है ।

14. कृष्णवर्मा

इनका राज्यारोहण दलवानपुर में हुआ था ।

15. दिनदिकरराय अपरनाम हरिश्चन्द्रदेव राय

ये माधव (तृतीय) के अपत्य कुलत्ती अथवा परिकुलत्तिराय के पुत्र थे जो कि कृष्णवर्मा के उत्तराधिकारी हुए परन्तु कुछ समय पश्चात् कृष्णवर्मा के मन्त्री ने इन्हें अपदस्थ कर कृष्णवर्मा के बहन के पुत्र कोङ्गनीं महाधिराय (द्वितीय) को राजा बना दिया।

16. कोङ्गनीमहाधिराय (द्वितीय)

17. ध्रुवन्तीराय अपरनाम अविनीत या दुर्विनीत

इसने कोङ्गदेश और कर्नाटक पर राज्य किया । इसे 'धर्मविरोधी', 'पुण्यविरोधी' तथा 'अन्यायी राजा' कहा जाता था ।

18. मुश्करराय

इसे 'ब्रह्महत्या राय' कहा जाता था इसने ब्राह्मणों को दिये गये अनेकों अग्रहारों को वापस ले लिया था ।

19. तिरुविक्रम अपरनाम श्री विक्रम

20. भू विक्रम

इनके पास हाथियों की विशाल सेना थी जिसके कारण इन्हें 'गजपति' कहा जाता था ।

21. कोङ्गनी (तृतीय) अपरनाम नवकाम

उनके विरुद्ध

इसने अधीनस्थ राज्यों जिन्होंने कर देना बन्द कर दिया था व्यापक विजय अभियान चलाया । वल्लभ या श्री वल्लभाक्य अपरनाम विलन्द इसका छोटाभाई तथा इसकी सेना का प्रधान सेनापति था ।

22. राजा गोविन्द अपरनाम नन्दिवर्मा

कुछ समय तक यह मुकुन्द पट्टन में रहा ।

23. शिवराम अथवा शिव महाराज (प्रथम)

इसका राज्यारोहण दलवानपुर में हुआ था परन्तु यह मुकुन्द पट्टन में रहता था । यह अपने पूर्ववर्ती राजा गोविन्द का भाई था ।

24. पृथिवी कोङ्गनी अपरनाम शिव महाराय (द्वितीय)

इन राजा का एक ताम्रपत्र अभिलेख सालेम, तालुका एवम् जनपद सालेम, तमिलनाडु से प्राप्त हुआ था जो कि शालिवाहन शक संवत् 693 तुल्य ईसवी सन् 771 का है । इस ताम्रपत्र का प्रकाशन एपिग्राफी या इण्डिका खण्ड 27 पृष्ठ 145 पर किया गया है तथा इसका उल्लेख 'डायनेस्टिक लिस्ट ऑफ कापर प्लेट इन्सक्रिप्शन्स' में पृष्ठ 75 पर भी किया गया है । यह राजा पूर्ववर्ती राजा शिवराम का पौत्र था ।

25. मल्लदेव (प्रथम) अपरनाम शिव महाराय (तृतीय)

यह पृथिवी कोङ्गनी के भाई विजयादित्य का पुत्र था ।

26. गण्डदेव

इसने काञ्ची के पल्लव राजा से कर लिया । चोल राजा के साथ युद्ध किया परन्तु पाण्ड्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखा । इसके तीन पुत्र - सत्यवाक्य, गुणालुत्तम व मल्लदेव (द्वितीय) थे जो कि एक के बाद एक राजा हुये ।

27. सत्यवाक्य

28. गुणालुत्तम

इसका दलवानपुर में राज्यारोहण हुआ था ।

29. मल्लदेव (द्वितीय)

इसने गुणालुत्तम को अपदस्थ कर स्कन्दपुर में बन्दी बनाकर रखा तथा पाण्ड्य राजा को पराजित किया । उपर्युक्त 29 राजाओं के अतिरिक्त अब तक प्राप्त ताम्रपत्र अभिलेखों से इस राजवंश के दो राजाओं का और नाम ज्ञात होता है ।

30. राजा वुतुग, नन्निय गंग अपरनाम माधव (चतुर्थ)

इस राजा का ताम्रपत्र अभिलेख सुन्डी (धाखार) से प्राप्त हुआ था जो कि सुन्डी मन्दिर को दिये गये अनुदान से सम्बन्धित है । यह शालिवाहन शक संवत् 860 तुल्य ईसवी सन् 938 का है जिसे 'एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड 3 पृष्ठ 15' पर प्रकाशित किया गया है । इसका उल्लेख 'एन्नुअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी सं. 18 वर्ष 1934-35' में तथा 'लिस्ट ऑफ इन्सक्रिप्शन्स कापीड बाई द एपिग्राफी ब्रान्च' में पृष्ठ 123 पर भी किया गया है ।

31. मारसिंह (द्वितीय)

इस राजा के दो ताम्रपत्र अभिलेख प्राप्त हुए है । इनमें से प्रथम ताम्रपत्र शालिवाहन शक संवत् 884 'दुन्दुभी' तुल्य ईसवी सन् 962 का है जो कि कर्नाटक हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी, धारवार कर्नाटक में संरक्षित है । इसका विवरण 'एन्नुवल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपिग्राफी सं. 23 वर्ष 1935' में तथा 'लिस्ट ऑफ इन्सक्रिप्शन्स कापीड बाई दी एपिग्राफी ब्रान्च' में पृष्ठ 123 पर किया गया है । दूसरा ताम्रपत्र अभिलेख शा. शक संवत् 890 तुल्य ई. सन् 968 का है जो 'इण्डियन एन्टिक्वेरी खण्ड 7' में पृष्ठ 101-12 पर प्रकाशित किया गया है ।

विशेष

राबर्ट सेवेल ने 1884 ई. सन् में प्रकाशित ' अर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ साउदर्न इण्डिया खण्ड 2' में पृष्ठ 189-91 पर 'कोङ्गदेश का राजकाल' नामक प्राचीन पुस्तक से मल्लदेव (द्वितीय) तक के राजाओं का संक्षिप्त विवरण दिया है । उस समय तक तिरुविक्रमदेव के अभिलेख (शा. शक संवत् 100), मर्कार ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 816) तथा मारसिंह द्वितीय के अभिलेख (शा. शक संवत् 890) ही प्राप्त थे । मर्कार तथा नागमंगलम् ताम्रपत्र अभिलेख 'इण्डियन एण्टिक्वेरी खण्ड 1 पृष्ठ 361-366' पर प्रकाशित है । इस अभिलेख के सम्बन्ध में 'इण्डियन एण्टिक्वेरी । खण्ड 2 पृष्ठ 155 व 271, खण्ड 3 पृष्ठ 152, 262 तथा खण्ड

5 पृष्ठ 133' में भी उल्लेख किया गया है । मर्कार ताम्रपत्र अभिलेख ई. सन् के प्रारम्भ से 894 ई. सन् तक राज्य करने वाले कोङ्गदेश के राजाओं का विवरण है । कोङ्गदेश के राजाओं की एक सूची 'इण्डियन एण्टिक्वेरी खण्ड 1' में पृष्ठ 360 पर भी प्रकाशित है । अरिवर्मन के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 169), कोङ्गनीवर्मा राय (प्रथम) अपर नाम माधव (प्रथम) के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 172), माधववर्मा (द्वितीय) के ताम्रपत्र अभिलेख (वर्ष 1), विष्णुगोप के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 211), माधववर्मा (तृतीय) के ताम्रपत्र अभिलेख (24 ?), पृथवीकोङ्गनी के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 693), वुतुग नन्निय गंग के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 860) तथा मारसिंह (द्वितीय) के ताम्रपत्र अभिलेख (शा. शक संवत् 884) 1884 ई. सन् तक नहीं प्राप्त हुए थे जिसके कारण मात्र मर्कार ताम्रपत्र अभिलेख के आधार पर इस राजवंश की प्राचीनता पर तथा उक्त ताम्रपत्र की सत्यता पर तत्कालीन विद्वानों द्वारा सन्देह किया जाता था परन्तु कालान्तर में उपर्युक्त ताम्रपत्र अभिलेखों की उपलब्धि से इस राजवंश की प्राचीनता तथा मर्कार ताम्रपत्र अभिलेख की सत्यता असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुकी है । इन ताम्रपत्रों की अनुपलब्धि से मारसिंह (द्वितीय) को मारसिंह (प्रथम) से अभिन्न मानने की भूल फ्लीट आदि विद्वान् कर बैठे थे । वस्तुतः उपर्युक्त ताम्रपत्रों के न प्राप्त होने की स्थिति में भी मारसिंह (द्वितीय) को मारसिंह (प्रथम) से अभिन्न मानने का कोई औचित्य नहीं था क्योंकि मारसिंह (द्वितीय) ने अनुदान गंगवंश के राजा के प्राधिकार से शालिवाहन शक संवत् 890 तुल्य ईसवी सन् 968 में दिया था जबकि मारसिंह (प्रथम) राजा न होकर राजा हरिवर्मा का भाई मात्र था ऐसे में एक राजा के रूप में उसके द्वारा अनुदान देने की कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए थी । जो भी हो सौभाग्यवश उपर्युक्त अनेक अभिलेखों की उपलब्धि से अब तक उक्त भ्रान्त धारण के लिए कोई स्थान नहीं रहा 'चेर केरल का पर्यायवाची है । कोङ्गराजा प्रारम्भ में कम से कम केरल के उत्तरी भाग पर शासन करते थे । उनका राज्य क्षेत्र कोङ्गदेश कहलाता था ।' यह रावर्ट सेवेल का अभिमत है ।

कोङ्गदेश के राजवंश के उपर्युक्त विवरण से यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणिक होता है कि 178 ई. सन् में भी एक शङ्कराचार्य शृङ्गेरी (कर्नाटक) मे थे जिन्होंने तिरुविक्रमदेव का सनातन धर्म में परावर्तन किया था ।

परिशिष्ट-३

अमिट काल रेखा (अर्वाचीन मत खण्डन) पर विद्वानों के मत से सम्बन्धित

पत्राचार

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

दिनाङ्क : 14 सितम्बर 2000

पूर्वाम्नाय - गोवर्द्धनमठ-पुरीपीठाधीश्वर
श्रीमज्जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामि
श्री निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज की

'अमिट कालरेखा' पर रस-रहस्यपूर्ण सम्मति

शिवावतार भगवत्पाद् आद्यशंकराचार्य महाभाग के अवतार से नित्या सरस्वती वेदवाणी स्वार्थ (वास्तविक तात्पर्य) में सर्वतोभावेन समन्वित हुई ।

भगवत्पादशंकराचार्यमहाभाग ने वैदिक कर्मकाण्ड से लौकिक पारलौकिक उत्कर्ष का ख्यापनकर तथा कर्माशक्ति, फलाशक्ति, अहंकृति को शिथिल कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ अनुष्ठित स्ववर्णाश्रमानुरूप कर्मानुष्ठानरूप कर्मयोग से कैवल्योपयुक्त चित्तशुद्धि का प्रतिपादन कर अस्सी प्रतिशत वेद मन्त्रों को स्वार्थ में समन्वित किया ।

जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मायाशक्तिसमन्वित सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर का विष्णु, शिवादि पञ्चदेवों के रूप में अवतार स्वीकार कर तथा पञ्चदेवोपासना से कैवल्योपयुक्त चित्तस्थैर्य का प्रतिपादन कर सोलह प्रतिशत वेद मन्त्रों को भगवत्पाद ने स्वार्थ में समन्वित किया ।

शिव स्वरूप श्री भगवत्पाद ने आत्मा की सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मरूपता और अद्वयता का प्रतिपादन कर तथा आत्मस्वरूप में अध्यस्त अनात्मवस्तुओं से विविक्त ब्रह्मात्मतत्व के अवशेष को मुक्ति स्वीकार कर अवशिष्ट चार प्रतिशत ज्ञानकाण्ड परक वेदमन्त्रों को स्वार्थ में समन्वित किया।

ऐसे भगवत्पादमहाभाग का आविर्भाव वि. सं. 2057, तदनुसार ई. सन् 2000 से 2507 वर्ष पूर्व अर्थात् वि.सं. से 450 और ई. सन् से 507 वर्ष पूर्व प्रामाणिक गवेषणा से सिद्ध है ।

श्री परमेश्वरनाथ मिश्रविरचित 'अमिट कालरेखा' प्रथम और द्वितीय भाग का आद्योपान्त अनुशीलन कर अतीव प्रमुदित हुआ । ऐतिह्यतथ्यापहारक विचारकों के भ्रम, प्रमादादियुक्त पक्ष का श्री मिश्र महोदय ने वस्तुस्थिति के प्रकाश में विनम्रता, बुद्धिमत्ता, युक्तिमत्ता और सत्य सहिष्णुता एवं सत्यनिष्ठा के साथ निराकरण कर वस्तुस्थिति में आस्थान्वित महानुभावों को अपूर्व उत्साह और बल प्रदान किया है । भगवत्पाद विरचित भाष्यान्तर्गत गुम्फित 'कार्षापण मुद्रा', विद्वान् मनीषियों एवं राजाओं के तथा नगरों के नामादि के आधार पर प्रामाणिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर श्री मिश्र जी ने सत्य के पक्षधर, सिद्धान्तनिष्ठ महानुभावों का स्वयं को स्नेह भाजन और अनुग्रहपात्र बना लिया । भगवान् श्री जगन्नाथ-चन्द्रमौलीश्वर महाप्रभु की अनुकम्पा से श्री मिश्र जी का सर्वविध उत्कर्ष हो, ऐसी भावना है।

निश्चलानन्द सरस्वती

टिप्पणी : अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्री गोवर्द्धनमठ पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी महाराज ने अमिट कालरेखा (अर्वाचीन मत खण्डन) तथा अमिट कालरेखा (प्राचीनमत मण्डन) पर सम्मति लिखने का अनुग्रह किया । उस समय अमिट कालरेखा (प्राचीन मत मण्डन) को भाग-2 के रूप में प्रकाशित करने की योजना थी । परन्तु महामण्डलेश्वर जी की द्वितीय पुस्तक के परिप्रेक्ष्य में उक्त वृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन स्थगित कर वर्तमान पुस्तक अमिट कालरेखा (वितण्डावादी मत खण्डन) को भाग-2 के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है । इस ग्रन्थ का अवलोकन आचार्य श्री ने नहीं किया है अतएव उपर्युक्त सम्मति को पुस्तक पर दी गई सम्मति नहीं समझना चाहिए। यद्यपि विषय वस्तु लगभग एक जैसी है ।

आचार्य डॉ. जयमन्त मिश्र

एम. ए., पी. एच. डी.,

व्याकरण - साहित्याचार्य, राष्ट्रपति पुरस्कार सम्मानित,

पूर्व कुलपति, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय,

पूर्व वरीय विश्वविद्यालय-आचार्य एवम् अध्यक्ष

संस्कृत विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर ।

दूरभाष : (06272)22946

हनुमानगंज, मिश्रटोला

दरभंगा - 846004

दिनांक - 29.1.2001

प्राचीन इतिहास के वेत्ता एवम् उच्चन्यायालय, कलकत्ता तथा उच्चतम न्यायालय भारत के प्रसिद्ध अधिवक्ता श्री परमेश्वर नाथ मिश्र लिखित 'अमिट कालरेखा' जिसमें आदि भगवत्पाद् श्री शंकराचार्य के समय का प्रामाणिक निरूपण किया गया है , अन्वर्थ संज्ञक एक महत्वपूर्ण कृति है । विज्ञ लेखक द्वारा इस पुस्तक में उद्धृत राजा सुधन्वा के अभिलेख से प्रमाणित होता है कि आदि शंकराचार्य ने गोवर्द्धनपीठ पुरी में श्री पद्मपादाचार्य, ज्योतिष्पीठ-बदरिकाश्रम में श्री तोटकाचार्य, शारदापीठ-द्वारका में श्री सुरेश्वराचार्य तथा शृङ्गेरीपीठ में श्री हस्तामलकाचार्य को अभिषिक्त कर चारों धर्म-राजधानियों की सुव्यवस्था तथा धर्म, संस्कृति की सुरक्षा का दायित्व उन्हें दिया था । उनके जीवनकाल में राजा सुधन्वा ने, निर्देशानुसार, अपने विस्तृत अभिलेख को उत्कीर्ण करवाकर आश्विन शुल्क 15, युधिष्ठिर शक 2663 (तुल्य) ई. पू. 475 में स्थापित किया था । इसी वर्ष ई.पू. 475 में अपने जीवन के 32 वर्ष में आदि शंकराचार्य ने कैलाश गमन किया था । तदनुसार आदिशंकराचार्य का आविर्भाव युधिष्ठिर शक 2631 (तुल्य) ई. पू. 507 में हुआ था यह सिद्ध होता है ।

विद्वान् लेखक ने इस प्रसङ्ग में धर्मकीर्ति, दिङ्नाग आदि के वचनों के आधार पर उठायी गई विसङ्गतियों का निर्णयात्मक समाधान कर उपर्युक्त मत को प्रमाणित किया है।

शृङ्गेरीमठ के अपुष्टमत के अनुसार आदि शंकराचार्य का आविर्भाव ई. 8वीं शती में मानने पर गोवर्द्धनपीठ, शारदापीठ और ज्योतिष्पीठ के आचार्यों की परम्परा से प्राप्त

(आचार्यों की) सूची में संख्या तथा निर्दिष्ट समय की भी संगति नहीं होती है । गोवर्द्धनपीठ-पुरी में अभी जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निश्चलानन्द सरस्वती 145वें आचार्य हैं । पूर्ववर्ती 144 आचार्यों के आचार्यत्वकाल का योग भी इसी से मेल खाता है । ऐसे ही शारदापीठ-द्वारका के वर्तमान पीठाधीश्वर श्री स्वरूपानन्द सरस्वती के पूर्ववर्ती 77 आचार्यों के सुदीर्घकाल का योग भी संगत होता है । गोवर्द्धनपीठ के पूर्वाचार्यों का समय कलि संवत् में तथा शारदापीठ के पूर्वाचार्यों का समय युधिष्ठिर संवत् में उल्लिखित है । भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के वैकुण्ठधामगमन के दिन से कलिसंवत् का और युधिष्ठिर के राज्यारोहण के समय से युधिष्ठिर संवत् का आरम्भ होता है । दोनों में तुलनात्मक विवेचन से भी उपर्युक्त मत ही पुष्ट होता है ।

अतः अनेक अकाट्य-प्रमाणों के आधार पर आदिशङ्कराचार्य का आविर्भाव ई.पू. 507 तथा कैलाशगमन ई.पू. 475 में हुआ था यही सुनिश्चित होता है ।

श्री परमेश्वर नाथ मिश्र ने अथक परिश्रम कर इस विवादास्पद विषय का युक्ति पूर्वक सप्रमाण खण्डन करते हुए निर्णयात्मक मान्य समय को सिद्ध किया है । एतदर्थ इन्हें शतशः हार्दिक साधुवाद । इतिशम् ।

वसन्त पञ्चमी
29.1.2001

जयमन्त मिश्र

प्रो. जगदीश प्रसाद
विभागाध्यक्ष- हिन्दी विभाग

स्काटिश चर्च कालेज
कलकत्ता-6
दूरभाष : 3503862

माननीय परमेश्वरनाथ मिश्र जी,
सादर नमस्कार ।

'शंकराचार्य परम्परा एवं संस्कृति रक्षक परिषद' के द्वारा प्रकाशित आपका ग्रन्थ 'अमिट कालरेखा' देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । कलेवर में लघु होते हुए भी यह ग्रन्थ आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध में फैली भ्रान्ति को निर्मूल करने में सफल हुआ है।

भारत वर्ष की महान् सांस्कृतिक विरासत को नकारने की विदेशी मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि आज के विद्वान् 8वीं शताब्दी को आदिशंकराचार्य का प्रादुर्भाव काल मानते हैं । ऐतिहासिक विवरणों एवं बौद्ध साहित्य में उपलब्ध अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि इस धरा धाम पर उनका प्रकटीकरण युधिष्ठिर शक संवत 2631 में हुआ था ।

इस प्रसंग में आपका यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए पथ प्रदर्शक सिद्ध होगा । मेरा दृढ़ विश्वास है कि विपुल तथ्यों से सुसज्जित यह ग्रन्थ वर्तमान एवं आगामी पीढ़ी के लिये प्रकाश स्तंभ का कार्य करेगा । इसी शृंखला में प्रकाशित होने वाली आगामी पुस्तक की प्रतीक्षा में -

अनेक शुभकामनाओं के साथ सादर

आपका
जगदीश प्रसाद

।। श्री हरिः ।।

कल्याण

सम्पादन-विभाग
पत्र-क्रमांक 1910

गीता प्रेस - 273005
गोरखपुर (उ. प्र.)
दिनांक 19.5.2000

सम्मान्य महोदय,
सादर हरिस्मरण ।

पत्र के लिये धन्यवाद । आप द्वारा प्रेषित पुस्तक 'अमिट काल रेखा' प्राप्त हुई । आपने आचार्य शंकर के जीवन पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है । इस पुस्तक के द्वारा चारों मठों के बारे में समस्त जानकारी पाठकगण प्राप्त कर सकेंगे । अतः आपके इस पुस्तक को पाठकों के लाभार्थ पुस्तकालय में जमा कर लिया गया है । पुस्तक का पेपर, गेट-अप, छपाई उत्तम है । कृपाभाव बनाये रखें ।

शेष भगवत् कृपा

भवदीय
जानकी नाथ शर्मा

ॐ

(मूल आङ्ल का हिन्दी भाषान्तर)

डॉ. एम. टी. बुच, एम. ए.,
पी. एच. डी., पो. बा. संख्या 3002
पटेल कालोनी पोस्ट ऑफिस,
जामनगर 361004,
दिनांक 20.12.2000,

प्रिय महोदय,

आपको यह विदित हो कि हमने 'अमिट कालरेखा' नामक आपकी बहुमूल्य पुस्तक को पढ़ा तथा उसका परीक्षण किया । इस सशक्त विश्वासोत्पादक शोध प्रबन्ध हेतु आप हार्दिक बधाई के पात्र हैं । इसके प्रमाण एवं युक्तियाँ अकाट्य हैं और यही सच्चाई है ।

इस सम्बन्ध में हम आपसे अनुरोध करते हैं कि गुजराती सहित भारत की मुख्य क्षेत्रीय भाषाओं में अमिट कालरेखा का अनुवाद करवाकर उसका व्यापक पैमाने पर प्रसार प्रचार करें ।

वस्तुतः हमारा यह सोचना है कि इस तरह की विलक्षण पुस्तक उन लोगों के लिये जो कि हिन्दी भाषा नहीं जानते किन्तु आदि गुरु में जिनकी अगाध श्रद्धा है अनजान व अपाठ्य नहीं बनी रहनी चाहिए । यदि आप हमसे कहें तो हम विशुद्ध सम्मानार्थ आधार पर इसका गुजराती भाषा में सहर्ष अनुवाद प्रस्तुत करेंगे ।

आपका शुभेच्छु
एम. टी. बुच

(मूल आङ्ल का हिन्दी भाषान्तर)

डॉ. सी. बी. रावल
पूर्व प्राध्यापक-दर्शन शास्त्र विभाग
सेंट जेवियर्स कालेज,
नवरंग पुरा, अहमदाबाद,
गुजरात,

28, नोवेक्स रो हाउसेज सैटेलाइट रोड
अहमदाबाद - 15
दिनांक 6.6.2000

प्रिय महाशय,

श्री मिश्र जी द्वारा विरचित पुस्तक सम्प्रेषण हेतु मैं आपके प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। मैं लेखक को गहन ज्ञान व शोधी मस्तिष्क हेतु बधाई देता हूँ जिसका उपयोग उन्होंने परम्परा और इतिहास द्वारा पूर्णतया समर्थित नई अवधारणा को प्रकाश में लाने तथा अनेक छिपे हुये तथ्यों के उद्घाटन एवम् अन्वेषण में किया है । मत वैभिन्य हो सकता है परन्तु ज्ञान वैभिन्य नहीं होना चाहिए ।

आपका शुभेच्छु
सी.बी. रावल

ॐ श्री सद्गुरुदेवाय नमः

दूरभाषः 540805
प्रोफेसर (डॉ.) के. जे. अजाविया
एम. ए., पी यच. डी.
60, श्री सद्गुरु नगर, निवृत्त संकाय प्राध्यापक और
पूर्व चेयर मैन संस्कृत बोर्ड सौ. यूनिवर्सिटी
सारु सेक्शन रोड़, जामनगर - 361006

दिनाङ्क : 16-10-2000

सन्मान्य महोदय,

'अमिट कालरेखा' पुस्तक मिली । आपने मुझे अधिकृत मानकर याद किया और अपना संशोधन भेजा इसलिए कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

पश्चिमीय विद्वानों का असर भारतीय विद्वत् जगत पर गहरा है । अतः वे भी जगद्गुरु की तिथि 8वीं शताब्दी मानते हैं । किन्तु आपने ठोस प्रबल प्रमाणों से जो प्रतिपादित किया है वह उत्कृष्ट संस्कृत साहित्य के इतिहास में क्रान्ति लाएगा । आपके प्रमाण और तर्क वस्तुनिष्ठ होने से अकाट्य ठहरेंगे । मुझे बहुत प्रसन्नता हुई । धन्यवाद । आपका प्रदान अविरत बना रहे ऐसी शुभकामना के साथ ।

भवदीय
के. जे. अजाबिया

डॉ. रमेशचन्द्र मुरारी
व्याख्याता - संस्कृत अकादमी द्वारका
द्वारका-361335, गुजरात

अगस्त, 1-2000

आदरणीय मिश्र जी

सादर प्रणाम,

आप द्वारा प्रेषित एवं प्रकाशित अमिटकाल रेखा का अवलोकन किया । अपनी धैर्यशाली बुद्धि, बल का परिचय देकर आपने सभी को चौका दिया ।

यह ग्रन्थ शङ्कराचार्यों की परम्परा को बताने के लिए आधुनिकों के मुँह पर तमाचा मार रहा है ।

"गागर में सागर" भरने की जो उक्ति है वह इस अमिटकाल रेखा के अमूल्य पृष्ठों में निहित है । हम सभी की राय आपके मुताबिक है

बाकी मैं आपको क्या लिख सकता हूँ ।

अस्तु - हमारा प्रणाम

डॉ. रमेशचन्द्र मुरारी

डॉ. कमलेश कुमार सी. चोकसी
रीडर- संस्कृत विभाग, भाषाई संकाय
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद-380009 भारत

दिनाङ्क 21-6-2000

मान्यवर महोदय,
सादर प्रणाम,

आशा है आप सकुशल होंगे । भवविरचित 'अमिटकालरेखा' नामक पुस्तकरत्न प्राप्त हुआ । तदर्थ धन्यवाद ।

आपने तर्कबद्ध रूप से बहुत श्रम पूर्वक यह पुस्तक तैयार किया है ; वह प्रशंसनीय है । एतद्विषयक सभी चिन्तकों तथा अध्ययनकर्ताओं को यह उपयोगी सिद्ध होगा ।

भारतीय प्राचीन अन्य महात्माओं तथा राजाओं के क्रमिक काल बद्ध इतिहास का कार्य भी इसी शैली से हो, तो बड़ा उपयोगी हो ।

शेष कुशल है ।

भवदीय
कमलेश कुमार सी. चोकसी

संस्कृत सेवा समिति

प्रमुख
पंजीकरण संख्या गुज./ 823
न्यास संख्या एफ 833

दूरभाषः 479610
गौतम वाडीलाल पटेल
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
सेंट जेवियर कालेज, अहमदाबाद-38009

माननीय परमेश्वरनाथ मिश्र

सादर नमस्कार,

आपके द्वारा लिखित अमिटकालरेखा प्राप्त हुआ । धन्यवाद ।

आपका संस्कृति संरक्षण का प्रयत्न धन्यवाद का पात्र है । मैं अवश्य पुस्तक पढूँगा। और इस मत का प्रचार-प्रसार भी करूँगा ।

पुनः सधन्यवाद ।

भवदीय कृपाकांक्षी
गौतम वाडीलाल पटेल

टिप्पणी : यह पत्र दीखने में बहुत संक्षिप्त है पर इसका महत्व अत्यधिक है । श्री पटेल जी गुजरात सरकार के सूचना निदेशालय द्वारा 1992 ई. सन् में प्रकाशित 'आदिशङ्कराचार्य (ट्वेल्थ सेन्चुरी कमेमोरेशन वाल्यूम)' अर्थात् 'आदिशङ्कराचार्य (द्वादश शताब्दी स्मृतिग्रन्थ)' के सम्पादक थे । बाद में 1995 ई. सन् में उक्त ग्रन्थ का संशोधित एवं परिवर्द्धित गुजराती अनुवाद 'आदिशङ्कराचार्य (द्वादश शताब्दी स्मृतिग्रन्थ)' शीर्षक से संस्कृत सेवा समिति द्वारा प्रकाशित किया गया था । जिसके संयुक्त संपादक श्री पटेल जी भी थे । उन्होंने मेरे मत आचार्य शङ्कर के आविर्भाव काल ई. पू. 507 से ई. पू. 475 के प्रचार-प्रसार करने की प्रतिबद्धता प्रदर्शित कर विद्वानों की परम्परागत उच्च मर्यादा का प्रदर्शन कर लेखक को अनुगृहीत किया है । क्योंकि विद्वान् सत्य पक्ष उजागर होने पर असत्य पक्ष का त्याग कर देता है । डॉ. गौतम वा. पटेल जी ने भी असत्य मत 'आचार्य के आविर्भाव काल 788 ई. से 820 ई.' को त्याग कर सत्य मत 'आचार्य के आविर्भावकाल ई.पू. 507 ई. से ई. पू. 475' को अपनाकर भारतीय संस्कृति एवं शाङ्कर सम्प्रदाय की अमूल्य सेवा की है जो इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा ।

(मूल आङ्ल का हिन्दी भाषान्तर)

दूरभाष सं. : 329334

डॉ. नितिन एस. व्यास

अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग

कला संकाय

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा

बड़ौदा कालेज भवन

बड़ौदा- 2

दिनाङ्क : 25-5-2000

माननीय श्री मिश्र जी

कल मुझे आपकी पुस्तक अमिट कालरेखा (आचार्य शङ्कर की प्रव्रज्या के 2500 वर्ष अर्वाचीन मत खण्डन : काल गणना) प्राप्त हुई । आपके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ । मैं धीरे-धीरे इसे पढ़ूँगा ।

आपका व्यस्त कार्यक्रम है इस तथ्य के बावजूद भी इतिहास में विलक्षण तिथिक्रमोत्पत्ति में आपकी अभिरूचि आश्चर्यजनक है ।

शुभकामनाओं और सम्मान सहित ।

आपका शुभेच्छु

एन. एस. व्यास

आचार्य पं. झम्मन मिश्र
व्याख्यान दिवाकर

श्रीः

पता
इन्द्रप्रस्थ भवन
सुभाष वार्ड, भाटापारा
जि0- रायपुर
दिनांक 5 जुलाई 2000

पत्रांक 121

परम सम्मानीय श्री मिश्र जी
सादर अभिवादन

विदितस्तु,

आपके द्वारा प्रेषित आद्य शङ्कराचार्य भगवान् का आविर्भाव काल "अमिटकालरेखा" शोधपूर्ण प्रकाशित महाग्रन्थ को पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुयी वर्तमान् समय में ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों की आवश्यकता थी । आपके महान् सत्प्रयास एवं कठिन परिश्रम के द्वारा यह ऐतिहासिक कार्य पूर्ण हुआ है जो इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा । आपने सांगोपांग विस्तृत विवेचन के द्वारा शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर भगवान् आदिशङ्कराचार्य जी का आविर्भाव काल 2507 वर्ष पूर्व सिद्ध किया है जो युक्तियुक्त बहुत स्पष्ट है । और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं हम पूर्णरूपेण आपके विचारों से सहमत हैं । अर्वाचीन मत का जिस दृढ़ता पूर्वक आपने खण्डन किया है, उससे राष्ट्र में जो इस संदर्भ में भ्रान्तियाँ फैलाये हुए हैं उनको पूरा यथोचित समाधान प्राप्त होगा । भविष्य में आपके द्वारा "सनातनधर्म" के किसी भी विषय पर विरोधी यदि कटाक्ष करें तो आपके सत् ज्ञान प्रकाश के द्वारा उसका उन्मूलन हो ऐसी हमारी भावना है । अन्त में भगवान् श्री चन्द्रमौलीश्वर महाप्रभु के पादपङ्कजों में कोटिशः प्रणाम समर्पित करते हुए हम प्रार्थना करते हैं कि विस्तृत महाग्रन्थ का भी शीघ्र प्रकाशन हो । आपको पूर्ण शक्ति प्राप्त हो इन्ही शुभ मंगलकामनाओं सहित ।

आपका ही
झम्मन शास्त्री

(मूल आङ्ल का हिन्दी भाषान्तर)

प्रो. डॉ. एस. जी. कान्तावाला
पूर्व प्रोफेसर व अध्यक्ष
संस्कृत, पालि, प्राकृत विभाग
पूर्वसंकायाध्यक्ष-कलासंकाय
पूर्व निदेशक - पौर्वात्य संस्थान
म. स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा
बड़ोदरा- 390002

"श्रीराम"
कन्तरेश्वर महादेव का पोल
बजवाड़ा, बड़ोदरा-390001
गुजरात
दिनाङ्क : 2 जून 2000

प्रिय श्री मिश्र,

आपकी पुस्तक "अमिटकालरेखा" की शुभेच्छित प्रति प्राप्त हुयी तदर्थ धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ । पुस्तक पढ़ने में रुचिकर है और आप बधाई के पात्र हैं । एतस्मिन् पश्चात् ऊपर दिये गये मेरे आवासीय पते पर पत्राचार करें ।
सधन्यवाद,

आपका शुभेच्छु
एस. जी. कान्तावाला

राम गोपाल
सेक्रेटरी
हिन्दू राइटर्स फोरम
ए-2-बी/94-ए, एम. आई. जी. फ्लैट
पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063
दिनाङ्क : 31-3-2001

आदरणीय मिश्र जी
सादर प्रणाम,

आपकी पुस्तक 'अमिटकालरेखा' आचार्य शङ्कर की प्रव्रज्या के पच्चीस सौ वर्ष (अर्वाचीन मत का खण्डन) हाल ही में एक भक्त के पास देखी । उन्हें यह पुस्तक जनवरी 2001 में प्रयाग महाकुम्भ के अवसर पर प्राप्त हुयी थी ।

अल्पकाल में जो थोड़ा बहुत पढ़ पाया उससे मैं इस पुस्तक द्वारा बहुत प्रभावित हुआ । आपने इस विषय में सार्थक, शोधपूर्ण परिश्रम किया है । यदि आप इसे डाक द्वारा उपरोक्त पते पर भिजवा सके तो कृपा होगी ।

अग्रिम धन्यवाद सहित,

आपका
राम गोपाल

एम. डी. / 23
दिल्ली - 110034

दिनाङ्क : 28-5-2000

स्नेहाशील अधिवक्ता महोदय श्री मिश्र महाभाग ।

आयुष्य के नपने से आशीर्वाद ।

वैदुष्य के नपने से नमस्कार स्वीकारें ।

कल डॉक से आप द्वारा प्रेषित 'अमिटकालरेखा' मिली । मोतियाबिन्द से पीड़ित होने से मैं उसे ठीक ढंग से पढ़ भी नहीं सका । कुछ अंश पढ़वा कर सुने अवश्य हैं । मैं निर्विकल्प भाव से कह सकता हूँ कि आपकी रचना अमिटकालरेखा श्री उदयवीर शास्त्री के विचारों की फोटोस्टेट प्रतिमात्र है । उसमें मौलिक चिन्तन का सर्वथा अभाव है । अछूती अवधारणा उसमें बिल्कुल नहीं है ।

खैर मैंने भी इस विषय पर लिखा है । मेरे अभिमत में आदिशङ्कराचार्य का समय बी.सी. 44-13 बी.सी. है ।

मेरा जन्म 7-8-1914 है । मेरी आयु का अनुमान आप लगा सकते हैं । इस जर्जर देह को लेकर मैं बनारस आ सकता हूँ । आमने सामने विचार विनिमय उचित रहेगा। इसे शास्त्रार्थ का रूप न दिया जाय । अक्टूबर के बाद ही ऐसा होना संभव है।

आपके वैदुष्य और श्रम से परिवृत्त ।

चन्द्रकान्त बाली

बाली जी के पत्र का प्रत्युत्तर

आदरणीय वयोवृद्ध मनीषी

चन्द्रकान्त बाली महोदय

प्रणाम,

आपका 28 मई 2000 का लिखा हुआ पत्र मुझे प्राप्त हुआ । अतिशीघ्र प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए आपको धन्यवाद । प्रथम दृष्ट्या पुस्तक के कुछ अंशों के अवलोकनोपरान्त व्यक्त आपके मन्तव्य पर अपनी प्रतिक्रिया न प्रकट करते हुए मैं कुछ उन बिन्दुओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जिनका मनन आपके विचारों में सम्भवतः परिवर्तन ला दे ।

'अमिटकालरेखा' मेरे स्वतन्त्र विचारों पर आधारित पुस्तक है जो कि मेरे निम्नलिखित अनुसन्धानों का परिणाम है यथा -

1. आचार्य शङ्कर का जन्म ई. सन् पू. 521 से प्रवर्तित विक्रम के शासन काल के 14 वें (गत) अथवा 15 वे (वर्तमान्) वर्ष में हुआ था । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा। बिन्दु 8 । पृष्ठ 15 ।
2. कम्बोज राजा जयवर्मन (3) के अभिलेख में उल्लिखित शङ्कर गोवर्द्धन मठ पुरी के 81वें शङ्कराचार्य शङ्कर थे । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा । बिन्दु 9। पृ. 16-17 तथा परिशिष्ट 4 । पृष्ठ 67-71 ।
3. आचार्य शङ्कर के समकालीन राजा सुधन्वा दिल्ली के सम्राट् पृथ्वीराज चौहान (3) की 57 वीं पूर्ववर्ती पीढ़ी में हुए थे । द्रष्टव्य- अमिट काल रेखा । निष्कर्ष। पृष्ठ 44 व परिशिष्ट 1 पृष्ठ 52-56
4. सुरेश्वराचार्य द्वारा उल्लिखित धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति सागरघोष नामक गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध थे । द्रष्टव्य- अमिटकाल रेखा-। बिन्दु 16 । पृष्ठ 27-28।
5. आचार्य शङ्कर द्वारा उल्लिखित कार्षापण मुद्रा एक सार्वदेशिक मुद्रा के रूप में सम्पूर्ण भारत वर्ष में मौर्यों के पूर्व प्रचलित थी । यहाँ मौर्यों से तात्पर्य उस मौर्य साम्राज्य से है जिसकी स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य ने की थी । द्रष्टव्य । अमिटकाल रेखा । पृष्ठ 23-25 । बिन्दु 14 ।
6. स्रुघ्न नगर की समृद्धि एवं पतन काल के आधार पर आदिशङ्कराचार्य का काल

ई.पू. पाँचवी शताब्दी । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा । बिन्दु 15। पृष्ठ 26।

7. सुरेश्वराचार्य द्वारा दिया गया भर्तृहरि के ग्रन्थ का कथित उद्धरण भर्तृहरि का न होकर व्याडि के प्राचीन ग्रन्थ संग्रह का है । ह्वेनसाङ्ग द्वारा उल्लखित बौद्ध भर्तृहरि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति थे । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा। बिन्दु 18 । पृष्ठ 29-36 ।

कृपया आप यह बताने का कष्ट करें कि मेरे उपर्युक्त अनुसन्धानात्मक आधार उदयवीर शास्त्री के किन विचारों की छायाप्रति हैं और वे शास्त्री जी के किस ग्रन्थ में समाहित हैं ?

जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है मेरा अभिकथन निम्न है -

1. निःसन्देह यह कथन कि आचार्य शङ्कर का जन्म ई. पू. 507 में हुआ था, मेरा मौलिक अभिकथन नहीं है बल्कि यह तो परम्परागत मान्य मत की पुनरावृत्ति है जिसे विभिन्न मापदण्डों की कसौटी पर कस कर मैंने कुन्दन पाया है ।
2. मेरे उपर्युक्त अभिकथन की ही भाँति आप का यह अभिमत कि आचार्य शङ्कर का जन्म ई.पू. 44-13 में हुआ था आपका मौलिक मत नहीं है क्योंकि आपके जन्म वर्ष 1914 में मैसूर महाराज के पण्डित धर्माधिकारी के तनुज वेङ्कटाचल शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'शङ्कराचार्य चरित्रम्' में उक्त काल का उल्लेख किया है । एक परवर्ती विद्वान् एन. रमेशम ने 1971ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'श्रीशङ्कराचार्य' में भी उपर्युक्त मत की पुष्टि करने का प्रयास किया है ।
3. यदि एक नये सम्वत् जिसका प्रवर्तन 521 ई. पू. में हुआ था पर आधृत विचार में मौलिकता का नितान्त अभाव है तो क्या आप द्वारा अन्वेषित 622 ई. पू. में प्रवर्तित शक सम्वत् से सम्बन्धित आपका लेख (भारतीय इतिहास की प्रशस्ति पगडंडिया जो कि सम्भवतः समाज धर्म एवं दर्शन नामक पत्रिका में अब से लगभग 8 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था) क्या मौलिक कहा जा सकता है ?
4. आपका शङ्कराचार्य के काल से सम्बन्धित मत असंदिग्ध रूप से शृङ्गगिरि मठ की उस विभ्रान्त धारणा पर आधारित है जिसका खण्डन मेरी पुस्तक में किया जा चुका है । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा । बिन्दु 6 व 7 । पृष्ठ 9-14 ।
5. मैंने अपनी पुस्तक के स्रोतसन्दर्भ में 174 उद्धरणों का उल्लेख किया है जिनमें उदयवीर शास्त्री का एक भी उद्धरण नहीं है । सम्भवतः बिन्दु 14 में उत्तरपक्ष

के अन्तिम अनुच्छेद (अमिटकालरेखा । पृष्ठ 25) ने आपके मस्तिष्क में इस विचार को जन्म दिया कि मेरी पुस्तक उदयवीर शास्त्री के विचारों की छाया मात्र है और उसमें मौलिकता का नितान्त अभाव है । वस्तुतः काशिकानन्द द्वारा अपने लेख में उदयवीर शास्त्री के इस विचार का कि 'पंक्तिसाम्य के आधार पर काल निर्धारण इतिहास के साथ अन्याय करना होगा' उपहास किया गया है तथा काशिकानन्द ने व्यङ्गोक्ति की है कि - 'शास्त्री जी ने कहा है कि वे इस तथ्य पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेंगे परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया' । इसी कारण मैंने उक्त विषय पर भी गम्भीरता पूर्वक विचार कर शास्त्री जी के मत का भी मण्डन कर दिया है परन्तु मेरी पुस्तक का वही एकमात्र आधार नहीं है । द्रष्टव्य - अमिटकालरेखा। बिन्दु 18 । पृष्ठ 29 से 36 ।

आपकी अवस्था व विद्वता को पूर्ण सम्मान देते हुए आपके निर्देशानुसार इसे शास्त्रार्थ का रूप न देते हुए आमने सामने बैठकर विचार विनियम करने के प्रस्ताव को मैं स्वीकार करता हूँ यदि आप 1 सितम्बर से 9 सितम्बर के मध्य वाराणसी आ सके तो विचार विनिमय का अवसर हमें प्राप्त हो सकेगा । उस अवधि में वाराणसी में द्वयपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरुशङ्कराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती जी महाराज भी रहेंगे उनके सम्मुख विविध विद्वानों से विचार विमर्श अथवा शास्त्रार्थ का आयोजन मेरी संस्था द्वारा उक्त अवधि में किया गया है । आपके वाराणसी प्रवास के लिए भोजन एवं आवास की व्यवस्था मेरी संस्था की ओर से आपके निर्देशानुसार की जा सकती है ।

इस उम्र में भी आप इतने सक्रिय हैं तथा अक्षुण्ण विद्यानुराग से युक्त है इस तथ्य ने आपके प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा उत्पन्न कर दी है जिसका पुस्तक के विषय में व्यक्त विचारों से कोई संयोग नहीं है । वैचारिक मतभेद की स्थिति में शास्त्रार्थ के द्वारा पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह से परे रहकर यदि निराकरण किया जाय तो इसमें बुरा कुछ नहीं है ।

आपके विद्यानुराग के प्रति श्रद्धावनत्

परमेश्वरनाथ मिश्र

जून 2000 ख्रिष्टाब्द

प्रति,

श्री चन्द्रकान्त बाली

एन.डी. 23 पीतमपुरा

दिल्ली -110034

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रितपाठ अथवा त्रुटि निर्देश	इच्छितपाठ अथवा विशेष निर्देश
आवरण	3	वितण्डवदी	वितण्डावादी
प्रकाशकीय	23	विद्वानों	तथाकथित विद्वान्
लेखक परिचय का प्रथम पृष्ठ	19	2016 मे	2016 में
कृतज्ञताज्ञापन का द्वितीय पृष्ठ	3	स्रोत	स्रोतों
वहीं तृतीय पृष्ठ	4	साथ	साथ ही
वहीं	6 के पश्चात्	एक वाक्य का लोप हो गया है	इस हेतु उन्हें हार्दिक धन्यवाद (यह वाक्य योजक के रूप में पढ़े)
अनुक्रम का द्वितीय पृष्ठ	23	अनुसार तथा राष्ट्र	अनुसार व राष्ट्र
वहीं तृतीय पृष्ठ	1	चाह्मानवंशी	चाहमानवंशी
वहीं, चतुर्थ पृष्ठ	10	धर्मकीर्ति सागर घोष	धर्मकीर्ति सागरघोष
वहीं, षष्ठ पृष्ठ	7	उपाधि	उपाधि से
वहीं, सप्तम पृष्ठ	13	परिशिष्ट-4	परिशिष्ट-3
वहीं	पं.14 के बाद	एक शीर्षक का लोप	. 63परिशिष्ट-4:एक विशिष्टपत्र पृ. 315(यह योजक क्रमांक 62 के बाद जोड़ें ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
2	अन्तिम पंक्ति	अपनी	अवनी
3	1	दिया	दिया गया
6	13	उपर	ऊपर
वहीं	23	गिरी	गिरि
7	19	रूपया	रुपया
वहीं			
8	13	आश्चर्य ।	आश्चर्य!
वहीं	15	उनके	उनके साथ
वहीं	17	परिशिष्ट-3	परिशिष्ट-4
वहीं	21	भेजी	भेजी गयी
9	3	चार	छः
9	11	2000	2001
वहीं	वहीं	सन्यास	संन्यास
10	2	विनिमय में दूसरे देश	विनिमय में एक देश का व्यापारी दूसरे देश
17	18	युधिष्ठिर शक संवत् 2631 के ..... सम्राट् सुधन्वा के ताम्रपत्र एवम्	यह सम्पूर्ण वाक्यांश भूल से छप गया है इसका लोप कर देना है
वहीं	20	पुस्तिका	पुस्तिका एवम्
वहीं	वहीं	1896	1896-97
21	17	सम्राट्	सम्राट्।
वहीं	19	उसमें	उनमें
23	अन्तिम परिच्छेद पं.1	महामहिममण्डित	महामहिमामण्डित
28	4	तादृशी	तादृश
वहीं	6 व 7	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
29	8	भूषण भोजनम्	भूषण योजनम्
वहीं	अन्तिम पंक्ति	शशनि	शशिनी
31	7	ही	भी
32	20	269	296
34	27	theie	their

35	21	वहुकलात्मक रहस्यात्मक	वहुकलात्मक आकाश तक प्राप्त कर चुका होता है। यह व्याख्यायित किया जाता है कि एक योगी 8 रहस्यात्मक
48	19	निचक्रू	निचक्रु
53	6	गान	गाम
54	1	सही	सहीह
60	12	अधिकारिक	आधिकारिक
61	7	औरङ्गावाद	औरङ्गाबाद
वहीं	15	गुप्त शक	शक (गुप्त का लोप कर पढ़ें)
वहीं	18	574 ई.	574-75 ई.
63	13	भोत्र	भोज
67	4	राजकूट	राष्ट्रकूट
69	4	बिहार	विहार
81	3	प्रणाड़ी	प्रणाडी
84	7	आङ्ग्ल	आङ्ल
85	अंतिम पंक्ति	प्रथा	प्रथा,
87	10	में'	में
92	1	1896	1896-97
वहीं	11	अधार	अड्यार
95	15	1896	1896-97
97	19	पर	में
101	24	104	904
102	4	शङ्कराचार्य को	शङ्कराचार्य परम्परा को
108	15	पर अभिनन्दन	पर उनका अभिनन्दन
120	6	महामण्डलेश्वर जी ने	इन शब्दों का लोप कर पंक्ति पढ़ें
122	8	एक एक	एक एक्का
वहीं	21	कल्हण	कलहण
125	21	70	70(चालू कलि संवत् के अनुसार)

126	11	क्रमशः 1265 व 1266 वर्ष	क्रमशः 1264व1265 वर्ष
वहीं	20	आङ्ग्ल	आङ्ल
127	17	एक एक	एक एक्का
135	11	हुआ था	हुई थी
वहीं	23	स्वार्थी-लोगों	स्वार्थी, लोगों
136	18	'बुद्ध'	'बुद्ध
वहीं	20	असाम्प्रादायिक	असाम्प्रदायिक
143	2	थे शङ्कर	थे जिस श्रेणी के
वहीं	13	सामान्तर सिद्धि	समान्तर सिद्धि
वहीं	16	वे	हुए
144	9	में	उन्हें
वहीं	10	चीन	चीनी
वहीं	15	इस	इसका
वहीं	18	सांख्यकारिकाओं जिस	सांख्यकारिकाओं की जिस
वहीं	21	भू-टी	वू-टी
वहीं	25	को गौड़पाद द्वारा	के गौड़पाद
145	3	ऐसी	जिस
वहीं	21	सिलौन	सिलोन
वहीं	23	अन्य ग्रन्थ	अन्य अनेक ग्रन्थ
148-49		माष	माषा
151	11	वर्ष अंकित	वर्ष में अंकित
वहीं	अंतिम पंक्ति	सम्पूर्णपंक्ति अधिक मुद्रित हैं	सैम्पूर्णपंक्ति का लोप कर पढ़ें
155	24	उसके	उनके
156	9, 10	, रूपया	, रुपया
वहीं	8, 10, 23	रूपये	रुपये
166	6	की	के
वहीं	17	बताया है	बताया गया है ।
167	19	मोआन-चांग	युआन-चांग
169	6	ई.पू. 3	ई. सन् 3

170	4	वो	वह
वहीं	20	राममेलनात्	वाममेलनात्
वहीं	25	जो कि	जिससे
171	3	बढ़े	बड़े
वहीं	9	गति	गतिः
वहीं	19	सन् प्राप्त	सम्प्राप्त
वहीं	24	डायनोस्ट्रिक	डायनेस्टिक
174	8	श्रुति का पाठ शुद्ध...चलता। ...	इसवाक्य का लोप कर पढ़ें
175	3	269	369
वहीं	19	ऐसा	ऐसी
177	21	श्री	भी
178	1	ग्रन्थ में लिखा	ग्रन्थ में कहा
वहीं	9	परिशिष्ट (ख)	परिशिष्ट-6(ख)
वहीं	14	पनाली बताकर	पनाली कहकर
179	21	देव्यापराधक्षमापन	देव्यपराधक्षमापन
181	15-16	चालुक्यवंशी .. था। ...	इस वाक्य का लोप कर पढ़ें
वहीं	27	कम्बोड़िया	कम्बोडिया
182	1	राजकुमार	राजगोपाल
वहीं	8	कम्बोड़िया में राज्य,	कम्बोडिया में राज्य
वहीं	14	राज	राजा
183	9	इस	उस
वहीं	22	सत्यलोकोर्ध्व	सप्तलोकोर्ध्व
184	11	कलि संवत्	(गत)कलि संवत्
वहीं	22	अपने	अपनी
वहीं	27	गया न	गया है न
185	5	पाठिका के	पाठिका की
189	6	हमारी	अपनी
190	19	तीसरी सन्	ईसवी सन्
194	2	बालाजी--	बालाजी को
195	8	बांट	बाँट

196	5	मेरा	मुझे
वहीं	9	तुङ्गभद्रा	तुङ्गा
197	16	ग्रन्थ	ग्रन्थ को
198	15	लिखा	लिखा''
वहीं	17	से जाना	से भी जाना
200	5, 6	वि0सं0	शा0 सं0
वहीं	14	मीमांशा मीमांसकानामपि	मीमांसकानमपि
वहीं	15	विनिःसरेते	विनिःसरेत्ते
वहीं	19	उपयुक्त	उक्त
201	8	आचार्य ने लोकोद्धारार्थ	आचार्य लोकोद्धारार्थ
वहीं	13	उन्होने	उन्होंने
204	5	आंग्ल	आङ्ल
205	15	मजूमदार	मजुमदार
वहीं	18	वृतान्त	वृत्तान्त
वहीं	26	आदि	इत्यादि
208	17	सन्यास	संन्यास
212	26	महाराज को	महाराज का
213	2	मेडुमण्डलम्	येडुमण्डलम्
वहीं	17	नामक	नायक
214	13	सुरेश्वरास्	सुरेश्वराज्
वहीं	वहीं	नाम	नामक
215	17	1896	1896-97
219	6, 10	हरिद्वार	हरद्वार
220	11	भगवतानन्द	भागवतानन्द
221	14	धनपतिसूरि अपनी	धनपतिसूरि ने अपनी
वहीं	22	इनका	उनका
222	22	ब्रह्मचेतसाम्	बाह्यचेतसाम्
			(पाठान्तर पढ़ें)
224	11	हरिद्वार	हरद्वार
226	10	लिया	लिये

227	19	हैं	है
228	9	गुरू	गुरु
वहीं	17	अपने	अपनी
वहीं	21	मैंने	इस शब्द का लोप कर पढ़ें
231	14	झूठें	झूठे
वहीं	15	अपने	अपनी
232	10	चांदी	चाँदी
वहीं	20	है	हैं
233	7	के	की
वहीं	18	यह	ये
वहीं	27	फुकनि	फुर्कान
234	19	न्याय	न्याय -
वहीं	27	मुक्त	युक्त
235	2	कार्यों स्वीकार	कार्यों को स्वीकार
वहीं	वहीं	केश	केस
वहीं	12	जिम्मेवारी कर्तव्य	जिम्मेवारी व कर्त्तव्य
वहीं	16	बोले	बोलें
वहीं	22	के	की
237	1	ईशवीं	ईसवी
वहीं	18	ईसवी सन् 475	ईसवी सन् पूर्व 475
वहीं	24	अहरौला	अहरौरा
238	5	आन्ध्रप्रदेश अन्तर्गत	आन्ध्रप्रदेश के अन्तर्गत
239	4	महास्तु	महास्तूप
वहीं	9	521 शक	521-शक
वहीं	18	वें	वीं
240	2	सन् डेनियल	सन् में डेनियल
वहीं	15	सन् 22	सन् 22 दिया गया है।
241	14	पुरावृत्ति	पुनरावृत्ति
वहीं	16	में,	में भी की गई है
वहीं	17	भी की गई है	इन पदो का लोप कर पढ़ें

वहीं .... अंतिम पंक्ति .... में एक........................ में प्रचलित एक

242 .... 20 .... सुध .... सुघ

243 .... 10 .... ई.सन् की ....ई.सन् पूर्व की

244 .... 13 ....नामक .... नायक

वहीं .... 18 .... देन....................................... देने

245 .... 6 .... मया मोह .... माया मोह

वहीं .... 21, 28................. पूर्णागमन .... कोणागमन

वहीं .... 25 ....यात्र के वृतान्त ....यात्रा के वृत्तान्त

247 .... 23 .... सुनःसेपोपाख्यान .... शुनःशेपोपाख्यान

वहीं .... 25 .... द्वयामूष्यायन ....द्वयामूष्यायण

वहीं .... 26 ....आभूत .... आबू

248 .... 1 .... द्वयामूष्यायन यदुवंशियों के..... द्वयामूष्यायण यदुवंशियों की

....उसी शाखा अपत्य है ...... उसी शाखा के अपत्य हैं

वहीं .... 7 .... प्रपौत्र .... पौत्र

वहीं .... 12 ....के .... में

वहीं .... 17 ....अग्निकुल भी .... अग्निकुल का भी

वहीं .... 20 ....चह परिकल्पने ....चह परिकल्कने

249 .... 1 .... पाणिनी .... पाणिनि

वहीं .... 12 .... ने वृक्ष.......................... ने उनका वृक्ष

वहीं .... 14,21 .... पुराणन्यायमिमांसादि .... पुराणन्यायमीमांसादि

वहीं .... 21 ....है । .... हैं

वहीं .... 22 .... महत्वाकाक्षां........................ महत्वाकांक्षा

वहीं .... 27 ....प्राचीन इनकी .... प्राचीन गुफाओं में इनकी

250 .... 5 .... है .... हैं

वहीं .... 6 .... जी कथित......................... जी के कथित

वहीं .... 10 ....साकृत्यायन .... सांकृत्यायन

वहीं .... 19 ....पोता ....पोथा

वहीं .... 20 .... पूरे काल के विवरण....... पुराकाल के विवरण दिये

.... दिये गये उस.......................... गये थे उस

वहीं .... 25 ....का पोता' ही हो? .... के पोथे' ही हों?

वहीं .... वहीं .... विन्ध्यवास के........................ विन्ध्यवास ने
वहीं .... अन्तिम पंक्ति................. है .... हैं
251 .... 1 .... पुर्ति .... पूर्ति
वहीं .... 3 .... थी का पुनः .... थीं पुनः
वहीं .... 21 .... 1909 909
252 .... 5 .... 'चतुषष्टिकला' के .... 23. 'चतुषष्टिकला' के
.... (यहाँ से नया परिच्छेद संख्या 23 प्रारम्भ
.... होता है जो कि क्रमांक 22 के परिच्छेद
.... के अन्तर्गत मुद्रित हो गया है जिसे पृथक्
.... परिच्छेद 23 के रूप में पढ़ें)
वहीं .... 11-12 .... समूह प्रस्तुत ..... समूह तथा गुप्तावतार बाबा श्री
.... की सार्थ सौन्दर्य लहरी से 64
.... कलाओं का पाँचवा समूह प्रस्तुत
253 .... 10 .... काव्यम .... काव्यम्
वहीं .... 25 .... तथा .... तक
254 .... 2 .... स्थापना .... स्थान पर
वहीं .... 4 .... 200+125=अब से .... 2200+125=अब से
.... 2300 2325
वहीं .... 17 .... दिनमणाबुद्धगध्वभाजि .... दिनमणावुदगध्वभाजि
वहीं .... 18 .... याहूतवान .... याहूतवान्
वहीं .... 20 .... संस्कृति .... संस्कृत
255 .... 1 .... तुल्य कलि .... तुल्य मत कलि
वहीं .... 4 .... डायनोस्टिक .... डायनेस्टिक
वहीं .... 9 से 24 .... परावर्तित करने--खण्डित ... (सम्पूर्ण पंक्तियों का लोप करें
.... हो जाता है .... 'निष्कर्ष' की ये पंक्तियाँ
.... असावधानी वश यहाँ
.... भी मुद्रित हो गई हैं)
256 .... 10 .... छटी .... छठी
वहीं .... 13 .... सरकार .... मर्कार
वहीं .... 22 .... सम्वत् 3663 .... सम्वत् 2663

259	18	मठाम्नाय महानुशासनम्	महानुशासनम् 17
260	2	दर्श	दर्शन
वहीं	8	अनुवाद	अनुवादक
261	10	42	19
वहीं	23	7/4	7/43
वहीं	24	याज्ञवल्क्य	याज्ञवल्क्य स्मृति
263	14	महानुशासन	महानुशासनम्
264	8व13	खण्ड का लोप	खण्ड 2 योजक के रूप में पढ़ें
वहीं	9	पृ.526-532	पृ.434 खण्ड 2
वहीं	24	आङ्भाषान्तर	आङ्ल भाषान्तर
265	3	7/21	6/21
वहीं	17	1727 व पाणिनियो	1626 व पाणिनीयो
वहीं	19	डायनस्ट्रिज	डायनेस्टिज
266	2	चरित्त कोष --चित्ताव	चरित्र कोश--चित्राव
वहीं	5	डायग्नोस्टिक--मार्डर्न	डायनेस्टिक--माडर्न
वहीं	11	डायनेस्टीज	डायनेस्टिज
वहीं	16	सेवयर	सेवियर
267	15	न्यायधीश	न्यायाधीश
268	7	विर्मश	विमर्श
वहीं	18	वोधाश्रम	शिवबोधाश्रम
वहीं	25	शङ्कर	शाङ्कर
269	9	42व इसपर शाङ्करभाष्य/19	19 व इसपर शाङ्करभाष्य
वहीं	11	42 व इसपर शाङ्करभाष्य/80	80 व इसपर शाङ्करभाष्य
वहीं	13	42 व इसपर शाङ्करभाष्य/100	100 व इसपर शाङ्करभाष्य
वहीं	15	42 व इसपर शाङ्करभाष्य/99	99 व इसपर शाङ्करभाष्य
270	20	पृ. 171 72	पृ. 171-72
272	9	5/7	517
274	3	5/528; 5/6/9/11	5/5/28; 5/6/9-11
वहीं	5	पृष्ठ 139	पृष्ठ 139-41 पर उद्धृत
वहीं	15	इनसिएण्ट	एनसिएण्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
275	21	में	का
276	20	फिरोजट	फिलियोजट
285	8	शङ्कर उभय भारती	शङ्कर ने उभयभारती
289	22	तमिलनाडू	तमिलनाडु
290	1	अण्डियन	इण्डियन
वहीं	4	संम्प्राप्त	संप्राप्त
291	10	एन्सक्रिप्शन्स	इन्सक्रिप्शन्स
वहीं	12	वाङ्मयकोष	संस्कृत वाङ्मय कोश
वहीं	14	जोकि इनके	यह इनके
292	6	था व्यापक	था उनके विरुद्ध व्यापक
वहीं	17	एपिग्राफी	एपिग्राफिया
293	अंतिम पंक्ति	171	271
294	14	अनुलपलब्धि	अनुपलब्धि
295	3	लौकिक उत्कर्ष	लौकिक पारलौकिक उत्कर्ष
वहीं	4	कलाशक्ति	फलाशक्ति
वहीं	9	कैवल्योपमुक्त	कैवल्योपयुक्त
वहीं	12	अभ्यस्त	अध्यस्त
296	टिप्पणी की पंक्ति8	को पुस्तक	को इस पुस्तक
304	2	एकादमी	अकादमी
306	टिप्पणी की पंक्ति5	परिवद्धित	परिवर्द्धित
311	14	रुप	रूप
312	क्रमांक5की पंक्ति2	यहां	यहाँ
पश्चआवरणपृष्ठ	अंतिम पंक्ति	पर	का

टिप्पणी : अति शीघ्रता से प्रकाशित करने के उद्योग में प्रूफ पाठक की मानवीय त्रुटियों के कारण कुछ मुद्रण अशुद्धियाँ यत्र तत्र इस पुस्तक में रह गई हैं । पाठकों की सुविधा हेतु प्रथम दृष्ट्या जितनी त्रुटियाँ परिलक्षित हुई उनका निवारण इस शुद्धिपत्र के माध्यम से कर दिया गया है । सम्भव है कुछ और मुद्रण अशुद्धियाँ परिमार्जन की अपेक्षा रखती हुई छूट गई हों जिन्हें लेखक महाभाग तथा विद्वत् पाठकों के निर्देशानुसार आगामी संस्करण में परिशोधित कर दिया जायेगा ।

1. 64 कलाओं का नामोल्लेख सहित विवेचन ।
2. चौहानों की उत्पत्ति और उनके मूलवंश का सर्वप्रथम प्रामाणिक विवरण ।
3. सम्पूर्ण उत्तर एवम् दक्षिण भारत का ई. पू. छठी सदी से ई. सन् की दसवीं सदी का इतिहास।
4. सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों से सम्बन्धित प्रामाणिक विवरण ।
5. अनेक बुद्धों के बारे में प्रामाणिक विवरण ।
6. प्राचीन पाटलिपुत्र नगर की स्थापना से सम्बन्धित विवरण ।
7. विष्णु अवतार बुद्ध व गौतम बुद्ध में भेद तथा बौद्धधर्म के मूल प्रवर्तक के सम्बन्ध में विवेचन।
8. प्राचीन कार्षापण मुद्रा पर विस्तृत विवरण ।
9. सिक्खों के दसों गुरु साहिबानों के मूल क्षत्रियवंश का विवरण ।
10. प्राचीन कोङ्ग (गंग) वंश का इतिहास ।
11. चार आम्नाय मठों तथा कुछ अखाड़ों का स्थापनाकाल ।
12. आचार्य शङ्कर का काल निर्धारण ।
13. कश्मीर एवम् नेपाल के राजाओं का संक्षिप्त विवरण ।
14. 521 ई. पूर्व से प्रारम्भ संवत् के बारे में प्रामाणिक विवरण ।
15. अनेक शास्त्रीय एवम् पौराणिक विवेचन ।

1. **अमिट कालरेखा** (अर्वाचीन मत खण्डन)
2. **अमिट कालरेखा** (वितण्डावादी मत खण्डन)
3. **अमिट कालरेखा** (प्राचीन मत मण्डन) (प्रकाश्य)
4. **मठाम्नाय-महानुशासनम्** का आङ्ल अनुवाद व उस पर शारदाभाष्य आङ्लभाषा में।
5. **वर्ण व्यवस्था का यथार्थ स्वरूप** (प्रकाश्य)
6. **आजाद हिन्द फौज का इतिहास** - आधिकारिक जापानी इतिहास के एक खण्ड के सम्बन्धित अंशों पर हिन्दी भाषान्तर (प्रकाश्य)